जैमिनिसूत्रवृत्तिः सुबोधिनीनामिका

भाषानुवादसहिता

तृतीयोऽध्यायः

अनुवादकः

ब्रह्मनिष्ठब्रह्मचारी सर्वेश्वरानन्दः

संशोधकः

सप्ततीर्थ-वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, धर्मशास्त्र, उपनिषद्, काव्य, पुराण, इति

वेदान्त शास्त्री पं० रेवाराम शर्म्मा

प्रकाशकः

सेठ रमणलाल डाह्याभाई चौकसी.

आनंद हाउस, कालबादेवी रोड, बम्बई.

आषाढ शुक्ल १५ वि. सं. २००४

व्यास-पूर्णिमा

प्रथमावृत्ति——————१०००

पुस्तक मिलने का पता—
ब्रह्मचारी सर्वेश्वरानंदजी
अखंडधाम, पीलियाखाल,
इन्दौर सिटी.

मुद्रक:—
एम. वी. वर्मा. व वी. आर बांकडिया.
नवज्योति प्रि व; यशवंत रोड,
इन्दोर सिटी.

तृतीय अध्यायका अधिकरण सूची



अधिकरणम्—	प्रथमपादः	पृष्ठ संख्या

द्वितीयपादः

तृतीयपादः

पञ्चमपादः

षष्ठःपादः

सप्तमपादः

अष्टमपादः



पुस्तक मिलने का पता:—

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्दजी,

अखंडधाम पीलियाखाल

इन्दौर सिटी.

निवेदन

माननीय विद्वद्वृन्द !

महर्षि जैमिनि प्रणीत पूर्व मीमांसा शास्त्र-जो सकल शास्त्रीय न्यायों का जन्मदाता सनातन संस्कृति के जीवनाधार वेदों के मार्मिक तत्वों का विकाश करने के लिये संपूर्ण शंकाओं को शास्त्रीय सिद्धांत द्वारा निरास करने के लिये एवं नास्तिकों के भ्रममूलक मतमतांतरों को समूल नष्ट करने के लिये लोक में अंधकार नाशक जाज्वल्य सूर्यवत् प्रकट हुआ। जिसके बल से अनेक कोटि बौद्ध चार्वाकादि नास्तिक मतावलम्बी परास्त कियेगए थे उसी शास्त्र का कालगति से अभाव सा हो रहा था उसको मिटाने के लिए एवं तत्वमर्मज्ञ प्रेमी छात्रोंको मीमांसा शास्त्रमें निपुण करनेके लिए श्रीस्वामी ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मचारी सर्वेश्वरानन्दजी महाराज ने जैमिनि सूत्र सुबोधिनीवृत्ति पर सरल हिन्दी भाषानुवाद करके हमको अनुगृहीत किया उसके लिए हम पूर्ण आभारी हैं। इस तृतीय अध्याय में सप्ततीर्थ श्री पं. रेवारामजी शास्त्री ने सर्वांग सहायता दी है इसके लिए हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं।

इस समग्र तृतीय अध्याय के छापने के लिये धर्मनिष्ठ श्रीमान् सेठ रमणलाल डाह्याभाई चौकसी आनंद हाउस कालबादेवी रोड बंबई नं. २ ने आर्थिक सहायता दी है इस अध्याय के छापने में १५००) रु. खर्च हुआ।

विनीत-रामचन्द्र सांखला।

॥ श्री गणेशाय नमः ॥



जैमिनिसूत्रवृत्तिः सुबोधिनीनामिका

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

श्रीशितिकण्ठ भट्टकृता

शेषलक्षण प्रतिज्ञा । अधि० । १

अथातः शेष लक्षणम् ॥ १ ॥

शब्दान्तरादिषट्प्रमाणैः कर्मभेदं सापवादं द्वितीये-निरूप्य तदुपजीवकं शेषशेषित्वनिरूपणं प्रतिजानीते । अथेति । अथ भेद निरूपणान्तरम् । अतः भेदाधीनत्वाच्छे-

---

॥ ॐ धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

सुबोधिनीनामिका जैमिनिसूत्रवृत्त्यनुवादः ।

शब्दान्तर, अभ्यास, सङ्ख्या, संज्ञा, गुण, नामधेय तथा प्रकरणान्तरादिषट् प्रमाणों से अपवाद सहित कर्म भेद को

पशेषि भावस्य । शेषस्य वक्ष्यमाणलक्षणस्य लक्षणमध्यायः प्रारभ्यत इति शेषः । प्रतिज्ञा वाक्यरूपत्वान्नविषया-द्यपेक्षा ॥ १ ॥

शेषलक्षणम् । अधि० २ ।

शेषः परार्थत्वात् ॥ २ ॥

तत्र कः शेषः केन हेतुना शेष इति प्रश्नेऽर्थश्रुतिभ्या-मुभयोरुत्तरमाह । शेष इति । परार्थत्वात् व्रीह्यादीनां

द्वितीय में निरूपण करके उसके कार्य शेष शेषित्व के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं । अथेति । (अथ) भेदनिरूपण के अनन्तर (अतः) शेषशेषिभाव को भेद के आधीन होने से, (शेषलक्षणं) वक्ष्यमाणलक्षण वाले शेषका (लक्षणं) अध्याय प्रारम्भ किया जाता है यह शेष हैं । इस सूत्र को प्रतिज्ञा वाक्यरूप होने से विषय आदि की अपेक्षा नहीं है १ ॥ ॥

शेष का लक्षण क्या है तथा किस हेतु सेशेष होता है इस प्रश्न के होने पर अर्थ तथा श्रुति द्वारा दोनों प्रश्नों के उत्तर को इस सूत्र में कहते हैं । शेष इति । (परार्थत्वात्) जिस लिये व्रीही आदि अपने से भिन्न याग के लिये हैं इसलिये व्रीही आदि याग के प्रति शेषभूत हैं, जो जिसके उपकारार्थ प्रवृत्ति का विषय किया जाता है वह उसका अंग होता है यह व्याप्ति है । सूत्र में " परार्थत्वात् " इस पञ्चमीश्रुति से शेष के होने में निमित्त कारण परार्थ है यह स्पष्ट है, जो दूसरे के उपकार में प्रवृत्त है वह शेष है यह स्वरूप का कथन आर्थिक है ।

स्वभिन्नयागार्थत्वाद् ब्रीह्यादयः यागं प्रति शेषभूताः यो यदर्थं प्रवृत्तिविषयी क्रियते स तदङ्गमिति व्याप्तिः। सूत्रे-परार्थत्वादिति पञ्चमीश्रुत्या हेतुत्वं स्पष्टम् । यः परार्थः स शेष इति स्वरूप कथनमार्थिकम् ॥२॥

शेषत्वलक्ष्यम् । अधि० ३ ।

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥ ३ ॥

निरुक्ताङ्गत्वं द्रव्यगुण संस्कारेष्वेवोत यागफलयोरपीति संशये पूर्व पक्षमाह। द्रव्येति। द्रव्यं ब्रीह्यादि गुणः अरुणादिः

इसका भाव यह है कि शेषत्व किसी का स्वाभाविक धर्म नहीं किन्तु नैमित्तिक है और नैमित्तिक होने से परार्थत्वरूपनिमित्त के विना शेषत्व अनुपपन्न है इसलिये जिस पदार्थ में शेषत्व रहता है उसमें परार्थत्व अवश्य रहता है ॥ २ ॥

पूर्वोक्त अंगत्व द्रव्य, गुण, तथा संस्कार इन तीनों में ही है किंवा याग तथा फल में भी है इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। द्रव्येति। याग, दान, होम, आदि कर्मों की सिद्धि में साधन सामग्री ब्रीहि आदि का नाम "द्रव्य" उसके 'शौकल्य' अरुण आदि धर्मों का नाम गुण और जिसके होने पर पदार्थ किसी अर्थ की सिद्धि के योग्य होजाता है ऐसे उक्त सामग्री के प्रोक्षण आदि धर्मों का नाम संस्कार है, इन तीनों में ही परार्थत्व है अन्य में नहीं ऐसा व्यास के पिता

संस्कारः प्रोक्षणादि एवैव पारार्थ्यमिति बादरिराचार्यो मनुते। एवकारेणप्रधान याग फलव्यवच्छेदः। ननुफलार्थत्वाद्यागस्य कथंनाङ्गत्वमितिचेदुच्यते। यथा फलार्थत्वं यागस्य नास्ति तथाषष्ठाध्यायाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रे वक्ष्यते। तथा फलस्य पुरुषं प्रति शेषत्वं नास्ति तदपि तत्रैव स्पष्टम्॥ ३॥

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्॥ ४॥

सिद्धान्तमाह। कर्माण्यपीति। पारार्थ्यमिति योज्यम्। फलरूपपारार्थ्यलक्षणस्य तत्रसत्वात्। यथालक्षणसत्वोपपत्तिस्तथाषष्ठे व्यक्तीभविष्यति। अपिना द्रव्यगुणसंस्कारपरिग्रहः।

बादरि आचार्य का मत है ननु फलार्थत्व होने से याग को फल के प्रति अंग ता क्यों नहीं ऐसा यदि कहो तो उसका उत्तर कहते हैं। जैसे याग का फलार्थत्व नहीं है वैसा षष्ठाध्याधिकरण के पूर्व पक्ष सूत्र में कहा जायगा। इसीप्रकार फल को पुरुष के प्रति शेषत्व नहीं है यह भी वहीं कहा जायगा॥ ३॥

अब सिद्धांत को कहते हैं। कर्माण्यपीति (कर्माण्यपि) कर्म भी पारार्थ्य के लक्ष्य हैं ऐसी योजना करनी चाहिये। फलरूप पारार्थ्य लक्षण का कर्म में होने से। जैसे लक्षण के सत्व की उपपत्ति होती है वैसाषष्ठ में स्पष्ट होगा। अपिपद से द्रव्य, गुण तथा संस्कार का भी ग्रहण है। तथाच जैसे द्रव्य गुण तथा संस्कारों को कर्म के सिद्धि में हेतु

तथाच यथा द्रव्यगुणसंस्काराणांकर्मसिद्धौहेतुत्वात् कर्म प्रति शेषाः तथा कर्मणामपि फलसिद्धौहेतुत्वात् फलं प्रति शेषाणि, इति जैमिनिमतम् ॥ ४ ॥

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥ ५ ॥

पुरुषरूपो यः परः तदर्थत्वरूपलक्षणं फलेऽप्यस्त्यतः फलं पुरुषस्याङ्गमित्याह । फलमिति । फलं च द्रव्यगुण संस्कारकर्मणामिवफलमपिशेषम्, पुरुषार्थत्वात् ॥ ५ ॥

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥ ६ ॥

पुरुषश्चकर्मशेषभूतः । कुतः । कर्मार्थत्वात् । कर्मनिर्वर्तकत्वात् । अयंभावः । यथा द्रव्यादि विना न कर्म सिद्धिः, तथा यजमानं विनापि न सम्भवतीतिजैमिनिर्मन्यते ॥ ६ ॥

होने से कर्म के प्रति शेष हैं, वैसा ही कर्मों को भी फल के सिद्धि में हेतु होने से फल के प्रति शेष हैं, यह जैमिनि का मत है ॥ ४ ॥

पुरुष रूप जो परः तदर्थत्वरूप लक्षण फल में भी है अतः फल पुरुष का अंग है ऐसा कहते हैं। फल मिति। (च) और (फलं) द्रव्य, गुण, संस्कार और कर्म की भांति फल भी शेष है. क्योंकि (पुरुषार्थत्वात्) वह पुरुषार्थ हैं ॥ ५ ॥

(च) और (पुरुषः) पुरुष भी कर्म का शेष भूत है. क्योंकि (कर्मार्थत्वात्) कर्म का निष्पादक होने से। यह भाव है कि जैसे द्रव्यादि के विना कर्म की सिद्धि नहीं होती वैसाही यजमान के बिना भी नहीं हो सक्ती यह जैमिनिआचार्य्य का मत है ॥६॥

अवहननादीनां व्यवस्थितार्थविषयत्वम् । अधि० ४ ।

तेषामर्थेन संबन्धः ॥ ७ ॥

दर्शपूर्णमासे पुरोडाशधर्माः अवहननादयः आज्यधर्मा उत्पवनादयः सान्नाय्यधर्माः वत्सापाकरणादयः दृश्यन्ते । ते सर्वार्था उतावहननादयः पुरोडाशार्था उत्पवनादय आज्यस्यैव वत्सापाकरणादयः सान्नाय्यस्यैव धर्मा इति संशये सिद्धान्तेनारभते । तेषामिति । तेषाम वहननादीनामर्थेन दृष्टे न फलेन वितुषीभावादिना व्यवस्थयासंबन्धः शेषशेषिभावः । दृष्टे फलेसंभवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भावः ॥७॥

विहितस्तुसर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाऽविशेषाद्वा ॥ ८ ॥

दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में पुरोडाशके धर्म अवहनन, प्रोक्षणादि, आज्य के धर्म उत्पवनादि सान्नाय्यके धर्म वत्सा-पाकरणादि पाये जाते हैं । वे सब धर्म सब के हैं किंवा अवहननादि धर्म पुरोडाशके हैं, उत्पवनादिधर्म आज्यके ही हैं, वत्स का अपाकरणादि धर्म सान्नाय्य के ही हैं इस संशय के होनेपर सिद्धान्त से आरम्भ करते हैं। तेषामिति। (तेषां) अवहननादि धर्मों का (अर्थेन) वितुषीभावादि दृष्टफलके अनुसार (संबन्धः) व्रीहि आदि के साथ शेषशेषिभावसम्बन्ध है। क्योंकिदृष्टफल के संभव होनेपर अदृष्ट फलकी कल्पना करना अन्याय होता है यह भाव है ॥ ७ ॥

अब पूर्वपक्षी शंका करता है विहित इति।(विहितः)शास्त्र से विहित अवहननादि (सर्व धर्मः) सबके शेष=अंग (स्यात्)

पूर्वपक्ष्युत्तिष्ठते। विहित इति। विहितः शास्त्रेण विहितः सर्वे धर्मः सर्वशेषः स्यात्। संयोगतः अविशेषात् साक्षात्परम्परया वा सर्वेषां परमापूर्व संबन्धा विशेषात्। प्रकरणस्य दर्श पूर्णमासप्रकरणपाठस्य अविशेषात्तुल्यत्वाच्च। अयं भावः व्रीहीनवहन्ति आज्यमुत्पुनातीत्यादौ व्रीह्यादिशब्दा न स्वार्थपराः किंतु प्रकृतापूर्वसाधन द्रव्यपरा इति वक्ष्यति। तथा चोद्देश्यतावच्छेदकस्य सर्वद्रव्यवृत्तित्वाविशेषादव्यवस्थिता एव प्रवर्तन्ते इति ॥ ८ ॥

हैं, क्योंकि (संयोगतः, अविशेषात्) उन सबोंका साक्षात् अथवा परम्परासे परमापूर्वके साथ संबन्ध समान है। (च) और (प्रकरणस्य) दर्शपूर्णमासके प्रकरण में अवहननादि के पाठको (अविशेषात्) एक होनेसे=तुल्य होनेसे व्रीहि आदि द्रव्यसे अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य की कल्पनाभी नही हो सक्ती. इसलिये प्रकृत परमापूर्व के जितने व्रीहि आदि साधन द्रव्य हैं उन सब के अवहननादि धर्म हैं प्रति द्रव्य व्यवस्थित नहीं। यह भाव है कि "व्रीहीनवहन्ति" आज्यमुत्पुनातीत्यादिवाक्यों में व्रीह्यादि शब्द स्वार्थ प्रतिपादक नहीं किंतु प्रकृत अपूर्व साधन द्रव्य का प्रतिपादक हैं ऐसानवम अध्याय के आदि अधिकरणमें कहा जायगा। तथाच उद्देश्यतावछेदक प्रकृतापूर्व साधन द्रव्यत्व है उसको सब द्रव्यमें वृत्तितासमान होनेसे अवघातादि अव्यवस्थित ही प्रवृत्त होसक्ते हैं प्रति द्रव्यव्यवस्थित नहीं ॥ ८ ॥

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥ ९ ॥

सिद्धान्तयुक्तिमाह । अर्थेति । अर्थस्य अवघातादि कार्यस्य वैतुष्यादिलक्षणस्य दृष्टोपकारस्य लोपाद् लोपाप त्याअकर्म अवहननस्याज्यादिष्वननुष्ठानम् । उत्पवनस्य व्रीह्यादिषुच ॥ ९ ॥

फलं तु सह चेष्टयाशब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

ननु विधिबलाद् दृष्टोपकारलोपोऽदृष्टंप्रयोजनञ्च भवत्व त आह । फलमिति । फलं दृष्टं वितुषीभावादि चेष्टया अवहन-नादिक्रियया दृश्यते । तत्रैवावघातादि शास्त्रं प्रवर्तत इति पूरणीयम् । विप्रयोगे दृष्टफलस्य वितुषीभावादेरसति अभा-वाद् दृष्टोपकारकत्वाभावादाज्यादिष्वप्यवघातरूपः शब्दार्थः

अब सिद्धान्तयुक्तिको कहते हैं । अर्थेति । (अर्थस्य) अवघातादि कार्य वैतुष्यादिरूप दृष्टोपकारका (लोपाद्) लोपकी प्राप्ति होनेसे (अकर्म) अवहननका आज्य आदि ओं में अनुष्ठान नहीं होसक्ता और उत्पवनका व्रीह्यादिओं में अनुष्ठान नही होसक्ता ॥ ९ ॥

ननु, विधिकेवशसे दृष्टफलका अदर्शन और अदृष्ट फल हो इसपर कहते हैं । फलमिति । (फलं) वितुषीभावादि दृष्टफल (चेष्टया) अवहननादि क्रियाके (सह) साथ देखाजाता है । तत्रैव=वितुषी भावादि दृष्टफलमेंही अवघातादि शास्त्र प्रवर्त होते हैं इसका पूर्ण करना चाहिये (विप्रयोगे) वितुषीभावादि

नस्यात् । दृष्टालाभात् । अयं भावः तण्डुल पदस्य न परमा पूर्वसाधने लक्षणा किंतु आग्नेयोत्पत्त्यपूर्वसाधने सन्निकृष्टत्वात् । स च शब्दार्थः व्रीहिरेवनाज्यादिः । अतो न शास्त्रबलेन दृष्टलोप इति ॥ १० ॥

स्फ्यादीनां व्यवस्थितत्वम् ॥ अधि० ५ ॥

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्यते ॥११॥

दर्शपूर्णमासेश्रुतं स्फ्यश्चकपालानि चाग्निहोत्रहवणीच शूर्पंच कृष्णाजिनंच शम्याचोलूखलंच मुसलंचदृषच्चोपलाचं

रूप दृष्ट फल के न होने पर (अभावत्) दृष्ट उपकार कत्व का अभाव होने से आज्यादिओं में भी अवधान रूप "अवहन्ति" शब्द का अर्थ नहीं हो सक्ता। तात्पर्य यह है कि "फलव्यापारयोर्धातुः=फल तथा व्यापार यह दोनों धातु का और आश्रयतिङ् प्रत्यय का अर्थ होता है। यदि विधि के बलसे "आज्य" आदि में अवहननादि क्रिया की जाय तो वह तुषविमोक आदि रूप दृष्ट फल का अलाभ होने से "अवहन्ति" आदि शब्द का अर्थ नहीं हो सक्ती। यह भाव है कि तण्डुल पद का परमापूर्व के साधन में लक्षणा नहीं किंतु आग्नेय याग के उत्पत्त्य पूर्व के साधन में लक्षणा है सन्निकृष्ट होने से और वह "व्रिहीन्" शब्द का अर्थ व्रीहि ही होगा आज्यादि नही इसलिये शास्त्र के बल से दृष्ट का लोप नहीं ॥ १० ॥

अब "स्फ्यादि यज्ञों के साधनों की व्यवस्था कथन करते पञ्चमाधिकरण से। स्फ्य" १ कपाल २ आग्निहोत्रहवनी ३

तानिवै दशयज्ञायुधानीति । एतानिदशयज्ञसाधनानीत्यर्थः। तथा "स्फ्येनोद्धन्ति" कपालेषुपुरोडाशं श्रपयति । अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति। शूर्पेण तण्डुलान् विविनक्ति। कृष्णाजिनमुलूखलस्याधस्तादुपस्तृणाति । शम्यायां दृषदमादधाति। उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति । दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि। इति च श्रुतम् । अत्र दशवाक्यगतस्फ्यादिद्रव्यवाचकपदानि सर्वाण्यपूर्वसाधनद्रव्यमात्रलक्षकाण्युत शक्यार्थमेव प्रवदन्तीति संशयेअत्र स्फ्यादिपदानां यज्ञसाधनपा-

---

शूर्प ४ कृष्णाजिन ५ शम्या, ६ उलूखल ७ मुसल ८ दृषद् ९ उपला, १०, यह दश याग के साधन दर्श पूर्णमास यागों के प्रकरण में पठित हैं। इसी प्रकार "खड्गाकार काष्ठ विशेष से वेदि खोदे। मिट्टी के ठीकरों में पुरोडाश को पकावे। अग्नि में हविडाल ने के साधन काष्ठा पात्र से अग्नि कुण्ड में हवि डाले। सूप से तण्डुल साफ करे। काले मृगचर्म को ऊखल के नीचे बिच्छावे। मुसलाकार काष्ठ विशेष को सिला का सहारा देने वाला टेका बनावें। उलूखल और मूसल से कूटे। सिला और लोहडे सें पीसे। यह भी पठित हैं। यहां दश वाक्यगत स्फ्यादि द्रव्यवाचक सब पद अपूर्व साधन द्रव्यमात्र के लक्षक =बोधक हैं किंवा शक्यार्थ को ही कहते हैं इस संशय के होने पर, यहां स्फ्यादि पदों की यज्ञ साधन पात्र मात्र में लक्षणा है और लक्षाणा में तात्पर्यग्राहक (एतानि वै दश यज्ञायुधानि) यह वाक्य है इसलिये "स्फ्यादि साधनों के मध्य जिस किसी साधन से भी याग सम्बन्धी उद्धननादि क्रिया करना चाहिये,

त्रमात्रे लक्षणायां तात्पर्यग्राहकस्य एतानि वै दश यज्ञायुधानीति वाक्यस्य सत्वाद् येन केनाप्युद्धननं कर्तव्यमिति प्राहिःपूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । द्रव्य मिति । द्रव्यं स्फ्यादिद्रव्यं यादृशकार्यार्थं चोद्यते तदर्थं तदङ्गत्वेनैव विधीयते न तु क्रियान्तराङ्गम् । उत्पत्तौ उत्पत्तिवाक्ये स्फ्येनोद्धन्तीत्यादौ उद्धननादिक्रियासंयोगात् । साध्यसाधनभावादिसंबन्धश्रवणात् । अयं भावः स्फ्येनोद्धन्तीत्यत्र मत्वर्थलक्षणया स्फ्यविशिष्टोद्धननेनापूर्वं भावयेदिति तदर्थः । अत्र

ऐसाकर ने से उक्त साधनों में समानरूप से श्रूयमान यज्ञायुधता का बाधनही होता है, ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं। द्रव्यमिति। (द्रव्य) स्फ्यादि द्रव्य जिस क्रिया के लिये (चोद्यते) विधान किया गया है (तदर्थ. एव) वह उसी क्रिया के अङ्ग रूप सें ही विधान है दूसरी क्रिया का अङ्ग नहीं हो सक्ता। क्योंकि (उत्पत्तिसंयोगात्) "स्फ्येनोद्धंति" इत्यादि उत्पत्ति वाक्य से उद्धननादि क्रिया के साथ सम्बन्ध है। साध्य साधन भावादि रूप संबन्ध का श्रवण है। यह भाव है कि "स्फ्येनोद्धंति" इत्यादि वाक्यगत स्फ्यादि पदों में मत्वर्थ लक्षणा करके स्फ्य विशिष्ट उद्धनन से अपूर्व को उत्पन्न करे यह उत्पत्ति वाक्य का अर्थ है। यहां साध्य साधन भाव रूप वैशिष्ट्य है। तथाच स्फ्य साध्य उद्धनन से अपूर्व को निष्पादन करे ऐसा फलित होने से तत्=स्फ्यसाध्य ही उद्धनन होता है। और यज्ञ साधन में स्फ्यपद की लक्षणा में तात्पर्य का ग्राहक "दशायुधानि" यह वाक्य नहीं

वैशिष्ट्यं साध्यसाधनभावरूपम् । तथा च स्फ्यसाध्योद्धननेनापूर्वं भावयेदिति फलितत्वात्तत्साध्यमेवोद्धननम् । न च स्फ्यपदस्य यज्ञसाधनलक्षणायां तात्पर्यग्राहकं यज्ञायुधानीति वाक्यम् । तस्य यज्ञायुधानि संभरन्तीतिविधिशेषत्वात् ॥ ११ ॥

आरुण्यादिगुणानामसङ्कीर्णत्वम् । अधि० ६ ॥

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥ १२ ॥

ज्योतिष्टोमे सोमक्रयसन्निधौ श्रूयते अरुणया पिङ्गाक्ष्यैक-

हो सक्ता । क्योंकि तस्य=यज्ञायुधानुवाद यज्ञायुधानि संभरन्ति इस वाक्य से आसादन का विधान है उसके लिये उपयुक्त है। यानि यज्ञपात्राणिपूर्वोक्तानि, तानि गार्हपत्यस्याऽऽहवनीयस्य वोत्तरतास्सादयेयु रित्यर्थः जो पूर्व उक्त यज्ञ पात्र हैं उनों को गार्हपत्य अथवा आहवनीय के उत्तर साधन करे । ११ ।

अब " आरुण्यादि " गुणों की व्यवस्था कथन करते हैं छठे अधिकरण से। ज्योतिष्टोमयागके अन्तरगत सोम क्रयके प्रकरणमें 'अरुणया'' तै० सं० ६।१।६।७। अरुणा अरुणगुण विशिपिङ्गे अक्षिणीयस्यांस्सा पिङ्गाक्षी एकं हायनं यस्यास्सा एकहायनी. एकवर्षवयस्केतियावत्। अत्राऽरुणादिशब्द त्रयं लक्षणया तद्विशिष्टं क्रयमभिदधाति । तस्यच भावनायां करण त्वेनाऽन्वयः । सोमस्य भाव्यत्वेनान्वेति । एवञ्च आरुण्यादि युक्त गोविशिष्टक्रयेण सोमंसम्पादयेदिति विषयवाक्यार्थः। लालरङ्ग तथा पीले नेत्रों वाली एकवर्ष की गौ से सोम मूल्यले,

हायन्या सोमं क्रीणातीति। अत्रैकहायनी पिङ्गाक्षीपदे द्रव्य-वाचके। वार्तिके बहुव्रीहावन्य पदार्थे शक्तिरिति व्यव-स्थापितत्वात्। तन्मूलयुक्तयः ततोऽवगन्तव्या विस्तर भयान्नलिख्यन्ते। अतः तयोः करणत्वेन क्रयेऽन्वये न किंचिद्बाधकम्। अतः तावपहायारुणास्थले विचारः। अत्रारुणयेति पदं क्रयेण संबध्यतउत वाक्याद्विच्छिद्य प्राकरणिकद्रव्यसामान्येन संबध्यतइतिसंशये अरुणा पदं रूपविशेषे गुणे शक्तं रूपविशेषे क्रयरूपक्रियाकरणत्वं

यह वाक्य पढा हैं। यहां एकहायनीपिङ्गाक्षीपद द्रव्यवाचक है। क्योंकि वार्त्तिकमें अन्यपदार्थ बहुव्रीहि समासमें इनपदों की शक्ति है ऐसी व्यवस्था कीगई है। उसका मूलयुक्ति वहींसे समझना चाहिये विस्तारके भयसे लिखा नहीं। इसलिये उन दोनों का करणत्व रूपसे क्रयमें अन्वय होनेमें कोई बाधक नही। अतः उनदोनोंको छोडकर अरुणास्थलपर विचार किया जाता है यहां अरुणा यह शब्द क्रयके साथ संबन्ध हैं किंवा वाक्यसे विच्छेदक रके प्राकरणिक वस्त्रादि द्रव्य सामान्य के साथ संबन्ध है इस संशयके होनेपर, अरुणापदरूपविशेष रूप गुणमें शक्त है और रूपविशेषमें क्रयरूप क्रिया की करणता बाधित है, इसलिये वाक्य से विच्छेद करके और ज्योतिष्टा-मा पूर्व साधन द्रव्यं भावयेत् " इसका अध्याहार करके "ज्यो-तिष्टाम जन्य अपूर्व का साधन द्रव्य को लाल रङ्ग से निष्पन्न करे ऐसा भिन्न ही यह शाब्दबोध होगा ऐसा बाहर

बाधितम् अतो वाक्याद्विच्छिद्य ज्योतिष्टोमापूर्व साधन द्रव्यं भावयेदित्यध्याहृत्याऽरुणया ज्योतिष्टोम जन्याऽपूर्वसाधन द्रव्यं भावयेदिति बोधान्तरमिदमिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। अर्थैकत्व इति। यस्मिन्वाक्ये द्रव्यगुणयोरेक क्रियान्वयित्वरूपार्थैकत्वं संभवति तस्मिन् सति नियमः परिच्छेद्य परिच्छेदकभावनियमः श्रूयमाणयोः तयोः स्यात् ऐककर्म्यादेकार्थप्रतिपादकत्वरूपैकवाक्यतासत्वात्। अयं भावः उदाहृतवाक्येन भावार्थाधिकरणन्यायेन क्रयो

से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। अर्थैकत्व इति। जिस वाक्य में (द्रव्य गुणयोः) द्रव्य और गुण का (अर्थैकत्वे) एक क्रिया में अन्वयित्वरूप एक वाक्यार्थत्व है उसके सम्भव होने पर (नियमः) परिच्छेद्य परिच्छेदकभावरूप संबन्ध का नियम श्रूयमाण द्रव्य और गुण में है। क्योंकि (ऐक-र्म्यात्) दोनों में एक क्रयरूप अर्थ का प्रतिपादकत्वरूप एक वाक्यता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि गुण अमूर्त्तपदार्थ है उसका साधन रूप से क्रिया में अन्वय नहीं हो सक्ता तथापि "अरुणा" शब्दोत्तरवर्त्ति तृतीयाविभक्ति से क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है, उसका बाध करना ठीक नहीं और न "अरुणा" शब्द का उक्त वाक्य से विच्छेद करके वाक्यान्तर पठित वस्त्रादि द्रव्यान्तर के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना उचित है, क्योंकि ऐसा करने से अत्यन्त गौरव तथा अत्यन्त असम्बद्ध अर्थ का मानना रूप दोष है, परन्तु

विधीयते । तस्मिन् क्रयरूपैककरणावरुद्धभावनायां करणान्तर संबन्धस्यानाकांक्षितत्वादगत्या धात्वर्थे सोमेन यजेतेतिवन्मत्वर्थलक्षणामङ्गीकृत्यान्वयः त्रयाणाम् । एवं त्रितयविशिष्टक्रये विहिते सति आक्षिप्तविशेषण विधयः त्रयः । अरुणया क्रयं भावयेत् एकहायन्या क्रयं भावयेत् । पिङ्गाक्ष्या क्रयं भावयेदिति । तत्रैकहायन पिंगनेत्रयोः परस्परसामानाधिकरण्यमंगीकृत्यैक द्रव्यपरिच्छेदकत्वं तथाऽरुणारूपगुणस्यापि तत्रसमावेशे बाधकाभावात् त्रयाणामे

"आरुण्य" गुणका अरुणा शब्दोत्तर वर्त्ति तृतीयाविभक्ति से क्रिया के साथ सम्बन्ध प्रतीत होने पर भी अमूर्त्त होने के कारण साक्षात् साधन रूप से सम्बन्ध नहीं हो सक्ता । उसके लिये मध्य में द्रव्य रूप द्वारकी कल्पना करना आवश्यक है और सन्निहित तथा असन्निहित द्रव्य के मध्य सन्निहित द्रव्य ही आदरणीय होता है और वह प्रकृतमें "एकहायनी" शब्द का वाच्य गौ है उसके साथ उक्त गुण का परिच्छेद्य परिच्छेदक भाव सम्बन्ध होता है, क्योंकि यह नियम है कि जहां द्रव्य और गुण दोनों एक वाक्यार्थ में अन्वित होकर एक क्रिया सिद्धि रूप कार्य करते हैं वहां उनका परस्पर "परिच्छेद्य परिच्छेदक भाव" सम्बन्ध होता । और इस सम्बन्ध के द्वारा उक्त द्रव्य को परिच्छिन्न करते हुए उक्त गुण का उक्त क्रिया में साधन रूप से अन्वय हो सक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं । यह भाव है कि उदाहृत वाक्य भावार्थाधिकरणन्याय से क्रय का

कार्थत्वेनैकवाक्यत्वे संभवति सति दुर्बलेन प्रकरणेन अध्याहारेण च भिन्नवाक्यत्व कल्पनमनुचितम् । नचैकार्थेपु कल्पप्रसुक्तिः विरोधे सत्येव विकल्पात् । प्रकृतेऽविरोधेनान्वयस्य दर्शितत्वात् । न चाऽऽरुण्यस्यद्रव्येणान्वयः क्रियत- इति शङ्क्यम् ।

अमूर्तस्य साक्षात्क्रियाकरणत्वासंभवेन पदानामर्थं वदतां शक्तिः सहकारिणीति न्यायेन द्रव्यपरिच्छेदद्वारा

विधान करता है क्रय रूप एक करण से अवरुद्ध भावना में अन्य कारण के सम्बन्ध की आकाङ्क्षा न होने से अगत्या सोमेन यजेत इसके भांति मत्वर्थ लक्षणा को अङ्गीकार करके उस क्रयरूप धात्वर्थ में तीनों का अन्वय करना चाहिये। इस प्रकार तीन विशेषण विशिष्ट क्रय के विहित होने पर आक्षिप्त विशेषण विधि " अरुणया क्रयं भावयेत् " इत्यादि तीन होती हैं। तत्र=गोद्रव्य में एक हायन तथा पिङ्ग नेत्र इन दोनों का परस्पर के सामानाधिकरण्य को मानकर एक द्रव्य परिच्छेदकत्व है इसी प्रकार अरुणारुप गुण का भी तत्र=गोद्रव्य में समावेश होने में बाधक का अभाव है इस कारण तीनों का एकार्थत्व होने से एक वाक्यता का संभव होने पर दुर्बल प्रकरण से और अध्यहार द्वारा भिन्न वाक्यत्व की कल्पना करना उचित नहीं। और तीनों का एक अर्थ माननें में विकल्प की प्राप्ति होगी ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि विरोध के होने पर ही विकल्प होता है। प्रकृत में विरोध रहित अन्वय देखाया

क्रियान्वये बाधकाभावादिति। इतो ऽधिकविचारो भाष्यादावाकरे द्रष्टव्यः ॥ १२ ॥

उद्देश्यगतसंख्याविवक्षा अधि० ॥ ७ ॥

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥ १३ ॥

ज्योतिष्टोमेश्रुतं दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टीति। दशापवित्रं खण्डपटः। ग्रहाः दशैन्द्रवायवादयः। अत्र ग्रहपदोत्तरैकवचनार्थो विवक्षितो न वेति संशये पूर्वपक्षमाह। एकत्वेति।

गया है। आरुण्य का द्रव्य के साथ अन्वय किया जाय तो क्या हानि ऐसी शंका नहीं करना। क्योंकि अमूर्त गुण को साक्षात् क्रिया में करणता का असंभव होने से जैसे अर्थ को कहने वाले पदों की शक्ति सहकारी होती है इस न्याय से वैसे ही द्रव्य परिच्छेद द्वारा क्रिया के साथ अन्वय होने में बाधक का अभाव है। इससें अधिक विचार भाष्यादि आकर ग्रन्थमें देखना चाहिये ॥ १२ ॥

अब उद्देश्य गत संख्या की अविवक्षा कथन करने के लिये सप्तम अधिकरण की रचना करते हैं। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में "दशापवित्र"=वस्त्र के टुकडे से "ग्रह"=पात्र विशेष का सम्मार्जन करे। दशा पवित्र नाम पट के टुकडे का है। ज्योतिष्टोम में ऐन्द्रवायवादि दश ग्रह होते हैं। इस वाक्य घटक ग्रह पद है उसके उत्तर एक वचन का अर्थ (एकत्वरूप) विवक्षित है किंवा नहीं इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं

एकत्वयुक्तं ग्रहादिद्रव्यं संमार्गस्योद्देश्यं श्रुतिसंयोगाद् एकत्ववाचकपदघटितत्वादतः एकस्य एकत्वविशिष्टग्रहस्यैव संमार्गः न तु दशानामिति भावः ॥ १३ ॥

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥ १४ ॥

सिद्धान्तमाह । सर्वेषामिति । सर्वेषां संमार्गः कार्यः लक्षणत्वात् । ग्रहत्वजातिरूपं यद्ग्रहलक्षणं तस्य सर्वेषु सत्वात् । लक्षणं लक्षणा शक्यसंबन्धः । आकृत्यधिकरणन्यायेन ग्रह पदस्य ग्रहत्वमर्थः । तस्य संमार्गेणान्वयासंभवाल्लक्षणावृत्त्या

एकत्वेति । (एकत्वयुक्तम्) एकत्व संख्यायुक्त "ग्रह" आदि द्रव्य सम्मार्जन का उद्देश्य है (श्रुति संयोगात्) एकत्व वाचक पद "अम्" पद उसके साथ ग्रह पद का सम्बन्ध है इसलिये (एकस्य) एकत्व विशिष्ट ग्रह का ही सम्मार्जन कर्तव्य है दशग्रहों का नहीं यह भाव है ॥ १३ ॥

अथ सिद्धान्त को कहते हैं । सर्वेषा मिति । (सर्वेषां) सब ग्रहों का सम्मार्जन कर्तव्य है, क्योंकि (लक्षणत्वात्) ग्रहत्वजाति रूप जो ग्रह का लक्षण है वह सब ग्रहों में है । (लक्षणं) लक्षणा शक्यका सम्बन्ध रूप है । अर्थात् ग्रहत्व जाति प्रतियोगिक ग्रह अनुयोगिक सम्बन्ध सब ग्रहों में (अविशिष्टं) अविलक्षण=समान है । यह भाव है कि आकृत्यधिकरण न्याय से ग्रह पद का अर्थ ग्रहत्व है । उस ग्रहत्व का सम्मार्जन के साथ सम्बन्ध होना असंभव है इसलिये लक्षणावृत्ति द्वारा पदसे व्यक्ति बोधको अङ्गीकार करके उस व्यक्ति के साथ संमार्जन

व्यक्त्युपस्थितिमङ्गीकृत्य तेनैव साकं संमार्गस्यान्वयो वाच्यः । तत्र लक्षितदशग्रहाणां मध्ये अमुकमेव ग्राह्यमित्यत्र नियामकाभावात्सर्वेषां ग्रहणमिति ॥ १४ ॥

चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुतिप्रतीयेत ॥ १५ ॥

ननु पशुना यजेतेत्यत्रापि पुंस्त्वमेकत्वं चाविवक्षितं स्यादुक्तयुक्तेरत आह । चोदितइति। चोदिते विहिते उपादेये पश्वादौयथाश्रुति श्रुत्यनतिक्रमेण एकत्वादिविशिष्टः पशुःप्रतीयेत अंवयात् । परार्थत्वात् । यागार्थ त्वात् । अयंभावः आकृत्य-

---

का अन्वय करना होगा । तहां लक्षित दश ग्रहों के मध्य अमुक ग्रह ही ग्राह्य हैं इसमें कोई नियामक न होने से सब ग्रहों का ग्रहण हो सक्ता है ॥ १४ ॥

ननु, ' पशुना यजेत '' इस वाक्य घटक " पशुना " पद में भी पुंस्त्व तथा एकत्व अविवक्षित होना चाहिये पूर्वोक्त युक्ति से इसपर कहते हैं। चोदित इति । (चोदिते) याग को उद्देश करके विहित=उपादेय पशु में (यथाश्रुति) जिस संख्या का श्रवण है उसका उल्लंघन न करके उसीका अर्थात् एकत्व आदिसे युक्त पशु का (प्रतीयेत) ग्रहण होना चाहिये । क्योंकि (परार्थत्वात्) उक्त पशु याग के लिये होने से गौण है। यह भाव है कि आकृत्यधिकरणन्याय से ग्रह शब्द का अर्थ ग्रहत्व है और उस ग्रहत्व जाति का सम्मार्जन नहीं हो सक्ता इसलिये उसका आश्रय ग्रहका लक्षणावृत्ति से ग्रहण करना चाहिये। उस ग्रह को द्वितीया विभक्ति से प्रधानताप्रतीत होती है अतः प्रति प्रधान

धिकरणन्यायेन ग्रहपदस्य ग्रहत्वमर्थः तस्य संमार्गासंभवा-त्तयाश्रयो लक्ष्यते। तस्यद्वितीयाश्रुत्या प्राधान्यात् प्रतिप्रधान-मङ्गावृत्तिरिति न्यायेन दशस्वप्यङ्गावृत्तिः प्राप्ता। सर्वेषु ग्रहेषु समार्गप्राप्तौ संमार्गः कियत्सु कार्य इत्याकाङ्क्षैव नो-देति अतो ऽविवक्षा। एवमपि एकत्वविवक्षायां संमार्गेणान्वितेषु ग्रहेषु एकवचनेनेतरग्रहेषु नित्य प्राप्तसंमार्गस्य परिसंख्या कार्या। साविधिमन्तरा न संभवतीति विध्यावृत्तौ वाक्य-भेदः ग्रहं संमृज्यात् तं चैकमिति। पशोस्तु क्रियां प्रत्यङ्ग

अङ्ग की आवृत्ति होती है इस न्याय से दश ग्रहों में सम्मर्जन रूप अङ्गों की आवृत्ति भी प्राप्त होती है। और सब ग्रहों में सम्मार्जन प्राप्त है। इसलिये कितने ग्रहों में सम्मार्जन करना चाहिये. ऐसी आकांक्षा उत्पन्न ही नहीं होती है इस कारण उद्देश्य (ग्रह) गत एकत्वश्रूयमाण होने पर भी विवक्षित नहीं है। एवमपि=युक्ति से ग्रह गत एकत्व की अविवक्षासिद्ध होने पर भी ' अम् " इस एक वचन क बल से एकत्व की विव-क्षामानने पर सम्मार्जन के साथ अन्वित ग्रहों में एक वचन से एक ग्रहेतर नौ ग्रहों में नित्य प्राप्त सम्मार्जन की परिसंख्या= निवृत्ति करनी पडेगी। और वह विधि के विना सम्भव नहीं इसलिये विधि की आवृत्ति करने पर ग्रहका सम्मार्जन करे वह एक होना चाहिये ऐसा करनेसे भिन्न भिन्न विधेय होने से वाक्य भेद हो जायगा। पशु तो क्रिया के प्रति अङ्ग है इस-लियें प्रति अङ्ग क्रिया प्राप्ति का अभाव होने से कितने पशु-

त्वात्प्रत्यङ्गं क्रियाप्राप्त्यभावात्कियद्भिः पशुभिः कार्यमित्याका ङ्क्षोदयाच्छ्रूयमाणा संख्या विवक्षिता। तथाऽपि अनेकगुण विसिष्टैकक्रियाविधानान्नविध्यावृत्तिप्रयुक्तौ वाक्य भेदश्चेति ॥ १५ ॥

चमसादौ सम्मार्गाननुष्ठानम् ॥ अधि० ८ ॥

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् । १६ । पूर्वो- दाहृतवाक्यएव शक्त्या ग्रहत्वमर्थः उत सोमलिप्त पात्रमात्रं लक्षणयाऽर्थ इति संशये पूर्वपक्षमाह । संस्कारादिति । गुणा-

---

ओं से यह याग करना चाहिये इस बात की जब आकांक्षा होगी तो " पशुना " में एकवचन से भान होने वाली विधेय पशुगत एकत्व संख्या ही विवक्षित है। तथापि = एकत्व विवक्षित होने पर भी अनेक गुण विशिष्ट एक क्रियाका विधान होनेसे विधिकी आवृत्ति प्रयुक्त "पशुना यजेत" " तेन एकेन " ऐसा वाक्य भेद नहीं होता ॥ १५ ॥ सम्मार्जन का अनुष्ठान चमसादिओं में नहीं होता इसकी सिद्धिके लिये अष्टम अधिकरण करते हैं। पूर्वोदाहृत वाक्य में शक्ति से ही ग्रहपद का ग्रहत्व अर्थ है किंवा लक्षणासे सोमलिप्तपात्रमात्र अर्थ है इस संशयके होने पर पूर्व पक्षको कहते हैं। संस्कारादिति। (गुणानां) गुणरूप सम्मार्जनादिका(अव्यवस्था)वह सम्मार्जन ग्रहों में ही करना चाहिये चमसों में नहीं यह नियम नहीं (स्यात्) हो सक्ता, क्योंकि (संस्कारात्) वह संस्कार रुप है। उसका संस्कार्यमात्र में अनुष्ठान होना आवश्यक है, संस्कार्य्य जैसे "ग्रह" है वैसेहीं " चमस " भी संस्कार्य्य है। अपूर्व साधानत्वरूप संस्कारोद्दे-

नांसम्मार्गादीनामव्यवस्था चमसग्रहेष्वेव कार्यमिति नियमाभावः स्यात् । संस्कारात् संमार्गस्य संस्काररूपत्वात् । संस्कारोद्देश्यतावच्छेदकस्य अपूर्व साधनत्वरूपस्य व्रीहीन्प्रोक्षतीत्यादौ व्यवस्थापितत्वात्तस्य चमसादावपिसत्वादिति- भावः ॥ १६ ॥

व्यवस्थावाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात्तस्य शब्दप्रमाणत्वात्॥१७॥

सिद्धान्तमाह । व्यवस्थेति व्यवस्था ग्रहेष्वेवेतिनियमः। अर्थस्य ग्रहरूपार्थस्य श्रुतिसंयोगाच् शक्येन मुख्यवृत्तिसंबन्धात् ।

श्यातावच्छेदक को "व्रीहीन्प्रोक्षति" इत्यादि में व्यवस्थापित किया गया है वह चमसादिओं में भी विद्यमान है यह भाव है। ॥ १६ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। व्यवस्थेति। (व्यवस्था) सम्मार्जन ग्रहोंमे ही होता है चमसों में नहीं यह नियम हो सक्ता है, क्योंकि (अर्थस्य) ग्रहरूप अर्थोंका (श्रुतिसंयोगात्) "ग्रह" इसद्वितीयान्त पद श्रुतिसे सम्मार्जन के साथ धर्म धर्मिभाव सम्बन्ध पाया जाता है और ग्रह पदका शक्य "ग्रह" के साथ मुख्यवृत्ति सम्बन्ध भी रह जाता है। ग्रह पदकी लक्षणा में भी आग्नेय यागजन्य अपूर्व की भांति ग्रह याग जन्य अपूर्व में लक्षणा मानना योग्य है अपूर्व में लक्षणा योग्य नहीं यह भाव है। ननु. ग्रहापूर्व ही की लक्षणा करना चाहिये परमापूर्वकी नहीं इसमे क्या नियामक है इसपर कहते हैं। तस्येति। (तस्य) अपूर्व साधन ग्रहका (शब्द प्रमाणत्वात्)

लक्षणायामपिग्रहजन्यापूर्वलक्षणाया एव युक्तत्वादाग्नेयाद्य-पूर्ववदितिभावः ; ननुग्रहापूर्वमेव लक्षणेयन्न परमापूर्वमित्यत्र किं नियामकमत आह । तस्येति। तस्य अपूर्वसाधनस्य शब्दप्रमाणत्वाच् शास्त्रैकगम्यत्वात्। ग्रहपदश्रवणाद्ग्रहापूर्वमेव लक्षयेदिति भावः ॥ १७॥

सप्तदशारत्नित्वस्य पशुधर्मत्वम् अधि० ॥ ९ ॥

आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥ १८ ॥

सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवतीति श्रुतम्। अत्र

शास्त्रप्रमाणसिद्ध होनेके कारण त्याग नहीं हो सक्ता इसलिये ग्रहापूर्व में ही लक्षणा होगी परमापूर्व में नहीं। ग्रहपद के श्रवण से ग्रहापूर्व ही की लक्षणा माननी चाहिये यह भाव है ॥ १७ ॥

"अब सप्तदशारत्नित्व" को वाजपेय यागके अंग-पशु याग सम्बन्धियूपका धर्म कथन करते है नवम अधिकरण से। "चतुर्विंशत्यङ्गुलि परिमितोऽरत्निः। बद्ध मुष्टि हस्तपरिमितो वाऽरत्निः, सप्तदशसंख्याका अरत्नयः परिमाणंयस्य यूपस्ये-तिविग्रहः। तै० ब्रा० १।३।७।२ चौबीश अंगुली परिमाणका अथवा बद्ध मुष्टिहस्त परिमाण का नाम "अरत्नि" है, ऐसे सप्तदश अरत्नि परिमाण वाला "वाजपेय" यागका यूपहोता है यह वाक्य वाजपेययागके प्रकरण में पढ़ा है। इस वाक्य में जो यूप पद है 'वाजपेय" सम्बन्धी किसीयूपसदृश (ग्रह) पात्रविशेषका लक्षणावृत्तिसे बोधन करता है किंवा शक्ति

यूपपदं ग्रहविशेषलक्षकमुत शक्यार्थ एवेति संशये वाजपेयस्य सोमविकारत्वेन यूपाप्रसक्तेः खादिरत्वादिना सदृशवाजपेय-संबन्धिषोडशिग्रहलक्षको यूपशब्द इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्त माह। आनर्थक्यादिति। वाजपेये प्रधाने यूपाभावेनानर्थक्याद्यूप-पदानर्थक्यात्तदङ्गेषु प्राजापत्यादिपशुषु निविशतइदं वाक्यम्। लक्षणां विनाऽपि संभवे लक्षणाऽनुचिता। श्रूयमाणषष्ठ्याः संबन्धमात्रे शक्तत्वेन परम्परासंबन्धस्यापि शक्यार्थत्वादि-ति भावः ॥ १८ ॥

वृत्ति से शक्याऽर्थ यूपकोही बोध न करता है इस संशय के होनेपर, वाजपेय याग सोम यागकी विकृति होनेसे केवल ओषधि साध्य है पशुसाध्य नहीं अतः उसके बांधनेके लिये यूपकी प्राप्ति न होनेसे लम्बा तथा खैरका होनेके कारण यूप सदृश वाजपेय सम्बन्धी षोडशिग्रहका लक्षणावृत्तिसे बोधक यूपपद है ऐसा बाहरसे पूर्व पक्षहोने पर सिद्धान्त को कहते हैं। आनर्थक्या दिति। वाजपेय प्रधान यागमें पशुके अभाव प्रयुक्त यूपका अभाव होनेसें (आनर्थक्यात्) यूपपद व्यर्थ होता है इसलिये (तदंगेषु) वाजपेय का विकार प्राजापत्यादि पशुयागोंमें जोयूप हैं यहवाक्य सप्तदशारत्नित्वका निवेश विधान करता है षोडशि पात्रमें नहीं। लक्षणाके विना भी यूपशब्द के शक्यार्थ यूपके सम्भव होने पर लक्षणा मानना अनुचित है। 'वाजपेयस्य" में श्रूयमाण षष्ठी को संबन्धमात्रमें सक्तत्व होनेके कारण परम्परा सम्बन्ध को भी शक्यार्थत्व होने से यह भाव है ॥ १८ ॥

अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राङ्गत्वम् ॥ अधि० १० ॥

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायित्वाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥ १९ ॥

दर्शपूर्णमासे प्रयाजसन्निधौ अभिक्रामं जुहोतीति श्रुतम् । इदमभिक्रमणं सर्वहोमाङ्गमुत प्रयाजमात्राङ्गमिति संशये पूर्वपक्षमाह । कर्तृगुणइति । अभिक्रमणस्य धात्वर्थेन कर्मणा साकमसमवायित्वादन्वयायोग्यत्वात् । कारकस्यैव क्रियान्वयित्वेनक्रियायाः क्रियाकारकत्वेनान्वयासंभवात्प्रकरणेन

अब "अभिक्रमण" आदि "प्रयाज" मात्र का अङ्गत्व =धर्म कथन के लिये दशम अधिकरण करते हैं। दर्शपूर्ण मास याग के आदि में जो ऋतुदेव के उद्देश से "समिध" आदि नामक घृत की पांच आहुतियां दी जाती हैं उनका नाम 'प्रयाज' है, उक्त याग के प्रकरण में इसी "प्रयाज" के समीप "अभिक्रामं जुहोती" अभिक्रम्य आहवनीय समीपंगत्वाजुहुया दित्यर्थः। (अभि) आहवनीय अग्नि के चारों ओर (क्रामं) घूमकर (जुहोती) होम करे, इत्यादि वाक्य पढा है, यह अभिक्रमण उक्त याग के प्रकरण में जितने प्रधान तथा अङ्ग भूत होम होते हैं उन सबका अङ्ग है किंवा प्रयाज संज्ञक होम का ही अङ्ग है इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। कर्तृगुण इति। (कर्तृगुणे) अभिक्रामं पद "अभिक्रमण" का वाचक है उसका "जुहोति" धात्वर्थ हवनरूप क्रिया के साथ (असमवायित्वात्) सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि "अभिक्रमण" क्रिया होने के कारण कारक नहीं और कारक ही का

परिगृहीतप्रयोगकर्त्रन्वितं कर्तृगुणतयाऽन्वितं सत्तत्संस्काररूपम्। इत्थं चाभिक्रमणे कर्तृगुणे सति श्रूयमाणवाक्याद्विच्छिद्यान्यत्रान्वयेनिखिलदर्शपूर्णमासप्रयोगकर्तारमभिक्रमण क्रियया संस्कुर्यादिति वाक्यं श्रूयमाणवाक्याद्भिद्येत अन्यदेव भवेत्। जुहोतीति अवयुत्यानुवादः ॥ १९ ॥

साकाङ्क्षंत्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

सिद्धान्तमाह। साकाङ्क्षमिति। अभिक्रामंमिति णमुलन्तंजुहोतीतिक्रियापदसाकाङ्क्षम्, अत एकवाक्यं स्यान्न वाक्य-

---

क्रिया के साथ सम्बन्ध का नियम है क्रिया का क्रिया के साधनत्व रूपसे सम्बन्ध नहीं हो सक्ता इसलिये प्रकरणके बलसे परिग्रहीत-उपस्थित निखिल "दर्शपूर्णमास प्रयोग" प्रयोग=यागके कर्ता में अन्वित=कर्ता में गुणरूप से अन्वित होकर "अभिक्रमण" कर्ता का संस्कार रूप होगा। इत्थंच=होमरूप कर्म के साथ संबन्ध के अयोग्य होने से अभिक्रमण के कर्ता का गुण होने पर श्रूयमाण वाक्य=जुहोति से अलग करके अन्यत्र=कर्ता में अन्वय होनेपर निखिल दर्शपूर्णमास प्रयोग=याग कर्ता को अभिक्रमण क्रिया से संस्कार करे, यह वाक्य श्रूयमाणवाक्य='जुहोति" से भिन्न होगा। जुहोति यह अवयुत्यानुवादहै।१९। अब सिद्धान्तको कहते हैं। साकाङ्क्षमिति। साकाङ्क्ष) अभिक्रामं यह णमुलन्त पद जुहोति' इस क्रियापद के साथ साकांक्ष है, इसलिये 'अभिक्रामं जुहोति" यह (एकवाक्यं) एक वाक्यहै वाक्य भेद नहीं (हि) क्योंकि (पूर्वेण) एक "अभिक्रामं"

भेदः। हि यतः पूर्वेण णमुलन्तेन असमासमपरिपूरणम्। तथा च परिपूर्त्यर्थं क्रियान्तरमध्याहार्यं ततो वरं सन्निहितयोजनम्। सन्निहितं प्रयाजानुवादकं जुहोतीति। अतः प्रयाजस्यैवाङ्गमिति भावः (१)॥ २०॥

उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गत्वम्। अधि० ११।

सन्दिग्धेषु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात्॥ २१॥

विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र इत्यध्याये सप्तमाष्टमानुवाकयोः सामिधेनीब्राह्मणमाम्नातम्। नवमे निवित्सञ्ज्ञकमन्त्रब्राह्मणं

णमुलन्तपद से (असमात) वाक्यपूर्ण नहीं होता तथाच वाक्य के परिपूर्ण के लिये क्रियान्तर का अध्याहारकरना पडेगा इससे सन्निहित में योजना करना चाहिये। प्रयाजानुवादकजुहोति यह पद सन्निहित है। इसलिये प्रयाजके कर्ता द्वारा जुहोति" क्रिया के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुआ "अभिक्रमण" भी प्रयाज मात्रकाही अङ्ग=धर्म है अन्यका नहीं यह भाव है॥२०॥

अब "उपवीत" को प्राकरणिक सर्वकर्मका अङ्ग कथन करते हैं ११ मा अधिकरण से। तैत्तिरीयसंहिता में "दर्शपूर्ण मास का प्रकरेण है उसमें" विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः " तै० सं० २।५।१। १ इस अध्याय के सप्तम तथा अष्टम अनुवाक में " सामिधेनी" के ब्राह्मण का कथन किया है। नवम में निवित्संज्ञक मन्त्रों के ब्राह्मण को और दशम में काम्यसामिधेनी कहकर, एकादश में "निवीत मनुष्याणाम् " तै० सं० २।५।११।१ " प्राचीनावीतंपितृणाम्, उपवीतंदेवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते मनुष्य

दशमे काम्यसामिधेनीश्वोक्तैकादशे उपव्ययतइत्युपवीतविधिः श्रूयते। अग्रेऽपि तिष्ठन्नन्वाहेति केचन सामिधेनीधर्माः पठिताः एवं सति उपवीतं सामिधेन्यङ्गं सर्वाङ्गं वेति संशये पूर्वाधिकरणन्यायेन सन्निहितपरित्यागे मानाभावात्सामिधेन्यङ्गमिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। सन्दिग्धेष्विति। सन्दिग्धेषु अवान्तरप्रकरणसंदेहविषयेषु वाक्येषु सत्सु निविद्भिर्व्यवधानाद्वाक्यभेदः स्यात्। सामिधेनीवाक्यैकवाक्यतात्वं न, किं तु महाप्रकरणेन सर्वाङ्गम॥ २०॥

कर्म में निवीत ' पितृकर्म में प्राचीनावीत " तथा देवकर्म में उपवीत होना चाहिये, जो " उपवीत " करता है वह मानो देव चिन्ह को करता है इस प्रकार उपवीत के विधान का श्रवण है। उपवीत वाक्य के अनन्तर " तिष्ठनन्वाह " = खड़ा होकर सामिधेनी का उच्चारण करें इत्यादि कुछ सामिधेनीके धर्म=गुण पठित हैं। गलेमें लम्बायमान सूत्र का नाम " निवीत " अपसव्य अर्थात् जिसमे वामहस्त बाहर निकला रहता है ऐसे दक्षिण कन्धेमें अर्पितसूत्र का नाम प्राचीनावीत तथा जिसमें दक्षिण हस्त बाहर निकला रहता है, ऐसे वामकन्धे में अर्पितसूत्र का नाम "उपवीत" है, यागमें सूत्र के स्थान में प्रायः विनासिया वस्त्रही उक्त प्रकार से डाला हुआ " उपवीत कहा जाता है यही "उपवीत" इस अधिकरण का विषय है। ऐसा होने पर उक्त ' उपवीत ' केवल सामिधेनी का अङ्ग है किंवा दर्शपूर्णमास याग के अन्तर्गतजितने " कर्म " हैं उन

वैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणत्वम् । अधि० १२ ॥

गुणनां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ॥२२॥

अग्न्याधानसन्निधौ पठितं वारणो यज्ञावचरः वैकङ्कतो

सबका अङ्ग है अर्थात् सामिधेनी के उच्चारण काल में ही "उपवीत" को धारण करना किंवा दर्शपूर्ण मास संज्ञक सब कर्मों के करने काल में धारण करना इस संशय के होने पर पूर्व अधिकरण के न्याय से सन्निहित के परित्याग में प्रमाण का अभाव होने से सामिधेनी का अङ्ग है ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । सन्दिग्धेष्विति । अवान्तर प्रकरण की अनुवृत्ति है किंवा निवृत्ति है इस संशय का उत्पादक वाक्य "उपव्ययते" के होने पर उपवीत में सन्देह होता है कि उपवीत सामिधेनी का अङ्ग है किंवा सर्व कर्म का अङ्ग है. इस प्रकार उपवीत में सन्देह होने पर (वाक्यभेदः) उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिये उपवीत वाक्य का "सामिधेनी" प्रकरण से भेद (स्यात्) जानना चाहिये, क्योंकि (व्यवायात्) मध्य में "निवीत्" संज्ञकमन्त्रों का व्यवधान है। अर्थात् "उपव्ययते" वाक्य सामिधेनी वाक्य के साथ एक वाक्यता को प्राप्त नहीं होता किन्तु महाप्रकरण के बल से दर्श पूर्णमास संज्ञक सब कर्म का अङ्ग होता है। फल भावनायाः प्रकरणं महा प्रकरणम् । तदन्तरालेयदङ्गभावनायाः प्रकरणं तदवान्तर प्रकरणमिति तयोर्लक्षणम् ॥ २१ ॥

वैकङ्कतादि पात्रों को सब याग के गुणत्व कथन करते हैं। १२ मा अधिकरण से। वरण वृक्षजन्य यज्ञ साधन पात्र करे,

यज्ञावचर इति। यज्ञावचरो यज्ञसाधनम्। इदं पवमाने-ष्ट्यङ्गमथ वा यज्ञसाधनमात्राङ्गमिति संशये आधानसन्निधौ पवमानेष्टीनां पाठेनाधानाङ्गत्वादाधाने यागभावेन यज्ञसा-धनपात्राणामप्रसक्तेस्तत्सान्निधौ पाठवैयर्थ्याद्वाजपेयस्य यूप इतिवत्तदङ्गे पवमानेष्टौ निविशतइति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्त-माह। गुणानांमिति गुणानां वारणवैकङ्कतादिगुणानां परार्थ-त्वाद् यज्ञसाधनपात्रार्थत्वाद् आधाने यागाभावात्पवमानेष्टि-सन्निधावस्य वाक्यस्य पाठाभावेनासन्निधिपाठस्य समत्वाद्

विकङ्कतवृक्षजन्य यज्ञ साधनपात्र करे इस वाक्य का पाठअग्न्या धान के समीप में पाया जाता है। यज्ञा वचर नाम यज्ञ साधन पात्रका है। यज्ञपात्र पवमान इष्टि मेंभी अङ्ग है किंवा यज्ञसाधन मात्र में अङ्ग है इस संशय के होने पर अग्न्याधान के समीप में पवमान इष्टिओं का पाठ होने से उक्त इष्टिओं में आधाना-ङ्गत्व है और आधान में याग का अभाव होने से याग साधन पात्रों की प्राप्ति न होने से उक्त आधान के सन्निधि में उक्त वाक्य के पाठ को व्यर्थत्व होने से "वाजपेयस्य यूपः" इसकी भांति आधान अङ्ग पवमान इष्टि में निवेश करना चाहिये ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त कहते हैं। गुणानामिति। (गुणानां) वारण तथा वैकङ्कतादि गुण (परार्थत्वात्) याग साधन पात्र के लिये है और आधान प्रकरण में याग है नहीं तथा पवमान इष्टि के समीप में इस वाक्य के पाठ का अभाव है इसलिये असन्निधि पाठ का यज्ञान्तर के साथ (समत्वात्)

यज्ञान्तरैः पवमानेष्ट्या साकमसंबन्धः अङ्गाङ्गिभावो न। नापि वाजपेयस्य यूप इतिन्यायप्रवृत्तिः । आधानपवमानेष्ट्योः अङ्गाङ्गिभावनिराकरणस्याग्रे वक्ष्यमामाणत्वात् । अतः सर्वयज्ञाङ्गम् (?) ॥ २२ ॥

वार्त्रघ्याद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गत्वम् । अधि० १३।

मिथश्चानर्थसंबन्धात् ॥ २३ ॥

दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रुतम् । वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते वृधन्वती अमावास्यायामिति । अत्र वार्त्रघ्नीवृध-

---

समभाव होने से पवमान इष्टि के साथ (असम्बन्धःस्यात्) परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं हो सक्ता। और न "वाजपेयस्ययूपः" इस न्याय की प्रवृत्ति हो सक्ती है। क्योंकि आधान तथा पवमान इष्टि में अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध का निराकरण आगे कहना है। इसलिये "दर्शपूर्णमास" आदि सब यागों में अङ्ग है॥ २२॥

अब वार्त्रघ्नि आदि अनुवाक्यों को आज्य भाग का अङ्गत्व कथन करते हैं। १३ मा अधिकरण से। दर्श पूर्णमास प्रकरण में 'आग्नेय' तथा "सौम्य" नामक दो आज्य भाग विधान करके पश्चात दोनों "वार्त्रघ्नि" तथा दोनों 'वृधन्वती' का क्रम से विधान किया है और इसके अनन्तर "पूर्णमास में दोनों "वार्त्रघ्नि" तथा दर्श में दोनों वृधन्वती का उच्चारण किया जाता है तै० सं० २।५।२।५ यह वाक्य पढा है। यहां वार्त्रघ्नी तथा वृधन्वती दोनों दर्शपूर्णमास संज्ञक "आग्नेय" आदि प्रधानषट् याग का अङ्ग है किंवा प्रति 'दर्श' तथा प्रति

न्वत्यौ प्रधानयागाङ्गं यद्वाऽऽज्यभागाङ्गमिति संशये प्रधानयागवाचकयोरमावास्यापौर्णमासीपदयोः श्रवणात्प्रधानेनैव संबन्ध इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। मिथ इति। मिथः युगलीभूतयोः द्वित्वविशिष्टयाज्यापुरोनुवाक्ययोः प्रधानेनानर्थः निरर्थः निष्प्रयोजनः संबन्धः। अयं भावः। दर्शे पौर्णमासे च प्रत्येकं प्रधानत्रयम्। तैः प्रत्येकं संबन्धोऽपि निष्प्रयोजनः। एकस्यैकेन चरितार्थत्वात्। न समूहे एकेन न्यूनत्वाद्। अतः आज्यभागयोर्द्वित्वात्तयोर्युगलं तत्र

"पूर्णमास" होने वाले आग्नेय और "सौम्य" संज्ञक आज्य भाग का अङ्ग हैं अर्थात् प्रतिपूर्णमास याग में इनको उच्चारण किया जाता है किंवा केवल प्रति आज्य भाग में इस संशय के होने पर प्रधान याग वाचक अमावास्या तथा पौर्णमासी पद के श्रवण से प्रधान के साथ ही सम्बन्ध होगा ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष के होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। मिथ इति। (मिथः) युगलीभूत=परस्पर मिलित=अर्थात् द्वित्वविशिष्ट याज्यापुरोनु वाक्य वार्त्रघ्नी तथा वृधन्वती का दर्शपूर्णमास संज्ञक प्रधान याग के साथ (अनर्थसम्बन्धात्) निष्प्रयोजन संबन्ध है। यह भाव है कि प्रत्येक दर्श तथा पूर्णमास काल में तीन २ प्रधान याग होते हैं और प्रत्येक प्रधान यागों के साथ वार्त्रघ्नी युगल तथा वृधन्वती युगल का सम्बन्ध भीनिष्प्रयोजन होता है। क्योंकि एक प्रधान कर्म एक वार्त्रघ्नी मन्त्र से चरितार्थ है। तथा प्रधान यागों के समूह में वार्त्रघ्न युगल का सम्बन्ध

सफलम् अतस्ताभ्यामन्वितपूर्णमासरूपे काले तयोर्वार्त्रघ्नी अमावास्याकाले वृधन्वतीति नियामकं वाक्यम् (१) ॥२३॥

हस्तावनेजनादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गत्वम् ॥ अधि० १४॥

आनन्तर्यमचोदना ॥ २४ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते हस्ताववनेनिक्ते, उलपराजिं स्तृणातीति । अवनेनिक्तेप्रक्षालयति । अत्र हस्तप्रक्षालनमुलपराजिस्तरणार्थमुततदुत्तरं क्रियमाणसर्वकर्मार्थमिति संशये

नहीं हो सक्ता क्योंकि एक मन्त्र से वार्त्रघ्नी युगल में न्यूनत्व है । इसलिये मन्त्रों का युगल आज्य भाग में सफल होता है क्योंकि आज्य भाग दो हैं इसलिये दो आज्य भाग से अन्वित पूर्ण मास रूप काल आज्य भागों में वार्त्रघ्नी और अमावास्या काल में आज्य भागों में वृधन्वती ऋचों का अनुवचन करना ऐसा नियम करने वाला वाक्य है ॥ २३ ॥

अब हस्त अवनेजन = प्रक्षालन आदिओं को प्रकरण से होने वाले यावत् कर्म का अङ्ग कथन करते हैं १४ मा अधिकरण से । ' दर्श पूर्णमास " याग के प्रकरण में हाथों का प्रक्षालनकरे " वेदिमें बिछाने के लिये संपादन किये हुए उलप= सुगन्धित तथा कोमल तृण विशेष के राजि=फूलों का नाम " उलपराजि " है, उक्त उलपराजिको वेदि में बिछावे, यह दोनों वाक्य व्यवधान रहित पढे हैं, व्यवधान रहित वाक्यों का पाठ होने से हस्त प्रक्षालन वेदि में उलपराजि के स्तरण =बिछाने के लिये है किंवा हस्त आदिओं के प्रक्षालन आदिओं

हस्तप्रक्षालनस्य . फलाकाङ्क्षायामुलपराजिस्तरणार्थत्वेन वाक्ययोरेकवाक्यत्वसम्भवात्तदर्थमेवेति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। आनन्तर्यमिति। आनन्तर्यं सानिध्यम् अचोदना एकवाक्यतासाधकं न। तथा सति घटमाहरति गां नयतीत्यनयोरप्येकवाक्यतापत्तेरिति भावः ॥ २४ ॥

वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥ २५ ॥

एकवाक्यताया लक्षणमपि नास्तीत्याह। वाक्याना-

के उत्तर क्रियमाण दर्श पूर्णमास के अन्तर्गत सब कर्म के लिये है अर्थात् हाथों का धोना उलपास्तरण मात्र के लिये है अथवा यावत् कर्म के लिये है इस संशय के होने पर हस्त प्रक्षालन के फलका आकांक्षा होने पर अर्थात् हाथ धोने का क्या फल है। इस आकांक्षा के होने पर उलपराजि को वेदि में विछाना यह फल है सान्निध्य से इस उक्त फल के लिये होने से दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सम्भव है इसलिये स्तरण का ही अङ्ग है सर्वाङ्ग नहीं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। आनन्तर्यमिति। (आनन्तर्य्यम्) व्यवधान रहित पाठ रूप सान्निध्य (अचोदना) अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध बोधकता रूप एक वाक्यता का साधक नहीं हो सक्ता। सान्निध्य को एक वाक्यता का साधकता मानने पर " घटको लाता है " गौ को ले जाता है इन वाक्यों की भी एक वाक्यता हो जायगी यह भाव है ॥ २४ ॥

अवनेजनादि वाक्यों के एक वाक्यता में " लक्षण "-

मिति स्पष्टं । विभागे परस्परं साकाङ्क्षत्वाभावादिति भावः ॥ २५ ॥

चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गत्वम् । अधि० १५ ।

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत
मिथस्तेषामसंबन्धात् ॥ २६ ॥

दर्शपूर्णमासे श्रूयते आग्नेयं चतुर्धा करोतीति । अत्र चतुर्धा करणं पुरोडाशमात्राङ्गमुत केवलाग्नेयपुरोडाशाङ्गमिति संशये पूर्वपक्षमाह । शेष इति । शेषः चतुर्धाकरण-

---

कोई प्रमाण भी नहीं ऐसा कहते हैं । वाक्यनामिति । (च) और (वाक्यानां) उदाहृत वाक्यों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि (समाप्तत्वात्) उक्त वाक्य अपने २ पद समूह द्वारा अर्थ को बोधन करने से ही निराकांक्ष हैं । विभाग में परस्पर साकांक्षत्व का अभाव होने से एक वाक्यता नहीं अतः उक्त वाक्य प्रतिपादित "हस्तावनेजन" आदि का "उलपराजिस्तरण" आदि के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं किंतु प्राकरणिक कर्म मात्र के साथ उक्त सम्बन्ध है यह भाव है॥२५॥

अब 'चतुर्धाकरण' चार भाग करने को आग्नेय पुरोडाश मात्रका अङ्ग कथन करते हैं १५मा अधिकरणसे। दर्शपूर्ण मास के प्रकरणमें "अग्नि है देवता जिस पुरोडाश का उसका चार भाग करे" आप० श्रौ० ३।३।२ यह वाक्य पढा है, इस वाक्य में जो चतुर्धा करण कथन किया है वह पुरोडाश मात्र का अङ्ग=धर्म है किंवा केवल आग्नेय पुरोडाश का अङ्ग=धर्म है इस संशय के

रूपसंस्काररूपो गुणः गुणसंयुक्तः अग्निरूपगुणसंबन्ध-विशिष्टोऽपि गुणसंबन्धविशिष्टोद्देश्यवाचकपदघटितोऽपीति फलितम् । साधारणः अग्नीषोमैन्द्राग्नसाधारणः तेषां चतुर्धा-करणव्यक्तिनामग्नेश्च मिथः शाखान्तरे असंबन्धादुद्देश्यताव-च्छेदकत्वेन अग्नेरश्रवणात् । अयं भावः । शतपथे पुरोडाशं प्रकृत्य तं चतुर्धा करोतीति श्रुतम् । तत्र तच्छब्दस्य प्रकृत-पुरोडाशमात्रपरत्वादत्राप्याग्नेयपदं पुरोडाशमात्रपरमिति ॥ २६ ॥

होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। शेष इति। (शेषः) चतुर्धा करणरूप शेष पुरोडाश का संस्कार है वह संस्कार रूप गुण (गुणसंयुक्तः) अग्निरूपगुण के साथ संबन्ध विशिष्ट भी है= अग्निरूप गुण के संबन्ध से युक्त उद्देश्य पुरोडाश उसका वाचक पद आग्नेय पद उससे घटित वाक्य से विहित है, तो भी (साधारणः)अग्नीषोम,ऐन्द्र आग्नेय सब पुरोडाशों का अङ्ग (प्रतीयेत) जानना चाहिये, क्योंकि (तेषाम्) जिनोंका चार भाग किया गया है. उनोंका और अग्निका (मिथः) परस्पर शाखान्तर में (असम्बन्धात्) सम्बन्ध नहीं अर्थात् पुरोडाशमें उद्देश्यता है उसका अवच्छेदकत्वरुप से अग्निका श्रवण नहीं। यह भाव है कि शतपथ ब्राह्मण में पुरोडाश प्रस्तुत करके "तंचतु-र्धाकरोति" ऐसापाया जाता है। तत्र=शतपथ वाक्य में तत् शब्द को प्रकृत पुरोडाश मात्र का बोधक होने के कारण अत्रापि= आपस्तम्भ श्रौतसूत्र में भी आग्नेयपद पुरोडाश मात्र का बोध है।२६।

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन संबन्धा-
ल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥ २७ ॥

सिद्धान्तमाह । व्यवस्थेति व्यवस्था आग्नेयस्यैव चतुर्धाकरणानियमः । अर्थेन देवतारूपताद्धितार्थेन पुरोडाशस्य सम्बन्धात् । सूक्तहविषोः इत्यनुशासनेन देवताताद्धितत्वान्नाग्नेय शब्दः सम्बन्धसामान्यवाची अग्नीषोमस्थले अग्नौ देवतात्वं न पर्याप्तमिति भावं दर्शयति । लिङ्गस्य देवतात्वपर्याप्तिप्रकाशकलिङ्गस्य इतरानिरपेक्षत्वरूपसामर्थ्यरूपार्थेन सम्बन्धात् ।

अब सिद्धान्त को कहते हैं व्यवस्थेति । (व्यवस्था) चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है पुरोडाश मात्र का नहीं ऐसा नियम ह । क्योंकि (अर्थ संयोगात्) देवतारूप तद्धितार्थ के साथ पुरोडाश का विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है । 'सूक्तहविषोः' इसअनुशासन से देवता अर्थमें तद्धित प्रत्ययहोने से 'आग्नेय' शब्द दो देवता सम्बन्धी पुरोडाश सामान्य का वाचक नहीं होसक्ता, अग्नीषोम स्थलमें अग्नीमें देवतात्व पर्याप्त=परिसमाप्त नहीं इस भाव को देखाते हैं । लिङ्गस्येति । (लिङ्गस्य) देवतात्व की पर्याप्ति अग्नि रुप देवता में है उक्तपर्याप्तिका प्रकाशक "आग्नेय" पद है उक्त पदका लिङ्ग=अर्थ अग्नि है उस अग्नि देवता का इतर=सोम आदि के अपेक्षा से रहितत्वरुप सामर्थ्य से (अर्थेन) पुरोडाश रुप अर्थ के साथ (सम्बन्धात्) विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध होने से । अग्नी

अग्नीषोमीयघटकाग्नेः सोमसापेक्षत्वान्न तत्रोक्तसामर्थ्यमिति भावः। ननु आग्नेयस्य मस्तकं विरुज्य प्राशित्रमवद्यतीति श्रुतत्वात्कथं सर्वपुरोडाशेभ्यः प्राशित्रावदानमत आह। लक्षणेति। आग्नेयमस्तकोपलक्षणा गुणश्रुतिः अग्निदेवतासम्बन्धश्रुतिः। आग्नेयपदस्य अवद्यतीत्यनेन न सम्बन्धः किन्तु मस्तकेन। तथा चाग्नेयस्यैव शिरोभेदनं नेतरस्य। यत्तु शाखान्तरे पुरोडाशं चतुर्धा करोतीति तस्याप्यत्रैवोपसंहारः। यत्र सामान्यवाचकस्य प्रमाणान्तरेण विशेषोप-

---

षोमीय द्विदेवत्य पुरोडाश घटक अग्नि देवता सोमसापेक्ष है इसलिये अग्नि देवता में उक्त निरपेक्षत्व रूप सामर्थ्य नहीं और जब सामर्थ्य नहीं तब पुरोडाश के साथ सम्बन्ध नहीं हो सक्ता और सम्बन्ध न होने से द्विदेवत्य पुरोडाश साधारण का चतुर्धाकरण नहीं हो सक्ता यह भाव है। ननु, आग्नेय के मस्तक को भेदन करके प्राशित्र का अवदान करे एतादृश वाक्य पाये जाने से सब पुरोडाशों से प्राशित्र का अवदान कैसे हो सक्ता है इसपर कहते हैं। लक्षणेति। (गुणश्रुतिः) अग्निदेवता के सम्बन्ध बोधक "श्रुतिः" आग्नेय शब्द (लक्षणार्था) आग्नेय के मस्तक के बोधन के लिये है। आग्नेय पदका "अवद्यति" इसके साथ सम्बन्ध नहीं किन्तु मस्तक के साथ है। तथाच=आग्नेयपद का मस्तक के साथ सम्बन्ध होने से आग्नेय पुरोडाश के ही शिर का भेदन होता है अन्य पुरोडाश के शिर का भेदन नहीं होता। तथाच 'आग्नेयस्य मस्तकं भित्वा

संहारस्तत्र विशेषपरत्वमेव । यथा घटमानयेत्युक्ते गेहस्थघटे तात्पर्यग्रहे सति तत्परत्वमेव नान्यपरत्वमिति सर्वानुभवः, एवमिहापि आग्नेयं चतुर्धा करोतीति वाक्येनैकवाक्यताया-मुपसंहारस्योपपत्तेर्न किञ्चिद्बाधकम् ॥ २७ ॥

इति जैमिनिसूत्रवृत्त्यां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

प्राशित्रं ततोऽवदातव्यम्, अन्यस्यतु पुरोडाशस्य मस्तकमभित्वा यस्मात्कस्माच्चित्प्रदेशात् = आग्नेय के मस्तक को भेदन करके उससे प्राशित्र का अवदान करे, अन्य पुरोडाश के मस्तक को भेदन न करके जिस किसी प्रदेश से अवदान करे। और जो अन्यशाखा में "पुरोडाशं चतुर्धाकरोति" यह सामान्य वचन है उसका भी इस विशेष वचन में उपसंग्रह करना चाहिये। जहां सामान्य वाचक पद का प्रमाणान्तर से विशेष में उपसंग्रह होता है वहां सामान्य वाचक को विशेष बोधकत्व ही रहता है। जैसे "घटमानय" ऐसा कहने पर गेहस्थघट में तात्पर्य ग्रह के होने पर घटपद गेहस्थघट बोधक ही होता है अन्य बोधक नहीं, यह सर्वानुभव = सर्वजनिन = सब जनों में प्रसिद्ध है, इसी प्रकार यहां भी "आग्नेयं चतुर्धाकरोति" इस विशेष वाक्य के साथ सामान्य वाक्य की एक वाक्यता होने में उपसंग्रह की उपपत्ति होने से कोई बाधक नहीं ॥ २७ ॥

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के प्रथमपाद के जैमिनिसूत्रवृत्ति का अनुवाद समाप्त।

लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये बर्हिषि विनियोगः ॥ अधि० १॥

अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मा-
दुत्पत्तिसंबन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥ १ ॥

पूर्वपादे श्रुत्या विनियोगश्चिन्तितः । अस्मिन्पादे लिङ्गेन विनियोगश्चिन्त्यते । मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां कर्मसमवेतार्थस्मारकतया क्रत्वङ्गत्वमिति स्थितम् । तत्र पदानामर्थस्मारकत्वं द्विधाशक्त्या लक्षणया च एवं सति बर्हिर्देवसदनं दामीति मन्त्रे बर्हिष्पदेन शक्त्या कुशाः लक्ष-

---

काटने के प्रकाशक मन्त्रों का मुख्य बर्हिष में शेष शेषिभाव कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से। पथमपाद में पद तथा विभक्ति "श्रुति" के बलसे "शेष शेषिभाव" का निरूपण किया गया। अब इस पादमें लिङ्ग प्रमाण से "शेष शेषिभाव" का निरूपण किया जाता है। मन्त्राधिकरण में मन्त्रों को कर्म सम्बंध अर्थ की स्मारकता होने के कारण यागाङ्गत्व है ऐसा निश्चय किया जा चुका है। तत्र=मन्त्र में शक्ति तथा लक्षणा दो वृत्तियों द्वारा पदों के अर्थ का स्मारकत्व है। एवंसति= मुख्य तथा गौण अर्थ का प्रकाशक होने पर "बर्हिर्देव सदनं दामि" (मै० सं० १।१।२) सीदन्ति अस्मिन्निति सदनम् देवानां सदनं देवसदनम् । देवोपवेशनयोग्यमित्यर्थः । तद्बर्हिर्दामि लुनामि इत्यर्थः इसमन्त्र में बर्हिष पदसे शक्तिवृत्ति द्वारा कुश का और लक्षणावृत्ति द्वारा तृण विशेष का ग्रहण होगा। दोनों के खण्डन में यह मन्त्र शेष है किंवा कुश के खण्डन में ही इस

णया तत्सदृशाः तृणविशेषाः । उभयोः खण्डने अयं मन्त्रः उत कुशखण्डनएवेति संशयेऽर्थस्मारकत्वस्य तुल्यत्वादुभयत्र विनियोग इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । अर्थेति । उत्पत्त्या औत्पत्तिकेन स्वाभाविकेन मुख्येनैव अर्थेन मन्त्रघटकपदानां संबन्धः स्यात् । कुतः नित्यसंयोगात् । पदपदार्थयोः संबन्धो नित्य इति प्रथमाध्याये व्यवस्थापितत्वात् । यस्माच्छक्तिसंबन्धो नित्यः तयोस्तस्मादर्थस्य मुख्यार्थस्याभि-

---

संशय के होने पर उभय प्रकार की अर्थस्मारकता "बर्हिष्" पद में समान होने से दोनों अर्थों में मन्त्र का विनियोग=शेष शेषि भाव सम्बन्ध होगा ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त कहते हैं । अर्थेति । (उत्पत्तिसबन्धः) मुख्य अर्थ के साथ ही मन्त्रस्थ पदों का सम्बन्ध होना चाहिये । क्योंकि (नित्यसंयोगात्) "शक्तिवृत्ति" से उपस्थित अर्थ के साथ ही पदों का नित्य सम्बन्ध है । और पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है इसको प्रथम अध्याय में व्यवस्थित कर दिया गया है। जिस कारण पद पदार्थों में शक्ति रूप सम्बन्ध नित्य है इसलिये (अर्थस्य) मुख्यार्थ का (अभिधानं) कथन उस अर्थाभिधान द्वारा (संयोगात्) क्रतु=याग के साथ सम्बन्ध होनेसे (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (शेषभावः) क्रतु=यागाङ्गता है, अमुख्य अर्थ के स्मरण द्वारा नहीं । मुख्यार्थ ही से मन्त्र को निराकांक्षता होने से अमुख्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं यह भाव है । "शक्तिवृत्ति" से जिस अर्थ की उपस्थिति होती है उसको "शक्यार्थ" और

धानं कथनं तद्द्वारा संयोगात् क्रतुसबन्धान्मन्त्रेपु शेपभावः क्रत्वङ्गत्त्वं स्यात् । नामुख्यार्थ स्मरण द्वारा । मुख्यार्थेनैव मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वादमुख्ये न प्रवृत्तिरिति भावः ॥१॥

संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ॥ २ ॥

नन्वेवं सति पूपानुमन्त्रणमन्त्रस्य प्रकरणविच्छेदापत्तिरित्यत्रेष्टापत्तिमाह । संस्कारेति । संस्कारकत्वात्पूषानुमन्त्रणमन्त्रस्य पूपदेवतास्मारकत्वरूपसंस्काजनकत्वात् । अचोदिते अविहितपूपदेवताके यागे नास्यान् मन्त्रस्याङ्गत्वं न स्यात् । अत्र सस्कारसंभवः तत्रैवाङ्गमिति भावः ॥ २ ॥

"लक्षणा वृत्ति" से जिस अर्थ की उपस्थिति होती है उसको "लक्ष्यार्थ" कहते हैं । शक्यार्थ. वाच्यार्थ, तथा मुख्यार्थ. यह तीनों, लक्ष्यार्थ, जघन्यार्थ, तथा गौणार्थ यह तीनों पर्य्याय शब्द है, और ज्ञान, प्रत्यय, उपस्थिति. ग्रहण तथा प्रतीति यह पांचो पर्य्याय शब्द हैं ॥ १ ॥

ननु, एवंसति=मुख्यार्थ मात्र में मन्त्रों को शेषता माननेपर पूषानु मन्त्रण मन्त्रका=(अनुमन्त्रणका नाम कथन का है) दर्शपूर्ण मास प्रकरण से विच्छेद की आपत्ति हो जायगी इसमें इष्टापत्ति करते हैं । संस्कारेति । (संस्कारकत्वात्) पूष्णोऽहंदेवयज्यया प्रजयाच पशुभिश्च जनिषीय " इस पूषानुमन्त्रण मन्त्र को पूषदेवता का स्मारकत्वरूप = प्रकाशन लक्षण संस्कार का जनकत्व होने से, (अचोदिते) दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में अविहित पूष देवता के याग में (न स्यात्) मन्त्रों को अङ्गत्व नहीं होता । जहां संस्कार सम्भव हो वहीं अङ्ग होगा यह भाव है ॥ २ ॥

इन्द्राप्रकाशकमन्त्राणां श्रुत्या गार्हपत्ये विनियोगः ॥अधि० २॥

वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥ ३ ॥

महाग्निचयने श्रूयते ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठतइति। ऐन्द्र्यर्चा किमिन्द्रस्योपस्थानमुत गार्हपत्यस्येति संशये इन्द्रोपस्थानएव पूर्वाधिकरणन्यायेन मन्त्रस्य समर्थत्वादिन्द्रस्यैव उपस्थानमिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। वचनादिति। वचनाद् गार्हपत्यमितिद्वितीयाश्रुतिवचनाद्। ऐन्द्री इन्द्रदेवताप्रकाशिका ऋग्। इदं क्रियाविषशेणम्। पुरुहूतप्रकाश-

---

अब इन्द्र प्रकाशक मन्त्रों का "गार्हपत्य" अग्नि के उपस्थान में श्रुति से विनियोग कथन करते हैं द्वितीय अधिकरण से। महा अग्निचयन में निवेशनः सङ्गमनो वसूनामिति ऐन्द्र्यागार्हपत्यमुपतिष्ठते "निवेशनः" इस ऋचा से गार्हपत्य अग्नि" का उपस्थानकरे अर्थात् उक्त ऋचा को पढता हुआ "अग्नि के समीप स्थित होवे. यह वाक्य पढा है। इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्यरूप "लिङ्ग" से ऐन्द्री ऋचा क्या इन्द्र के उपस्थान में विनियोग है किंवा "गार्हपत्य" अग्नि के उपस्थान में इस संशय के होने पर इन्द्र के उपस्थान ही में पूर्वाधिकरण के न्याय के अनुसार मन्त्र में सामर्थ्य होने से इन्द्र के ही उपस्थान में विनियोग होता है ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं। वचनादिति। (वचनात्) "गार्हपत्यं" इस द्वितीया विभक्ति रूप वचन से (ऐन्द्री) इन्द्र देवता की प्रकाशिका ऋचा (अयथार्थं) यह क्रिया विशेषण है। पुरुहूत

कं यथा तथा न स्यात् । इदि परमैश्वर्यइति योगेन तद्धितश्रुतेरर्थस्य देवतारूपस्य गार्हपत्येऽप्यबाधाद् द्वितीयाश्रुत्यनुसारेणैन्द्रीपदघटकमन्त्रस्थेन्द्रपदस्य अन्यथा नयनं क्रिमिति वचनं न कुर्यात् । न हि वचनस्य अतिभार इति न्यायेनेति ध्येयम् ॥ ३ ॥

गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्संबन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

ननु लिङ्गेन कल्प्यमानं शास्त्रमिन्द्रपदघटितया ऋचेन्द्रं गार्हपत्यं प्रकाशयेदिति भवेत् । नेदं जलेन दहेदितिवद-

---

का प्रकाशक जैसे हो वैसा नहीं होगी अर्थात् मुख्यार्थ वृत्ति नहीं है किंतु गौण वृत्ति है। परमैश्वर्य अर्थ में इदिधातु है उससे "ऋजेन्द्र" [उ० २।२८] इत्यादि से रन् प्रत्यय होकर इन्द्र पद की निष्पन्ति है उससे तद्धित प्रत्यय करने से "ऐन्द्री" पद की सिद्धि होती है और अवयव द्वारा तद्धित प्रत्यय का देवता रुप अर्थ है उसका गार्हपत्य अग्नि में भी बाध नहीं इसलिये "गार्हपत्यं" इस द्वितीयाविभक्ति के अनुसार 'ऐन्द्री' पदघटक मन्त्रस्थ जो इन्द्र पद है उसको 'अन्यथा' =गुणवृत्ति [लक्षणा] से योजना करना। 'वचन को अतिभार नहीं' इस न्याय के अनुसार वचन क्या नहीं कर सक्ता ऐसा समझना चाहिये ॥ ३ ॥

ननु, "इन्द्र पद विशिष्ट ऋचा से इन्द्र को प्रकाश करे" यह शास्त्र लिङ्ग से कल्प्यमान हो सकता है। और जल से दाह करे, इस वाक्य के भांति अवाक्यार्थ यह वचन नहीं है

शक्यार्थं वचनसहस्रेणापीन्द्रपदेन गार्हपत्यप्रकाशासम्भवा-दत्राह । गुणादिति । यदुक्तमिन्द्रपदगार्हपत्यार्थयोः शक्ति-रूपः संबन्धःशास्त्रसहस्रेणापि न सिध्यति तस्य नित्यत्वा-दिति, तदस्माकमप्यनुमतमित्याह । सबन्धस्य शक्तिरूप-सम्बन्धस्य । अशास्त्रहेतुत्वात् । शास्त्रानधीनत्वात् ननु कथं तर्हि इन्द्रशब्देन गार्हपत्यप्रकाशनमत्राह । गुणाच् शक्य-संबन्धरूपगौणवृत्त्यन्तरेण अभिधानं प्रकाशनं स्यात् । सिंहो देवदत्त इतिवत् ॥ ४ ॥

क्योंकि इन्द्र पद से इन्द्र का स्मरण सम्भव है और गार्हपत्य अग्नि का स्मरण वचन के सहस्र से भी असम्भव है इसपर कहते हैं । गुणादिति । जो कहा गया है कि इन्द्र पद तथा गार्हपत्य अग्नि रूप अर्थ इन दोनों में शक्ति रूप संबन्ध शास्त्र के सहस्र से भी सिद्ध नहीं हो सक्ता क्योंकि "तस्य"=शक्ति रूप सम्बन्ध नित्य है, वह हम लोगों को भी अनुमत है ऐसा कहते हैं (सम्बन्धस्य) पद पदार्थ के शक्ति रूप सम्बन्ध को नित्यत्व है। क्योंकि (अशास्त्रहेतुत्वात्) शास्त्र के आधीन नहीं है । ननु, तब इन्द्र पद से गार्हपत्य अग्नि का स्मरण कैसे होता है इसपर कहते हैं । गुणादिति । (गुणात्) शक्य सम्ब-न्ध रूप गौणवृत्यन्तर द्वारा "सिंहोदेवदत्तः" इसके भांति (अभिधानं) इन्द्र पद से गार्हपत्य अग्नि का स्मरण होता है ॥ ४ ॥

आह्वानप्रकाशकमन्त्राणामाह्वाने विनियोगः अधि० ३।

तथाऽऽह्वानमपीति चेत् ॥ ५ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयतीति। अत्र हविष्कृदेहीति मन्त्रः अवहननाङ्गमुत लिङ्गेन आह्वनाङ्गमिति संशये पूर्वपक्षमाह। तथेति। यथेन्द्रशब्दस्य गौणवृत्त्या गार्हपत्यप्रकाशकत्वं तथा हविष्कृदहीति मन्त्रे आव्हानम् आव्हानवाचकम् एहीति अवहननलक्षकम्

अब आह्वान प्रकाशक मन्त्रों का आह्वान = बुलाने में विनियोग कथन करते हैं। तृतीय अधिकरण से "दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "हे हविष्कृत् देव को देने के लिये हवि बनाने वाली यजमान पत्नी तू (एहि)(आ इति) इस मन्त्र से (त्रिः) तीनवार (अवघ्नन्) वितुषीकरण के लिये तण्डुल आदि का अवहनन=कूटना करता हुआ अध्वर्यु (आह्वयति) यजमान पत्नी को बुलावे, यह वाक्य पढा है। यहां "हविष्कृदेहि" यह मन्त्र वाक्य से अवहनन का अङ्ग है किंवा लिङ्ग से मुख्य आह्वान का अङ्ग है अर्थात् उक्त मंत्र का अवहनन में विनियोग है कि उक्त मन्त्र से तीनबार अवहनन करता हुआ अध्वर्युयजमान पत्नी का आह्वान करे किंवा आह्वान में विनियोग है कि अवहनन करता हुआ अध्वर्यु उक्त मंत्र से तीन बार यजमान पत्नी का आह्वान करे, इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। तथेति। जैसे इन्द्र पद गौणवृत्ति से गार्हपत्य अग्नि का प्रकाशक है (तथा) वैसे ही "हविष्कृदेहि" तै० ब्राह्म०

हविष्कृदेहीत्यत्रघ्नन्निति पदयोजना । अव्हयतीति मन्त्रे एहीत्यर्थानुवादः ॥ ५ ॥

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥ ६ ॥

सिद्धान्तमाह । नेति । नावहननार्थो मन्त्रः । नञ

३।२।५८ इस मन्त्र में (आह्वानम्) आव्हान वाचक "एहि" यह पद अवहनन का प्रकाशक है। "हविष्कृदेहि" इस मन्त्र से अवघात करता हुआ तीन बार आव्हान करे ऐसी पद-योजना है। "आव्हयति" इस मन्त्र में एहि इसके अर्थ का अनुवाद है। तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्गके विद्यमान होनेपर भी 'निवेशनःसङ्गमनो वसूनामित्यै न्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इस वाक्य विशेष के बल से "निवेशनः" इत्यादि मन्त्रों का "गार्हपत्य"अग्नि में ही विनियोग होताहै इन्द्र में नहीं वैसे ही आव्हान प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग के विद्यमान होने पर भी "एहि' इत्यादि मन्त्रों का अवहनन में ही विनियोग होना चाहिये आव्हान में नहीं, क्योंकि उक्त वचन की भांति यहाँ भी "एहीतित्रिरवघ्नन्नाव्हयति" 'एहि' मन्त्र से तीन बार अवहनन करता हुआ आव्हान करे यह वाक्य विशेष विद्यमान है और उक्त वाक्य विशेष के विद्यमान होने पर लिङ्ग से विनियोग नहीं हो सक्ता. इसलिये उक्त वाक्य विशेष के बल से 'एहि" "मन्त्र का" अवहनन क्रियामें ही विनियोग है "आव्हान" क्रिया में नहीं ॥ ५ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। नेति। (न) अवहनन क्रिया का अङ्ग मन्त्र नहीं हो सक्ता। कालविधि) नञ् की आवृत्ति

आवृत्त्या अवघ्नन्निति अनेन अवहननकालं लक्षयित्वा काल-संबन्धविधिरपि न । कालसंबन्धस्य त्रिरभ्यासस्य च विधाने वाक्यभेदात् । हविष्कर्तुरवहननकालआव्हानस्य लोकतः चोदितत्वाज् ज्ञातत्वाच्च त्रिरभ्यासमात्रविधिः ॥ ६ ॥

गुणाभावात् ॥ ७ ॥

मन्त्रस्थस्य एहीत्यस्य अवहननलक्षणायां सदृशस्यैव उपस्थितिर्भवेत् । यथा सिंहो माणवक इत्यात्रोभयसाधारणो-

---

करके " अवघ्न[" इस पद से अवहनन काल की लक्षणा करके काल में आव्हान का आधाराधेय भाव रूप सम्बन्ध का विधान भी नहीं हो सक्ता क्योंकि काल सम्बन्ध और त्रिरभ्यास के विधान में वाक्य भेद हो जायगा । अवहनन काल में हविष् कर्ता का आव्हान लोक से (चोदितत्वात्) ज्ञात है इसलिये त्रिरभ्यास मात्र का विधान है अतः एहि मन्त्र आव्हान बोधन सामर्थ्य रूप लिङ्ग से आव्हान का अङ्ग है ॥ ६ ॥

" हविष्कृतदेहि " इस मन्त्रस्थ "एहि" इस पद का अवहनन में लक्षणा करने पर समान धर्म वाले ही की उपस्थिति होगी । जैसाकि सिंहो माणवकः इसमें उभय साधारण का उपस्थापक क्रूरत्व है वैसा "एहि" पद के मुख्यार्थ 'आव्हान' के समान शीघ्र प्रतीयमान गुण अवहनन में नहीं ऐसा कहते हैं । गुणेति । तात्पर्य यह कि गुण का सम्बन्ध न पाए जाने से " एहि " मन्त्र अवहनन का प्रकाशक नहीं हो सक्ता । जिस पद के मुख्यार्थ में स्थित गुणों का उससे भिन्न जिस अर्थ में

पस्थापकं क्रूरत्वं तथा मुख्यार्थसदृशं झटिति प्रतीयमानं रूपं नेत्याह । गुणेति ॥ ७ ॥

इतश्च तथा लिङ्गात् ॥ ८ ॥

इतः अर्थवादरूपाल्लिङ्गात् न हविष्कृदित्यस्य अवहनन-तात्पर्यकत्वम् । अर्थवादस्तु वाग्वै हविष्कृदिति । वाक्सादृश्य स्त्रीत्वेन प्रतीयते । अवहननं न स्त्रीसदृशमिति भावः ॥ ८ ॥

सम्बन्ध होता है उस पद का वह गौणार्थ कहलाता है यह नियम है, जैसाकि सिंह पदके मुख्यार्थ सिंह व्यक्ति में स्थित क्रूरता आदि गुणों का सम्बन्ध होने से "पुरुष" सिंहपद का "गौणार्थ" है और आहूत=बुलाये गये पुरुष में "अहमनेनाहूतोऽस्मि"=मैं इससे बुलाया गयाहूं इस प्रकार के ज्ञान का उत्पन्न करना 'एहि" मन्त्र के मुख्यार्थ 'आह्वान" क्रियाका गुण है उसका अवहनन क्रिया में सम्बन्ध नहीं पाया जाता, क्योंकि अवहननीय जड पदार्थ में इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सक्ता और न उक्त क्रिया में इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है और उक्तगुण का सम्बन्ध न पाये जाने से अवहनन क्रिया "एहि" मन्त्रका गौणार्थ नहीं हो सक्ती और उसके नहोने से उक्त मन्त्र "अवहनन" रूप क्रिया का प्रकाशक भी नहीं होसक्ता इसलिये उसका अवहनन प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग से अवहनन क्रियामें विनियोग मानना उचित नहीं ॥७॥

(च) और (इतः) अर्थवादरूप (लिङ्गात्) लिङ्ग के पाये जाने से (तथा) हविष् कृत् पद का अवहनन में तात्पर्य नहीं अर्थात्

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥

विधेः अव रक्षो दिवः सपत्नं वध्यासमित्यवहन्तीति अवहननाङ्गत्वेन उक्तमन्त्रविधेः कोपः निर्विषयता स्यात् । हविष्कृदेहीति मन्त्रस्यावहननाङ्गत्वोपदेशे । न चाष्टदोषग्रस्तो विकल्पो युक्त इति भावः ॥ ९ ॥

अवहनन हविष्कृत् पदका अर्थ नहीं। "अर्थवाद तो" वाग्वै हविष्कृत् वाचमेव एतत् आह्वयति=वाणिही हविष्कृत् है जो हविष्कृत् को बुलाता है वह वाणि को ही बुलाता है" यह अर्थवाद वाक्य पढ़ा है। इस अर्थवाद वाक्यमें जो हविष्कृत् को वाणि कथन किया है वह हविष्कृत् को यजमान पत्नी होने में लिङ्ग है। यदि हविष्कृत् पदसे अवहनन विवक्षित होता तो उसको वाणि न कथन किया जाता, क्योंकि वाणि और अवहनन की परस्पर कोई सदृशता नहीं है और सदृशता के विना अवहनन को वाणि कथन करना असमंजस हो जाता है और यदि हविष्कृत् पद का अर्थ यजमान पत्नी करें तो कोई असमञ्जसता नहीं होती, क्योंकि स्त्रीत्वधर्म के समान होने से यजमान पत्नी को वाणि कह सक्ते हैं। वाणि का सादृश्य "हविष्कृत् में स्त्रीत्वरूप से प्रतीत होता है। और अवहनन स्त्री सदृश नहीं है इसलिये हविष्कृत् पद का अवहनन अर्थ करना भी उचित नहीं यह भाव है ॥८॥

(च) और विधेः) "अवरक्षो दिवः सपत्नं वध्यासम्" इस मन्त्र से अवहनन करे, इस अवहनन के अङ्गत्व रूप से

अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगः। अधि० ४॥

तथोत्थानविसर्जने ॥ १० ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, उत्तिष्ठन्नन्वाह, अग्नीदग्नीन्विहरेति। तथा व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजतीति। किमुत्थानवाग्विसर्जने उद्दिश्य उक्तौ द्वौ मन्त्रौ विनियुज्येते उत पूर्ववत् काललक्षकत्वमिति संशये पूर्ववद्वाक्यभेदाभावाद् ब्राह्मणवाक्यस्य प्रबलत्वेन लक्षणायां मानाभावादनुवादकमन्त्रवाक्ये एव लक्षणोचिता। तथा चाग्नीत्पदंव्रतपदयोर्मन्त्रघटकयोः

उक्त मन्त्र के विधि की (कोपः) निर्विषयता (स्यात्) होगी। (उपदेशे) "हविष्कृदेहि' इस मन्त्र को अवहनन के अङ्गत्व रूप से विधान होने पर। और अष्ट दोष से ग्रस्तविकल्प होना उचित नहीं। और आह्वान के साथ "हविष्कृदेहि" इस मन्त्र का अङ्गत्व रूप से सम्बन्ध मानने में दोष नहीं यह भाव है ॥ ९ ॥

अब 'अग्निविहर" आदि के प्रकाशक मंत्रों का अग्निविहरण आदि में ही शेषशेषिभाव कथन करते हैं। चतुर्थ अधिकरण से। "ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में (अग्नीध्र) हे अग्नीध्र तू (अग्नीन्) यज्ञ की अग्नियों को (विहर) प्रज्वलित कर इस प्रकार अग्नि प्रज्वालन के प्रैष=आज्ञारूप मन्त्र का (उत्तिष्ठन्) उठता हुआ (अन्वाह) पाठ करे यह वाक्य। तथा (व्रतं) दुग्धपानरूप व्रत को (कृणुत) तुमसब ऋत्विक् करो (इति) इस मन्त्र से पयः पानरूप व्रत की आज्ञा को देता हुआ

उत्थानवाग्विसर्गयोरर्थयोर्लक्षणामङ्गीकृत्य तत्रैव विनियोग इति वहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । तथेति । यथाऽग्घ्नान्निति काललक्षकं तथोत्थानविसर्जने काललक्षकं । ब्राह्मणवाक्येन विनियोगेऽपि गार्हपत्यशब्दवद् न द्वितीयाश्रुतिरस्त्यतः प्रबलेन लिङ्गेनैव विनियोग इति भावः ॥ १० ॥

सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गत्वम् ॥ ५ ॥

सूक्तावाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥ ११ ॥

सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरतीति दर्शपूर्णमासे श्रुतम् ।

(वाचं) वाणिका (विसृजति) विसर्ग=खोलना करे यह वाक्य पढा है । क्या उक्त दोनों मन्त्रों का उत्थान तथा वाग् विसर्ग रूप क्रिया को उद्देश करके विनियोग है कि ' अग्नीदग्नीन्विहर" मन्त्र से उत्थान तथा " व्रतं कृणुत ' मन्त्र से वाणि का विसर्ग करे, किंवा पूर्व की भांति=अग्घ्नन् पद की भांति "उत्तिष्ठन्" तथा विसृजति यह दोनों पद उत्थान काल तथा विसर्जन काल का प्रकाशक हैं कि अध्वर्यु खड़ा होकर अर्थात् अध्वर्यु उत्थान काल में अग्नीध्र को यज्ञाग्नीयों के विहरण=प्रज्वलन करने की आज्ञा ' अग्नीदग्नीन्विहर ' मन्त्रों से तथा अध्वर्यु वाणि का विसर्ग करता हुआ अर्थात् वाणि के विसर्ग काल में ऋत्विजों का पयःपान रूप व्रत की आज्ञा 'व्रतंकृणुत" मन्त्र से दे इस संशय के होने पर पूर्व की भांति यहां वाक्य भेद का अभाव होने से ब्राह्मण वाक्य प्रबल है इस कारण लक्षणा में प्रमाण का अभाव होने से अनुवादक मन्त्र वाक्यमें ही लक्षणा

अत्र सूक्तवाकशब्दः तत्काललक्षकः अथ वा सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गत्वं प्रतिपादयतीति संशये पूर्वपक्षमाह। सूक्तेति। सूक्तवा के तद्घटितोदाहृतवाक्ये तृतीयान्तेन तत्कालो लक्ष्यते सूक्तवाकप्रस्तरयोः परार्थत्वात् । सूक्तवाकस्य

करना योग्य है। तथाच मन्त्र घटक अग्नीत् पद और व्रत पद इन दोनों का उत्थान तथा विसर्ग रूप अर्थ में लक्षणा को मान करके उत्थान और विसर्ग में ही मन्त्रों का विनियोग होना चाहिये ऐसा बादर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। तथेति। (तथा) जैसे "हविष्कृदेहीतित्रिरवघ्नन्नह्वयति" में "अवघ्नन्" पद अवहनन काल का बोधक है वैसे ही (उत्थान विसर्जने) "उत्तिष्ठन्नन्वाह" में "उत्तिष्ठन्" तथा व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति में "विसृजति" पद भी "उत्थानकाल" तथा "विसर्जनकाल" के बोधक हैं। ब्राह्मण वाक्य से विनियोग होने में गार्हपत्यशब्द की भांति द्वितीयाश्रुति भी होनी चाहिये सो नहीं इसलिये प्रबल लिङ्ग ही से विनियोग होता है यह भाव है ॥ १० ॥

अब "सूक्तवाक" का प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग कथन करते हैं पञ्चम अधिकरण से। सूक्तवाक से प्रस्तर को अग्नि में डाले, यह वाक्य दर्श पूर्णमासयाग के प्रकरण में पढ़ा है। इस वाक्य में सूक्तवाक पद उसके काल का बोधक है कि जिस कालमें होता सूक्तवाक का पाठ करें उस कालमें अध्वर्यु प्रस्तर को अग्नि में डाले किंवा सूक्तवाक को प्रस्तर प्रहरण का अङ्गत्व प्रतिपादन करता है कि सूक्तवाकको पढता हुआ अध्वर्युप्रस्तर

देवतास्तुति प्रस्तरस्य स्रुग्धारणमिति उभयोरन्यत्र विनियुक्तत्वेन तयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावो न संभवतीति भावः ॥ ११ ॥

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥ १२ ॥

सिद्धान्तमाह । उपेति । उपदेशः प्रस्तरप्रहरणं प्रति अङ्गत्वेन विधिः । अन्यथा अकस्माद् होमानङ्गभूतस्य सूक्तवाकस्य याज्याशब्दः याज्यात्वेन स्तुतिः तदर्थवादे

का अग्नि में प्रहरण करे इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। सूक्तेति। सूक्तवाक) सूक्तवाक घटित उदाहृत वाक्य में तृतीयान्त पद से (कालविधिः) उसका काल बोधित होता है क्योंकि परार्थत्वात सूक्तवाक तथा प्रस्तर को परार्थ होने के कारण इनोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं सूक्तवाक का कार्य देवता की स्तुति है और प्रस्तर का कार्य स्त्रुचा का धारण है इस प्रकार दोनों को अन्य २ में अङ्गत्व रूपसे सम्बन्ध होने से उन दोनों का परस्पर में अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्बन्ध होना सम्भव नहीं यह भाव है ॥ ११ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। उपेति। (उपदेशः) उक्त वाक्य में सूक्तवाक को प्रस्तर प्रहरण के प्रति अङ्गत्व रूप से विधान जानना चाहिये। अन्यथा = अङ्गत्वरूप से विधान न माना जाय तो (अकस्मात्) विना निमित्त के (न) प्रहरण का=होम का अङ्ग नहीं हो सकता और होम का अनङ्ग भूत सूक्तवाक की (याज्याशब्दः) याग सम्बन्धी देवता का प्रकाश

सूक्तवाको हि याज्या प्रस्तरो हविरितीत्यत्र न युज्यते। होमसाधन एव याज्यापदप्रवृत्तेरिति भावः ॥ १२ ॥

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥ १३ ॥

ननु प्रपूर्वकहरतिधातोः अग्निप्रक्षेपोऽर्थः न याग इति कथं यागप्रकाशने समर्थस्तत्राह। स इति। सः सूक्तवाकः देवतार्थः देवताद्रव्यसंबन्धरूपो यागः अर्थः प्रपूर्वकहरति-धातोर्यस्मादिति समासेन यागार्थकल्पकः। सूक्तवाकेनेति-तृतीयासंयोगात्। अयं भावः। तृतीयाश्रुत्या सूक्तवाकस्य

कत्व रूप से स्तुति सूक्तवाक के अर्थवाद में = सूक्तवाक ही (याज्या) होम का साधन मन्त्र और प्रस्तर (आहुतिः) हवनीय द्रव्य अर्थात् हवि है, इस अर्थवाद में की गई है वह उत्पन्न नहीं हो सक्ती। क्योंकि होम साधन में ही याज्या पद की प्रवृत्ति होती है यह भाव है ॥ १२ ॥

ननु "प्र" पूर्वक प्रहरति धातु का अर्थ अग्नि में प्रक्षेप मात्र है, यागरूप अर्थ नहीं = देवता के उद्देश से प्रक्षेप रूप अपूर्व कर्म नहीं तब याग के प्रकाशन में समर्थ है ऐसा कैसे कहते हो इसपर कहते हैं। स इति। (सः) सूक्तवाक (देवतार्थ जिस प्रपूर्वक प्रहरति धातुसे देवता तथा द्रव्य का सम्बन्ध रूप याग अर्थ है इस समास से याग रूप अर्थ का प्रकाशक है। "सूक्तवाकेन" इस तृतीया श्रुति से सूक्त वाकका प्रहरण के साथ सम्बन्ध होने से। यह भाव है कि तृतीया श्रुति से सूक्त

प्रहरणाङ्गत्वे सिद्धे सूक्तवाकस्थस्य अग्निरिदं हविरजुषत, अग्निः इदं प्रस्तररूपं हविः अजुषत स्वीकृतवानिति लिङ्गस्यान्यथा ऽनुपपत्त्या धातोर्यागार्थकत्वं सिध्यतीति ॥ १३ ॥

प्रतिपत्तिरिति चेन्न स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात ॥१४॥

ननु प्रस्तरस्य स्रुग्धारणे विनियुक्तस्य प्रक्षेपेण प्रस्तरं संस्कुर्यादिति प्रतिपत्तिरेव, नोद्दिश्य त्यागरूपयागाङ्गत्वमपि अपूर्वद्वयकल्पनापत्तेरिति शङ्कते । प्रतिपत्तिरिति । अपूर्वद्वयकल्पने इष्टापत्तिमाह । नेति । वक्ष्यमाणस्विष्टकृन्न्यायेन

वाक को प्रहरण का अङ्गत्व सिद्ध होनेपर सूक्तवाकस्थ (अग्निः) अग्निदेवताने (इदं) प्रस्तररूप हवि (अजुषत) स्वीकार की, इस प्रकार मन्त्र प्रतिपाद्य अग्निदेवता कर्तृक उक्त हवि का स्वीकार वर्णन करनारूपलिङ्ग की अन्यथा अनुपपत्ति से प्रहरति धातु को यागार्थ कत्व सिद्ध होता है, अतः सूक्तवाकको प्रस्तर प्रहरण का अङ्गमानने में कोई दोष नहीं ॥ १३ ॥

ननु, "स्रुवा" के धारण में उपयुक्त "प्रस्तर" का "प्रक्षेप करके प्रस्तर का संस्कार करे" इस विधि से याग की समाप्ति होने पर अग्नि में प्रक्षेप होता है वह प्रतिपत्ति रूप संस्कार कर्म है, देवता के उद्देश से त्यागरूप यागत्व भी प्रक्षेप को नहीं हो सक्ता क्योंकि अपूर्वद्वय कल्पना की आपत्ति होती है अतो देवता द्वारा भी सूक्तवाक प्रहरणका अङ्ग नहीं हो सक्ता यह आशंका करते हैं। प्रतिपत्तिरिति। अपूर्व द्वय की कल्पना

उभयसंस्कारः। प्रक्षेपः प्रस्तरं संस्कुर्वन् सन्निपत्योपकारकः तृतीयाश्रुत्या प्रस्तरकरणकः त्यागः प्रयाजादिवदारादुपकारकश्चेति भावः ॥ १४ ॥

सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगः अधि० ६।

कृत्स्नोपदोशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥ १५ ॥

अयं सूक्तवाकः कृत्स्नः प्रत्येकं दर्शे पूर्णमासे चाङ्ग,

में इष्टा पत्ति को कहते हैं। नेति। वक्ष्यमाण स्विष्टकृत् न्याय से (उभयसंस्कारः) प्रस्तर का प्रक्षेप उभय प्रकार का कर्म है अर्थात् सब आहुतियों के दिये जाने पर जो हवनीय घृत आदि द्रव्य शेष रह जाता है उस हवि शेष का जो मन्त्रों से स्विष्टकृत् नाम की अग्नि में प्रहरण किया जाता है उस कर्म का नाम "स्विष्टकृत्" है, जैसे यह कर्म मन्त्र प्रतिपाद्य देवता के उद्देश से शेष हवि का प्रक्षेप रूप होने से "प्रयाज" आदि की भांति अपूर्व कर्म तथा "प्रतिपत्ति" आख्यसंस्कार कर्म अर्थात् दोनों प्रकार का कर्म है वैसे ही प्रस्तर प्रक्षेप भी दोनों प्रकार का कर्म है, इसलिये सूक्तवाक को देवता द्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध हो जाने से प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग मानना उचित है। प्रक्षेप से प्रस्तर को संस्कार करके सन्निपत्य उपकारक है और द्वितीया श्रुति से प्रस्तर कर्मक जो त्याग रूप प्रक्षेप प्रयाजादि के भांति आरात् उपकारक भी है यह भाव है ॥ १४ ॥

अब "सूक्तवाक" संज्ञक मन्त्रों का अर्थ के अनुसार विनि-

मुत विभज्याङ्गमिति संशये पूर्वपक्षमाह । कृत्स्नोपदेशादिति । सूक्तवाकेनेति कृत्स्नस्याङ्गत्वेन उपदेशाद् उभयत्र सर्ववचनं कृत्स्न पाठः ॥ १५ ॥

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारत्वात् ॥ १६ ॥

सिद्धान्तमाह । यथेति । यथार्थं यथालिङ्गं विभज्य विनियोगः । शेषभूतानां दर्शे पूर्णमासे च प्रत्येकमङ्गभूत-

---

योग कथन करते हैं, छठे अधिकरण से । यह सूक्तवाक संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्र दर्शपूर्णमास याग के मध्य प्रत्येक दर्श याग में तथा पूर्णमास याग में अङ्ग है किंवा विभाग पूर्वक अङ्ग होना चाहिये अर्थात् "दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति यह वाक्य पढा है, इस वाक्य में जो "दर्श" तथा पूर्ण मास दोनों यागों में सूक्तवाक से प्रस्तर का प्रहरण= अग्नि कुण्ड में प्रक्षेप कथन किया है क्या वह प्रहरण प्रत्येक याग में सूक्तवाक संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्र से किया जाय किंवा उक्त संज्ञक मन्त्रों के मध्यजिन मन्त्रों का अर्थ दर्श याग के अनुकूल हो उन मन्त्रों से दर्श में और जिन मन्त्रों का अर्थ पूर्णमास याग के अनुकूल हो उन मन्त्रों से पूर्णमास में प्रस्तर का प्रहरण किया जाय इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। कृत्स्नोपदेशा दिति। "सूक्तवाकेन" इस प्रस्तर प्रहरण विधायक वाक्य में "सूक्तवाक" संज्ञा = समाख्या का ग्रहण किया है, उससे उक्त संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रस्तर प्रहरण के प्रति अङ्गत्व रूप से उपदेश पाये जाने से (उभयत्र)

देवतासंस्काररूपत्वात्। अनङ्गभूतानां संस्काराकाङ्क्षाविरहादिति भावः ॥ १६ ॥

वचनादिति चेत् ॥ १७ ॥

ननु सूक्तवाकेनेति तृतीयान्तेन वचनेन निखिलसूक्तवाकस्य विनियोगे क्रियमाणे तत्र न युक्त्यपेक्षा। न हि वचनस्यातिभारोऽस्तीति शङ्कते। वचनादिति ॥ १७ ॥

दर्श तथा पूर्ण मास याग के मध्य पत्येक याग में (सर्ववचनं) सूक्तवाक संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का पाठ करना चाहिये ॥ १५ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। यथेति (यथार्थ) सूक्तवाक संज्ञ क मन्त्रों का अर्थ के अनुसार प्रति याग प्रस्तर प्रहरण में विभाग पूर्वक विनियोग होना चाहिये क्योंकि शेषभूतसंस्कार त्वात्) सूक्तवाक संज्ञक मन्त्रों को दर्श तथा पूर्णमास संज्ञक प्रत्येक याग में अङ्ग भूत देवताओं कास्मारक होने से संस्कार रूपत्व है अर्थात् संस्कारार्थत्व है। अनङ्गभूत देवताओं को संस्कारा काङ्क्षाका अभाव होने सें यह भाव है। इस भाव का यह तात्पर्य हैं कि यागमें अङ्ग भूत देवताओं से भिन्न देवताओं को स्मरण रूप संस्कार की आकाङ्क्षा नहीं, इसलिये उक्त देवता ओं के प्रकाशक सूक्तवाक संज्ञकमन्त्रों का पाठ करना व्यर्थ व्यर्थ होता है, और जो अङ्गभूत देवतायें हैं उनोंका स्मरण रूप संस्कार की आकाङ्क्षा होती है इसलिये उनों के प्रकाशक मन्त्रों का पाठ करना सार्थक होता हैं अर्थात् जो मन्त्र जिसयाग

प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥ १८ ॥

समाधत्ते । प्रकरणेति प्रकरणस्य महाप्रकरणस्य अविभागात् कृत्स्नशो विनियोग उभे प्रति उभयोर्मिलित्वा । तथा च तृतीयाश्रुत्या विनियोगोऽपि अबाधित इति भावः ॥ १८ ॥

सम्बन्धी देवता का प्रकाश करते है उन मन्त्रों का उसयाग सम्बन्धी प्रस्तर प्रहरण में विनियोग करना चाहिये सम्पूर्ण मन्त्रोंका नहीं ॥ १६ ॥

ननु, "सूक्तवाकेन" इस तृतियान्त वचन से सम्पूर्ण सूक्तवाक सञ्ज्ञक मन्त्रों का प्रतियाग प्रस्तर प्रहरण में विनियोग करने मे लिङ्ग के अनुसार विभागपूर्वक विनियोग करना अन्यथा नहीं इस युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि वचन को कोई अति भार नहीं जिससे कि युक्त्यपेक्षा हो ऐसी शङ्का करते हैं। वचनादिति । १७।

अबउक्तशङ्का का समाधान करते हैं। प्रकरणेति। (प्रकरणस्य) दर्शपूर्ण मासदोनों के महाप्रकरण को (अविभागात्) एक होने से (कृत्स्नशब्दः) सम्पूर्ण मन्त्रों के वाचक "सूक्तवाक" शब्द का 'विनियोग" उक्त वाक्य में ग्रहण किया है वह (उभेप्रति दर्शपूर्णमास दोनों यागों को मिलाकर के अर्थात् दोनों यागो. के अभिप्राय से किया गया है एक २ के अभिप्राय से नहीं।

काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गत्वम् अधि० ॥ ७ ॥

लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥ १९ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी इत्यनुवाके इन्द्राग्निलिङ्ग का अष्टौ-ऋचा आम्नाताः । ता ऋचः केवलेन लिङ्गेन यत्र क्वचन विनियोक्तव्या इति वहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । ।लिङ्गेति । न केवलं लिङ्गेन विनियोगः, किन्तु लिङ्गक्रमसमाख्या-

---

और दोनों का प्रकरण एक होने से दोनों के प्रति कृत्स्नशब्द का प्रयोग होसक्ता है । "यथा लोके चैत्र मैत्रयोः शतंदेहि इति कृत्स्नशब्दस्यप्रयोगो दृश्यते" जैसाकि "यह सब सौ रुपया चैत्र तथा मैत्र को देदो" इस प्रकार लोक में कृत्स्नशब्द का प्रयोग देखा जाता है, इसका यह आशयकदापि नहीं होसक्ता कि सब सौ रुपया चैत्र को देदो तथा सब रुपया मैत्र को देदो, क्योंकि ऐसाहोना असम्भव है इसीप्रकार प्रकृत मेंभी समझना चाहिये कि कृत्स्नशब्द का प्रयोग प्रतियाग प्रस्तर प्रहरण में सम्पूर्ण मन्त्रों के विनियोग के अभिप्राय से नहीं किंतु यथायोग्य =अर्थ के अनुसार विभाग पूर्वक निनियोग के अभिप्राय से है, इसलिये संज्ञा के अनुसार विनियोग करना ठीक नहीं किंतु अर्थ के अनुसार विभाग पूर्वक ही विनियोग करना ठीक है। तथाच तृतीया विभक्ति सेसूक्तवाक संज्ञक मन्त्रों का प्रहरण के अङ्गरूप से विधान भी अबाधित होता है यह भाव है ॥१८॥

अब 'काम्ययाज्यानुवाक्या" संज्ञक मन्त्रों का काम्येष्टि-मात्र में अङ्गत्व कथन करते हैं। सप्तमाधिकरण से। "उभा-

भिर्मिलित्वा । काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डमिति समाख्या काम्येष्टिषु ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकाम इत्यादौ। तत्रापि क्रमप्रमाणेन प्रथमेष्टेः प्रथमयाज्यानुवाक्यायुगलमिति रीत्या समानपठितं काम्ययुक्तं काम्येष्टिसंबद्धं स्यान्न केवलेन लिङ्गेनेति भावः ॥ १९ ॥

आग्नीध्रोपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगः ॥अधि० ८॥

अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥ २० ॥

वासिन्द्राग्गी" तै० सं० १।१।१४ इस अनुवाक में इन्द्राग्नि रूप अर्थ बोधक आठ ऋचा पढी हैं। वह ऋचा केवल लिङ्ग से इन्द्राग्नी आदि देवतावाली जिस किसी इष्टिओं में बिनियोक्तव्य हैं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं। लिङ्गेति। केवल लिङ्ग से इष्टि मात्र में विनियोग नहीं किन्तु (लिङ्ग क्रम समाख्यानात्) क्रम तथा समाख्यासहकृतलिङ्ग से चार काम्येष्टि मात्र में विनियोग होता है । काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड इस समाख्या=यौगिक नाम सहकृत लिङ्ग से ऐश्वर्ययुक्त तथा प्रकाश स्वरूप इन्द्राग्नी देवता के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का निर्वाप करे। तै० सं०२।२।१। २ इत्यादि से विहितचार काम्य इष्टिओं में विनियोग होता है । उसमें भी क्रम प्रमाण से प्रथम इष्टि में प्रथम याज्यानुवाक्या युगल अङ्ग होता है इस रीतिसे समाम्नानम्) समान पठित युगल = चार युगल = जोडा (काम्ययुक्तं) चार काम्यइष्टि के साथ संबद्ध होता है केवल लिङ्ग से नहीं होता यह भाव है ॥ १९ ॥

ज्योतिष्टोमे आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठतइति श्रुतम् । अत्राग्नेयीपद प्रकृताप्रकृतसाधारणपरमुत प्रकृतमात्रपरमित संशये पूर्व पक्षमाह । अधीति । अधिकारे यत्किञ्चित्क्रतु-सन्निधौ यो मन्त्रविधिः सः अतदाख्येषु अप्रकृतमन्त्रेषु चकारेणप्रकृतेषु च स्यात् । अविशेषेण अङ्गत्वेन विहित-त्वात् ॥ २० ॥

काम्येष्टिकाण्डाध्याय में प्रजा की कामना वाला पुरुष इन्द्राग्नी देवता के उद्देश से एकादश कपाल में पकाये हुये पुरोडाश का निर्वाप करे इत्यादि चार काम्येष्टियां हैं। और उसी क्रम से अर्थात् काम्येष्टिविधिकाण्ड पठिततत्तद्देवताक कर्म के क्रम से " उभावासिन्द्राग्नी " इत्यादि मन्त्र काण्ड पढे हैं याज्ञिकों की परिभाषा में इन मन्त्रों कानाम काम्ययाज्यानु-वाक्या " " मन्त्र काण्ड का नाम " काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड है। क्या ये मन्त्र क्रम तथा समाख्या को अनादर करके जहां २ सामर्थ्य है वहां २ प्रयोग करना चाहिये किंवा क्रम तथा समाख्या अनुसारी लिङ्ग से काम्येष्टिओं में ही इस संशय के होनेपर। सब इष्टिओं में मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये। मन्त्र का विनियोजक सामर्थ्य है, मन्त्र के स्वरूप को अवगत होने पर इस अनुष्ठेयार्थ का प्रकाशक यह मन्त्र है इसलिये इसमें विनि योग करना चाहिये इस बुद्धि की उत्पत्ति होने से वह उत्पत्ति काम्येष्टिके भांति तद्देवताक

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥ २१ ॥

सिद्धान्तमाह । तदिति । तस्मिन्प्रकरणे आख्या पाठो यस्य मन्त्रस्य स एवोपस्थाने योज्यः । प्रकरणेन सन्निधिपाठेन उपपत्त्या युक्त्या च ॥ २१ ॥

अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसंबन्धात्फलवता न ह्यु

पस्थानं फलवत् ॥ २२ ॥

युक्तिमेव प्रकटयति । अनर्थेति । उपदेशः मन्त्रस्योपस्थानं प्रति साधनस्योपदेशः अनर्थकः व्यर्थः स्यात् ।

अन्य इष्टिओं में भी समान है। और उस सामार्थ्य रूप लिङ्ग का दुर्बल क्रम समाख्या से संकोच रूप बाध करना योग्य नहीं इसलिये क्रम तथा सामाख्या इनदोनों की उपेक्षा करके लिङ्ग से काम्य तथा नित्यसब इष्टिओं में मन्त्रोंका विनियोग=अङ्गत्व रूप से अन्वय करना चाहिये ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। लिङ्गेति। लिङ्ग का अनुग्राहक क्रम तथा समाख्या से "उभावां' इत्यादि पठित मन्त्र काण्ड का काम्येष्टिओं में ही अङ्गरूपसे सम्बन्ध होता है यह अर्थ है। और समाख्याका अङ्गीकारन करने पर किस अंशमें मन्त्रों का विनियोग करना चाहिये यह नहीं जाना जासक्ता। इसलिये अवश्य समाख्याका आश्रयण करना चाहिये। क्योंकि उक्त समाख्यासे मन्त्रों का याग में सम्बन्ध और कार्य विशेष सिद्ध होता है।

त्वया प्रकरणस्यानादरात् फलवता क्रतुना संबन्धबोधकप्रमाणाभावेन असंबन्धात्। उपस्थानं न स्वतः फलवत्। अयं भावः। प्रकरणाङ्गीकारे प्रकरणे सामान्यरूपेण अयं मन्त्रः क्रतुना संबद्धः तत्प्रकरणपाठादिति निश्चये केन साकं संबन्ध

जिससे याग किया जाय इस याग से मन्त्रों का सम्बन्ध सिद्ध होता जाय है। औरउक्त समाख्याका हवि के प्रदानार्थ होनेसे कार्य विशेष भी निश्चित होता है। और क्रम न माना जाय तो लिङ्ग समाख्यामात्र से प्रथम ऐन्द्राग्न युगल का द्वितीय इन्द्राग्नी देवताक इष्टि में विनियोग होजागया और द्वितीय युगल का प्रथम इष्टि में प्राप्ति होजायगी इसलिये उसकी व्यावृत्ति के लिये क्रम का ग्रहण है। यह द्वितीय व्याख्या है॥ १९॥

अब ' आग्नीध्र ' आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत मंत्रों का विनियोग कथन करते हैं। अष्टम अधिकरण से। "ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में " आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते " 'ऐन्द्र्या सदः वैष्णव्या हविर्धानं "=" आग्नेयी " ऋचाको पढता हुआ " आग्नीध्र " " नामक " ऐन्द्री " ऋचाको पढता हुआ " सदः " नामक " वैष्णवी " ऋचा को पढता हुआ " हविर्धान" नामक मण्डप के समीपस्थित होवे, इत्यादि वाक्य पढे हैं। इत्यादि वाक्यों में " आग्नेयी" आदि पद प्रकृत तथा अप्रकृत साधारण मन्त्रों का आग्नीध्र आदि मण्डपों के उपस्थान में विधान करता है किंवा प्रकृत मन्त्रों का ही विधान करता है अर्थात् उक्त वाक्यों में " आग्नीध्र " आदि मण्डपों

इति विशेषजिज्ञासायाम् इदं वाक्यमुपस्थानेन फलवत्क्रतुसंबद्धेन संबद्धं करोतीति परम्परया फलवत्त्वादुपपन्ना प्रवृत्तिः । अन्यथा उपस्थानस्य फलकल्पनापत्तेरिति ॥२२॥

के उपस्थान में अप्रकृत "आग्नेय" आदि मन्त्रों के अथवा स्तोत्र शस्त्रादि के साधन आग्नेय आदि प्रकृत मंत्रों के विनियोग का विधान है इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। अधीति । (अधिकारे) यत्किञ्चित् ज्योतिष्टोम याग के सन्निधि में (मंत्रविधिः) जो "आग्नीध्र" आदि मंडपों के उपस्थानार्थ "आग्नेयी" आदि मंत्रों का उपदेश है वह (अतदाख्येषु) अप्रकृत और चकार से प्रकृत मंत्रों में जानना चाहिये, क्योंकि (शिष्टत्वात्) अविशेष आग्नेयी" आदि शब्द से अङ्गत्वरूप से विधान पाया जाता है ॥ २० ॥

अब सिद्धांत को कहते हैं। तदिति । (तदाख्या) जिस स्तोत्र तथा शास्त्र आदि के साधन आग्नेय आदि मंत्रों का प्रकरण में पाठ है, उन्हीं प्रकृत मंत्रों का मण्डपोपस्थान के प्रति विनियोग विधान किया है, अप्रकृत का नहीं, क्योंकि(प्रकरणोपपत्तिभ्यां) सन्निधि पाठ से तथा युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है। यद्यपि आग्नेय आदि मंत्रों का सामान्य रूप से निर्देश किया है। विशेषरूप सें नहीं तथापि यहां प्रकृत मंत्रों का ही ग्रहण युक्त है अप्रकृत मंत्रों का नहीं, क्योंकि सन्निहित तथा अप्रकृत सन्निहित है और " सन्निहितासन्निहितयोश्च सन्निहितो

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥ २३ ॥

नन्वेवं सति अप्रकृतपठितानां मन्त्राणां विनियोगः कुत्रापि न स्यादित्यत आह । सर्वेषामिति । सर्वेषामप्रकृत पठितानां वाचःस्तोमक्रतुसंबन्धस्य, अविनियुक्ता वाचःस्तो

बलीयान् " = सन्निहित तथा असन्निहित के मध्य सन्निहित बली होता है. और बली होने से उसका का परित्याग अनुचित है इसलिये " आग्नीध्र " आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत ' आग्नेय " आदि मंत्रों का ही विनियोग होना चाहिये अप्रकृत का नहीं यह भाव है ॥ २१ ॥

अब युक्ति ही को प्रकट करते हैं । अनर्थेति । (उपदेशः) मन्त्र का उपस्थान के प्रति साधनत्व रूप से उपदेश (अनर्थक) व्यर्थ (स्यात) हो जाता है । क्योंकि तुम से प्रकरण का आदर न होने के कारण (फलवत्ता) फलवाले ज्योतिष्टोम याग के साथ सम्बन्ध बोधक प्रमाण का अभाव होने से अप्रकृत मंत्रों का सर्वथा (असम्बन्धात्) असम्बन्ध है । और (उपस्थानं) जिस उपस्थान के साथ सम्बन्ध है वह (फलवत्) फलवाला (नहि) नहीं है । यह भाव है कि प्रकरण का अङ्गीकार करने पर प्रकरण में सामान्य रूप से यह मन्त्र याग के साथ संबद्ध है क्योंकि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पाठ पाया जाता है इस निश्चय के होने पर किस के साथ सम्बन्ध है ऐसी विशेष की जिज्ञासा होने पर " आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते " यह वाक्य फलवाले याग के साथ सम्बद्ध उपस्थान के साथ

मे संपद्यन्तइति वचनेन फलसंबन्धस्य उपदिष्टत्वान्नकाऽप्यनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

" आग्नेय " मंत्र को सम्बद्ध = विनियोग विधान करता है, इस प्रकार परम्परा से उपस्थान को फल वाला होने से उक्त उपस्थान में पुरुष प्रवृत्ति उपपन्न होती है । अन्यथा=परम्परा संबंध से क्रतु के साथ सम्बद्ध न मानने पर उपस्थान के फल की कल्पना की आपत्ति = गौरव का प्रसङ्ग होगा । तात्पर्य यह है कि ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध प्राप्त हुए मंत्रों का यदि उपस्थान के साथ सम्बन्ध मानें तो उनका उपदेश सफल हो सक्ता है, क्योंकि ज्योतिष्टोमफलवाला है और उसी के द्वारा मन्त्रों का उपस्थान के साथ सम्बन्ध होता है परन्तु प्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने के कारण ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध है, अप्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का नहीं, इसलिए प्रकृत मन्त्रों का परित्याग करके अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग मानना ठीक नहीं । २२ ।

ननु. एवं=प्रकृत मन्त्रों का विनियोग माननेपर अप्रकृत पठित मंत्रों का विनियोग कहीं भी नहीं होना चाहिये इसपर कहते हैं । सर्वेषामिति । (सर्वेषां) सब अप्रकरण पठित मंत्रों का वाचः स्तोमयाग में अङ्गत्व रूप से सम्बन्ध को और " अविनियुक्ता वाचः स्तोमेसंपद्यन्ते " इस वचन से फल सम्बन्ध को उपदिष्ट होने से कोई भी अनुपपत्ति नहीं है । ननु ज्योतिष्टोम के प्रकरण में जो " अग्ने आयाहि वीतये " इत्यादि आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव मन्त्र पढे गये हैं उनका स्तोत्र शस्त्र आदि क्रिया में विनियोग विधान किये जाने के कारण पुनः उपस्थान रूप

भक्षमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगः ॥ अधि०९॥

लिङ्गसमाख्याभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥ २४ ॥

अग्निष्टोमप्रकरणे भक्षेहीत्यनुवाकः भक्षानुवाक इति-समाख्याविशिष्टः पठितः असौऽनुवाकः सर्वः भक्षणाङ्गमुत अनुवाकमध्यपठितवाक्यानि कानिचिल्लिङ्गेन केवलेन

विधान किये कर्मान्तर में विनियोग मानना ठीक नहीं, क्योंकि विनियुक्त का विनियोग नहीं हो सक्ता इसमें भी "सर्वेषां चोपदिष्टत्वात्" यही उत्तर है। (सर्वेषां) जितने मंत्र हैं उन सबका (उपदिष्टत्वात्) वाचः स्तोम याग में विनियोग विधान किया है, यदि एक कर्म में विनियुक्त का कर्मान्तर में विनियोग नहीं हो सक्ता तो "वाचः स्तोम" याग के अतिरिक्त ज्योतिष्टोम आदि यागों में जो मंत्रों के पुनः विनियोग का विधान उपलब्ध होता है वह नहीं होना चाहिये, परन्तु उसके उपलब्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक कर्म में विनियुक्त मंत्र का कर्मान्तर में विनियोग हो सक्ता है, इसलिये स्तोत्र तथा शस्त्र आदि क्रिया में विनियोग होने पर भी "आग्नीध्र" आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत मंत्रों का ही विनियोग मानना ठीक है अप्रकृत का नहीं ॥ २३ ॥

अब सोम भक्षण के प्रकाशक मंत्रों का यथालिङ्ग "ग्रहण" आदि कें में विनियोग कथन करते हैं, नवम अधिकरण से। अग्निष्टोम याग कें प्रकरण में "अभिषुत्या हवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि सोम भक्षयन्ति" = सोम को कूटरस

क्रियान्तरेऽपिविनियुज्यन्तइति संशये पूर्वपक्षमाह। लिङ्गेति। यथा काम्ययाज्याकाण्डमिति समाख्यासहितेन लिङ्गेन मन्त्राणां काम्येष्टिष्वेव विनियोगः तथा भक्षानुवाकसमाख्यासहितेन भक्षयामीति लिङ्गेन भक्षार्थताऽनुवाकस्य। एतदनुसारेण मध्यवर्तिलिङ्गान्तराण्यमुख्यवृत्त्या भक्षपराणि ॥२४॥

निकाल "आहवनीय" अग्नि में हवन करके शेष बचे सोम रस का मण्डप के पश्चिम द्वार से निकलकर "सदो" मण्डप में बैठ सब ऋत्विक् भक्षण करें, इस प्रकार शेष सोम रस के भक्षण का विधान करके "भक्षेहि" यह अनुवाक " भक्षानुवाक इस समाख्या विशिष्ट पठित है। यह सर्व अनुवाक भक्षणका अङ्गहै किंवा अनुवाकके मध्य कोई पठित वाक्यकेवल लिङ्ग से " ग्रहण, अवेक्षण, निगरण, सम्यग्जारण रूप क्रियान्तर में भी विनियुक्त होते हैं इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। लिङ्गेति। जैसा कि ' काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्" इस समाख्या सहित लिङ्ग से काम्येष्टिओं में ही मंत्रों का विनियोग = अङ्गत्व रूप से अन्वय किया गया है वैसा ही (लिङ्ग समाख्याभ्यां भक्षानुवाक समाख्या सहित "भक्षयामि" इस लिङ्ग से (भक्षार्थता) भक्षण में ही (अनुवाकस्य) "भक्षेहि" इत्यादि अनुवाक का विनियोग है। इसके अनुसार मध्यवर्ति = ग्रहण " अवेक्षण, निगरण, तथा सम्यग्जारण प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्गान्तर अमुख्य वृत्ति से भक्ष के प्रतिपादक हैं अर्थात् सम्पूर्ण अनुवाक का "भक्षण" में ही विनियोग है ग्रहण आदि में नहीं ॥ २४ ॥

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् ॥ २५ ॥

सिद्धान्तमाह । तस्येति । तस्य भक्षेहीति साध्यासमित्यादिमन्त्रकलापस्य अपकर्षः भक्षवाक्याद्विच्छेदः रूपोपदेशाभ्याम् । रूपं ग्रहणप्रकाशनसामर्थ्यम् अश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासमित्यंशनिष्ठम् उपदेशः सदसि भक्षयन्तीति भक्षणविधिः । ताभ्भाम् । ननु भक्षणविधिवद् ग्रहणविध्यभावाद् ग्रहणलिङ्गमविहितमर्थं कथं प्रकाशदयेत आह अर्थस्य ग्रहणरूपार्थस्य चोदितत्वाद् भक्षणविधिनैव तस्य

अब सिद्धान्त को कहते हैं। तस्येति। (तस्य) भक्षेहि इससे आरम्भ करके "सध्यासम्" इत्यादि मंत्र कलाप का (अपकर्षः) भक्षण वाक्य से विच्छेद करके "ग्रहण" आदि में विनियोग होना चाहिये, क्योंकि (रूपोपदेशाभ्यां) "अश्विनोस्त्वाबाहुभ्यां सध्यासम्" इस अंश में "रूपं" ग्रहण प्रकाशन सामर्थ्य लिङ्ग है तथा उपदेश "सदसि भक्षयन्ति" यह भक्षण विधि ग्रहण का विधान करती है। इन दोनों हेतुओं से ग्रहण आदि में अंगांगिभाव सिद्ध होताहैनतु, भक्षणविधान की भांति ग्रहण के विधान का अभाव होने से ग्रहणलिङ्ग अविहित अर्थ को कैसे प्रकाश कर सकता है इस पर कहते हैं। अर्थ स्यति। (अर्थस्य) ग्रहण रूप अर्थ को (चोदितत्वात्) भक्षणविधि से ही उक्त ग्रहण को विहितत्व है। अर्थात् ग्रहण के विना भक्षण नहीं हो सक्ता. इसलिये जिसके बिना जो नहीं हो सकता उसका विधान उसके

विहितत्वात् । ग्रहणेन विना भक्षणानुपपत्तेरिति । तथा च भक्षेहीति सध्यासमित्यन्तो ग्रहणे । वसुमद्गणस्येत्यादि-भक्षयामीत्यन्तो भक्षणे एवेति विभज्यैव विनियोगः । समाख्यया लिङ्गबाधासंभवादिति भावः ॥ २५ ॥

मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकमन्त्रत्वम् ॥अधि१०॥

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्त-
योरेकार्यसंयोगात् ॥ २६ ॥

तत्रैव मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग् जुषाणा सोमस्य-

विधान से ही समझा जाता है,पृथक विधान की आवश्यकता नहीं । तथाच=ग्रहण आदिओं के विहित होने पर " भक्षेहि " इत्यादि " सध्यासम् " इत्यन्त ग्रहण में । " वसुमद्गणस्य " इत्यादि भक्षयामि"इत्यन्त मंत्र भक्षण में ही विनियुक्त होताहै. इस प्रकार विभाग करके ही विनियोग होना चाहिये । समा-ख्या से लिंग बाध असम्भव है यह भाव है ॥ २५ ॥

मन्द्राभिभूतिरित्यादि भक्षयामि " इत्यन्तवाक्य को एक मंत्रत्व कथन करते हैं । दशम अधिकरण से । भक्षानुवाक में ही हर्ष का कारण विघ्नों का अभिभव करनेवाली यज्ञों का करण मुखस्थित वाग्देवता सोम को सेवन कर तृप्त हो यह और इसके आगे " वसुमद्गणस्य " इत्यादि और भक्षयामि-इत्यन्त भक्ष मंत्र है । तत्र = दोनों मंत्रों में से प्रथम मंत्र=तृप्ति प्रकाशक प्रथम मंत्र भक्षण प्रकाशक द्वितीय मंत्र से पृथक्

तृप्यत्विति अग्रे वसुमद्गणस्येति भक्षयाम्यन्तः भक्षमन्त्रः। तत्र प्रथम मन्त्रः भक्षणमन्त्रात् पृथक् सन् वाचः तृप्तिं प्रकाशयति उत भक्षणमन्त्रशेष इति संशये पूर्वत्र तृप्तिलिङ्गाद् भिन्नं वाक्यमिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। गुणेति। मन्द्रादिः मन्द्रशब्दप्रथमो मन्त्रः भक्षयामीत्यन्तेन अग्रिमेण सहैकमन्त्रः एकं वाक्यं स्यात्। गुणस्य भक्षणफलस्य वाचः तृप्तेः तेनाभिधानात्। ननु द्वयोर्विभागे साकाङ्क्ष-

---

रहकर वाणि के तृप्ति को प्रकाशित करता है किंवा भक्षण मंत्र का शेष होकर भक्षण का अंग है पूर्व = ग्रहण वाक्य की भांति तृप्ति लिङ्ग से भिन्न वाक्य है। भक्षण मंत्र का शेष नहीं ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं। गुणेति। (मन्द्रादिः) मन्द्र शब्द है प्रथम जिसमें ऐसा मंत्र "भक्षयामिः" इत्यन्त अग्रिम वाक्य के साथ (एक मन्त्रः) एक वाक्य है। क्योंकि (गुणाभिधानात्) भक्षण का फल वाणी की तृप्ति रूप गुण को उक्त मन्द्रादि मंत्र के द्वारा कथन पाया जाता है। ननु, तृप्यतु भक्षयामि आख्यातविशिष्ट दोनों वाक्यों के विभाग होनेपर आकाङ्क्षा का अभाव होनेसे एक वाक्यत्व कैसे होसक्ता है इसपर कहते हैं। तयोरिति। तयो) मन्त्रस्थ तृप्ति तथा भक्षण के प्रकाशक दोनों वाक्यों का (एकार्थ) तृप्तिविशिष्ट भक्षण यह एक वाक्यार्थ है उसके बोधरूप अर्थके साथ (संयोगात्) जन्य जनक भावरूप सम्बन्ध होने से एक वाक्यता है। यह भाव है कि तृप्ति का विधान

त्वाभावात् कथमैक्यमत्राह, तयोः वाक्ययोः एकेन अर्थेन एकशाब्दबोधेन संयोगात्। अयं: भावः। तृप्तेर्न विधिसंभवः। तस्याः पुरुषकृत्यसाध्यत्वात्। स्वर्गवत्। किंतु भक्षणे कृते स्वाभाविकी सा। अतस्तस्या मन्त्रानपेक्षत्वाद् भक्षणेन किं भवतीत्याकाङ्क्षां संपाद्य भक्षयामि तृप्तिर्भवतु प्राप्तकाले लोटं कृत्वा कथंचिदेकवाक्यता संपादनीयेति ॥ २६ ॥

इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षणेषु ऊहेन विनियोगः।

अधि० ११।

लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥

सम्भव नहीं। क्यों कि स्वर्ग की भांति उक्त तृप्ति को पुरुष प्रयत्न से साध्यत्व नहीं। किंतु वह भक्षण करने पर स्वभाविक होती है अतः उक्त तृप्ति को मन्त्र की अपेक्षा न होनेसे भक्षणसे क्या होता है इत्याकारक आकाङ्क्षा को संपादन करके भक्षयामि तृप्ति र्भवतु इस में प्राप्त काल में लोट करके कथंचित् एक वाक्यता करना चाहिये। वाक् तृप्ति प्राप्त काल है इसलिये भक्षण करता हूं इस प्रकार एक वाक्यता है। पूर्वपक्षमें समन्त्र भक्षण करके तृप्ति मन्त्र का पाठ करना चाहिये, क्योंकि भक्षण के अनन्तर तृप्ति होती है, सिद्धान्त में तो भक्षण से पूर्वही पाठ करना चाहिये ॥ २६ ॥

अब 'इन्द्र पीतस्य' इत्यादि मन्त्रों का सब शेष सोमों के भक्षणों में ऊह करके विनियोग कथन करते हैं। एकादश अधि

तत्रेन्द्रपीतस्येतिपदघटितभक्षमन्त्रस्य अनिन्द्रे मैत्रावरुणादिग्रहभक्षणे पाठोऽस्ति न वेति संशये पूर्वपक्षमाह । लिङ्गेति । समानविधाने प्रकृतिविकृतिभावशून्यस्थले अनैन्द्राणां मैत्रावरुणादिग्रहाणां भक्षणे अमन्त्रत्वम् ।मन्त्र रहितत्वम् लिङ्गविशेषस्य इन्द्रपीतस्येति लिंगस्य निर्देशात् । अत्र भावः । ऐन्द्रानैन्द्रग्रहाणामेकक्रतौ तुल्यतया पाठेन प्रकृतिविकृतिभावाभावेन अनैन्द्रभक्षे इन्द्रपीतस्येतिमन्त्रप्राप्त्यभावेन लिङ्गाभावादूहासम्भवादमन्त्रभक्षणमिति ॥ २७ ॥

कारण से । भक्षानुवाक में ही पठित ' इन्द्र पीतस्य ' इस पद से घटित भक्षमन्त्र का मैत्रावरुणादि अनैन्द्र ग्रह भक्षण में पाठ होता है किंवा नहीं अर्थात् उक्त मन्त्र का ऐन्द्रप्रदान के शेषभूत सोमरस के पान में ही विनियोग है किंवा अनैन्द्र प्रदान के शेषभूत सब सोम रसों के पान में विनियोग है इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । लिङ्गेति (समान विधानेषु) प्रकृति विकृति भाव से शून्य स्थलों में (अनैन्द्राणां) मैत्रावरुणादि ग्रहों के भक्षण में (अमन्त्रत्वं) मन्त्र रहितत्व है अर्थात् उक्त मन्त्र का विनियोग नहीं होता । क्योंकि (लिङ्ग विशेषनिर्देशात्) लिङ्ग विशेष= इन्द्रपीतस्य ' इस लिङ्ग का कथन पाया जाता है । यह भाव है कि ऐन्द्र तथा अनैन्द्र ग्रहों के एक क्रतु में समान रूप से पाठ होनेके कारण ऐन्द्र अनैन्द्र ग्रहों का परस्पर प्रकृति विकृति भावका अभाव होने से अनैन्द्र भक्षण में इन्द्रपीतस्य इसमन्त्रकी प्राप्तीका अभाव होनेसे और अनैन्द्रपीतशेषत्व प्रकाशन सामर्थ्य रूपलिङ्ग का अभाव होनेसे तथा ऊह का असम्भव होने से अनैन्द्र शेषका भक्षण अमन्त्रकहोगा॥२७॥

यथादैवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥ २८ ॥

पूर्वपक्षान्तरमाह । यथेति । हि यतः तत्प्रकृतित्वम् ऐन्द्रप्रकृतित्वं सर्वग्रहाणां दर्शयति सोमग्रहणमन्त्रः । इन्द्राय त्वा वसुमते जुष्टं गृह्णामीति इन्द्रोद्देशेनैव सोमग्रहणे निखिलसोमधर्मा इन्द्रयागमुद्दिश्येति तस्यैव प्रकृतित्वमिति भावः । इत्थंचानैन्द्राणां विकृतित्वाद्यथादैवतं यद्यद्देवताको यागः तत्तद्देवताया ऊहेन तत्र तत्र भक्षमन्त्रपाठः ॥ २८ ॥

अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान रूप दूसरा पूर्व पक्ष करते हैं। यथेति। (हि) जिसकारण (तत्प्रकृतित्वम्) ऐन्द्र प्रदान प्रकृति कत्व सब ग्रह प्रदानों को सोमग्रहण मन्त्र देखाता है। वसु नामदेवता से युक्त इन्द्र देवता के निमित्त प्रीती का विषय भूत तुम सोम को ग्रहण करता हूं ' मै० सं० ४।५।४ इत्यादि वाक्य से इन्द्र के उद्देश से ही सोम के ग्रहण में इन्द्रयाग को उद्देश करके निखिल=सबसोम के धर्म कथन किये गये हैं अतः ऐन्द्र ग्रह प्रदान को ही प्रकृतित्व है यह भाव है। इत्थंच ऐन्द्रग्रह प्रदान तथा अनैन्द्रग्रह प्रदानों का परस्पर प्रकृति विकृति भाव सिद्ध होने पर अनैन्द्रग्रहोंको विकृतित्व होने से (यथादैवतं) जिस जिस देवताक याग है उन उन देवतों का ऊह करके उन उन कर्मों में भक्षमन्त्र का पाठ करना चाहिये। जो सब अङ्गों= धर्मों के सहित शास्त्र से प्राप्त है उसका नाम "प्रकृति" इससे विपरीत का नाम "विकृति" है तथा विरुद्ध कल्पनाका नाम "ऊह" है अर्थात् प्रकृति में विनियुक्त मन्त्रका "प्रकृतिवद् विकृतिः 'कर्तव्या' इसचोदक वाक्यके बलसे विकृतिमें अति देश =प्राप्ति होनेपर मन्त्रस्थप्रकृति सम्बन्धी देवता वाचीपदके स्थानमें विकृति सम्बन्धी देवता वाचीपदकी कल्पना का नाम 'ऊह' है॥२८॥

अभ्युन्नीतसोमभक्षण इन्द्रस्याप्यु पलक्षणम् ॥ अधि १२ ॥

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥ २९ ॥

एवमपर्यवसितेऽधिकरणे अत्रैव विचारान्तरमारभ्यते सवनसंबन्धिचमसगणेषु प्रथमं हूयमाना नव ग्रहाः सवन-मुखीयाः। ते नवापि प्रथममिन्द्राय हूयन्ते। तत्रैव ये मैत्रावरुणाब्राह्मणाच्छंसिनेष्टृ पोत्राग्नीध्रीयचमसाः तेषु प्रथममिन्द्राय हुत्वा भक्षि तेषु सशेषेष्वेव पुनर्द्रोणकलशा-दभ्युन्नीय मित्रावरुणादिदेवताभ्यो हुत्वा तत्र शेषभक्षणं

अब पुनरभ्युन्नीत सोम भक्षण इन्द्र का भी उपलक्षण है ऐसा कथन करते हैं। द्वादश अधिकरण से। एवं = पूर्व पक्ष मात्र के कथन से अधिकरण समाप्त न होते ही अत्रैव = इन ग्रहों के ही विषयमें विचारान्तर अन्य=विचार किया जाता है। सवन के संबन्धि चमस गणों में से सवनमुखीय संज्ञक नव ग्रह प्रथम हवन किये गये हैं। वह हवन भी प्रथम इन्द्र के उद्देश्य से हवन किये जाते हैं। उसमें ही जो मैत्रा वरुण, ब्राह्मणाच्छंसि, नेष्टृ, पोतृ, तथा आग्नीध्र सम्बन्धि पाञ्चचमस हैं, प्रथम = सकृत् = "इन्द्र के लिये होम करके अभक्षित सशेष उन पाञ्चचमसों = सोमरसों सहित उक्त ग्रहों में फिर "द्रोण नामक कलश से सोमरस डालकर मित्रावरुणादि देवताओं के उद्देश से हवन करके उस सोमरस पात्रों में शेष = बाकी रह जाता है उसका सब ऋत्विक् भक्षण करते हैं। भक्षण में मन्त्रों का अङ्ग रुप से अन्वय केलिये ऊहपक्ष में 'इन्द्रपीतस्य'

क्रियते । तत्रोहपक्षे इन्द्रपीतस्य मित्रावरुणाभ्यां पीतस्येत्याद्युभयोरुच्चारणमुत केवलं पुनरभ्युन्नीतेषु मित्रावरुणाभ्यां पीतस्येत्यूह इति संशये सिद्धान्तेनोपक्रमते। पुनरिति । पूर्वदार्शितस्थलेषु सर्वेषाम् इन्द्रसहितमित्रावरुणादीनाम् उपलक्षणं भक्षमन्त्रे योजनं कर्तव्यम् । द्विशेषत्वात् । इन्द्रः प्रथमहवनोद्देश्यः तच्छेषवत्येव पात्रे पुनर्गृहीत्वा मित्रावरुणोद्देशेन हुतत्वादिन्द्रामित्रावरुणात्मकोभयपीतशेषत्वाद्भक्षद्रव्यस्य ॥ २९ ॥

मित्रावरुणाभ्यांपी तस्य " इत्यादि दोनों का उच्चारण करना किंवा केवलमित्रावरुणाभ्यांपीतस्य " का ऊह करना इस संशय के होने पर सिद्धान्त से प्रारम्भ करते हैं । पुनरिति । (पुनरभ्यून्नीतेषु) पूर्वदर्शित स्थलों में अर्थात् दो बार डाला गया है सोमरस जिन ग्रहों में उनके भक्षण काल में (सर्वेषाम्) इन्द्र सहित मित्रावरुण आदि सबों की (उपलक्षणं) भक्ष मन्त्रमें योजना करनी चाहिये। क्योंकि (द्विशेषत्वात् वह क्षभणीय सोम सब का शेष है अर्थात् इन्द्र प्रथम हवन में उद्देश्य है इन्द्र प्रदत्त सोमरस के शेष वाले ही पात्र में पुनर्वार ग्रहण करके मित्रावरुण के उद्देश से हवन होता है इस कारण इन्द्र मित्रावरुणात्मक उभय प्रदत्त का शेषत्व भक्ष सोम द्रव्य को है। अतिदेश, प्राप्ति, योजना, तथा ऊह ये पर्य्यायवाचक शब्द है। यहां " पीत " शब्द का अर्थ प्रदान है ॥ २९ ॥

अपनयाद्वा पूर्वस्या नुपलक्षणम् ॥ ३० ॥

पूर्वपक्षी स्वमतमाह । अपनयादिति । पूर्वस्य प्रथमं यदुद्देशेन होमः तस्येन्द्रस्य अनुपलक्षणं मन्त्रे योजनं नकर्तव्यम् । इन्द्रपीतशेषे पुनः मैत्रावरुणाद्युद्देशेन गृहीते पूर्वमहिते पुनर्गृहीते मित्रावरुणादिदेवतान्तरसंबन्धे इन्द्रसंबन्धस्य अपनयाद्विच्छेदात् ॥ ३० ॥

अग्रहणाद्वाऽनपायः स्यात् ॥ ३१ ॥

एतदुत्तरमाह । अग्रहणादिति अनपायः मन्त्रे इन्द्रस्य-

अब पूर्व पक्षी अपने मत को कहता हैं। अपनयादिति। (पूर्वस्य) प्रथम जिसके उद्देश से हवन किया गया है उसका अर्थात् इन्द्र का (अनुपलक्षणं) भक्ष मन्त्र में योजना नहीं करनी चाहिये क्योंकि इन्द्र के उद्देश से जिस सोम का हवन किया गया है उसके शेष में पुनः मैत्रा वरुणादि के उद्देश से सोमान्तर मिलाकर होम केलिये ग्रहण होने पर = पूर्व शेष के सहित पुनः ग्रहण में मित्रावरुणादि देवतान्तर का सम्बन्ध होने पर इन्द्र के सम्बन्ध का (अपनयात्) विच्छेद हो गया है ॥ ३० ॥

अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं। अग्रहणादिति। (अनपायः) भक्षमन्त्र में इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद नहा (स्यात्) हो सक्ता। क्योंकि (अग्रहणात्) द्रोणनामक कलश से मित्रावरुणादि के उद्देश से गृहीत द्रव्य का भेद पूर्व शेष में

विच्छेदो न। अग्रहणात्। द्रोणकलशान्मित्रावरुणाद्युद्देशेन गृहीतद्रव्यभिन्नत्वात्पूर्वशेषस्य। अयं भावः। पूर्वशेषे गृह्णातीत्येव विधिः। तथा च मित्रावरुणादिसंबन्धिसोमरसस्य पूर्वशेषेणसंबन्धरूपः संस्कारो विधीयते। एतावन्मात्रेण इन्द्रसंबन्धापनयो न भविष्यति। तस्मात् सर्वेषामुपलक्षणम् ॥ ३१ ॥

पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणम्। अधि १३।

पात्नीवते तु पूर्ववत्त्वात् ॥ ३२ ॥

है। यह भाव है कि "पूर्व शेषे द्रोणकलशान् मित्रा वरुणाद्यर्थं गृह्णाति = पूर्व शेष में "द्रोण" नामक कलश से मित्रावरुणादि के लिये सोमरस का ग्रहण करे, यही विधान है। तथा च मित्रा वरुणादिओं का सम्बन्धि सोमरस पूर्व शेष के साथ सम्बन्ध रूप संस्कार काविधान है। और सम्बन्धरूप संस्कार मात्र से इन्द्र सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता। इसलिए इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद न होने से उक्त शेष के भक्षण के समय भक्ष मन्त्र में "इन्द्र मित्रा वरुणादि सब का उपलक्षणं = ऊह करना चाहिये ॥ ३१ ॥

अब "पात्नीवत" पात्रस्थ होमशेष के भक्ष मन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवताके साथ इन्द्र, वायु आदि की 'अनुपलक्षण' = अनूह कथन करते हैं। = त्रयोदश अधिकरण से। ज्योतिष्टोमयाग के ' प्रातः सवन " में ' ऐन्द्रवायव " "मैत्रावरुण आश्विन ये तीन ग्रह द्विदेवत्य हैं उन देवताओं के उद्देश से हवन होकर शेष सोम वचन से आदित्य नाम की स्थालि को

प्रातः सवने ऐन्द्रवायवमैत्रावरुणाश्विनग्रहाः द्विदेवत्याः। तेषां होमशेषः वचनादादित्यस्थालीं प्राप्य पश्चात्तृतीयसवने आग्रयणस्थालीं प्राप्नोति पश्चादेवं परम्परया द्विदेवत्यशेषआग्रयणस्थाल्यां स्थिते उपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णातीति वचनेनाग्रयणस्थालीस्थद्विदेवत्यशेषसहिताग्रयणस्थालीस्थसोमरसस्य पात्नीवते ग्रहणं विहितम्। तत्र होमशेष-

---

प्राप्त होकर पश्चात् "आदित्य" स्थाली से तृतीय सवन=सायंसवन में "आग्रयण" नाम की स्थाली में डाला जाता है इस प्रकार परम्परा से आग्रयण स्थाली में द्विदेवत्य शेष के स्थित होने पर पश्चात् "यस्मिन पात्रे उपांशु संज्ञको ग्रहो गृहीतः, तदुपांश पात्रम्। तेन पात्रेण आग्रयण स्थालीतः पत्नीवद्देवतार्थं ग्रह गृह्णीयात्। तै० सं० ६।५।७।१।' आग्रयण नामक स्थाली से "उपांशु" पात्र द्वारा "पात्नीवत" नामक पात्र में अग्निदेवता के लिये सोमका ग्रहण करे. इस वाक्य से आग्रयण स्थालीस्थ द्विदेवत्य शेषके सहित आग्रयणस्थालीस्थ सोमरस के पात्नीवत नामक पात्र में ग्रहण का विधान किया गया है। तहां होम शेष के भक्षण समय भक्षण मन्त्र में द्विदेवत्य सोमशेषों के सम्बन्धी देवताओं का ऊह होता है किंवा नहीं अर्थात् ' इन्द्रवायु पत्नीवत्पीतस्य " इस प्रकार "पत्नीवान् के साथ इन्द्र वायु आदि की "ऊहः" होनी चाहिये किंवा "पत्नीवत्पीतस्य" इस प्रकार केवल "पत्नीवान् की ही 'ऊह" होनी चाहिये इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। पात्नीवत इति (पात्नीवते) पात्नीवत नामक ग्रहमें

भक्षणे भक्षणमन्त्रे द्विदेवत्यानाम् ऊहो ऽस्ति न वेति संशये पूर्वपक्षमाह। पात्नीवतइति। पत्नीवते पात्नीवतशेषभक्षण-मन्त्रे द्विदेवत्या अप्यूह्याः पूर्ववत्त्वात् पूर्वं हुतद्विदेवत्यशेषव-त्त्वात् पूर्वाधिकरणसिद्धान्तवत् ॥ ३२ ॥

ग्रहणाद्वा ऽपनीतः स्यात् ॥ ३३ ॥

सिद्धान्तमाह ग्रहणादिति। ग्रहणात् पत्नीवतमाग्रहणाद्

स्थित होमशेष के भक्षण समय भक्षण मन्त्र में द्विदेवत्य सम्बन्धी देवतों की "ऊह" करनी चाहिये क्योंकि (पूर्वव-त्वात्) पूर्व होम किये देवता सम्बन्धि शेषवाला है पूर्व अधीकरण के सिद्धान्त के समान अर्थात् जैसे इन्द्र शेष में सोमान्तर मिलाकर "मित्रावरुण आदि के उद्देश से हवन करनेपर जो शेष रह जाताहै उसमें इन्द्र का सम्बन्ध विद्यमान रहता है अर्थात् उसके सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता वैसे ही इन्द्रवायु आदि के शेष में सोमांतर मिलाकर 'पत्नीवान्" के उद्देश से हवन करने पर भी जो शेष वच जाता है उसमें इन्द्रवायु आदि के सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो सक्ता, इस लिये उक्त शेष के भक्षण समय भक्ष मन्त्र में "इन्द्रवायु पत्नी-वत्पीतस्य इस प्रकार पत्नीवान्" के साथ इन्द्र वायु आदि की भी "ऊह" होनी चाहिये ॥ ३२ ॥

अब सिद्धांत को कहते है। ग्रहणादिति। (ग्रहणात्) 'आग्रयण' नामकस्थाली से उपांशुपात्रद्वारा पात्नीवत नामक पात्र में अग्निरूप देवता के लिये सोमका ग्रहण करे इस विधि

गृह्णातीति विधानात् । अपनीतः पूर्वदेवतासंबन्धविभेदवान् पत्नीवदर्थं गृहीतसोमः स्यात् । अयं भावः । पूर्वोदाहृतस्थले ऐन्द्रे समाश्लेपयेदिति तत्संयोगमात्रविधिः इह तु पात्नीवत-माग्रयणाद्गृह्णातीत्यनेन अ ग्रयणाद्गृहीतद्रव्यसामान्ये पत्नी-वद्देवतासंबन्धासिद्धौ द्विदेवत्यशेषेऽपि पत्नीवत्संबन्धसिद्धौ

वाक्यसे । (अपनीतः) पूर्वदेवता के सम्बन्ध के भेद वाला सोम का पत्नीवान् अग्निदेवता के लिये ग्रहण (स्यात्) हुआ है अर्थात् पात्नीवत पात्र में आग्रयण स्थाली से इन्द्र वायु आदि के सम्बन्ध रहित हुए सोम का ग्रहण हुआहै । यह भाव है कि पूर्वोदाहृत स्थल में " ऐन्द्रग्रह में और सोम का सम्मिश्रण करना चाहिये " इस वाक्य से " तत् " ऐन्द्रशेष में मैत्रावरुण के संयोग मात्र का विधान है, यहां तो पात्नीवत माग्रयणाद् गृह्णाति " इस वाक्य से आग्रयण पात्र से गृहीत द्रव्य सामा-न्य में पत्नीवत देवता के सम्बन्ध कि सिद्धि होने पर द्विदेवत्य सोमके शेष मेंभी पत्नीवतके सम्बन्ध की सिद्धिहोती है वहहोने परद्विदेवत्यसोमशेषकी निवृत्ति तो अर्थसिद्ध है । अतःद्विदेवत्य सम्बन्धि देवमन्त्र में ऊहनीय नहीं । तात्पर्य यह है कि जिस देवता के उद्देश से जिस पात्र द्वारा प्रथम हवन किया गया है उसी पात्र में शेष रहे सोम के साथ सोमान्तर मिला कर दूसरे देवता के उद्देश से हवन करने पर जो शेष रह जाता है उसके साथ प्रथम देवता का सम्बन्ध बना रहता है और जहां पात्रका भेद होजाताहै वहां प्रथम देवता के सम्बन्ध काविच्छेद हो जाता है, इन्द्र शेष में सोमान्तर मिला कर " मित्रावरुण " आदि के उद्देश से हवन करने में पात्र भेद नहीं हुआ इसलिये

द्विदेवत्यासंबन्धनिवृत्तिस्त्वर्थसिद्धा । अतो द्विदेवत्या मन्त्रे नोपलक्षणीया इति ॥ ३३ ॥

पात्नीवतशेषभक्षणे त्वष्टुरनुपलक्षणम् । अधि० १४ ।

त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात् ॥ ३४ ॥

तत्र होमशेषभक्षे त्वष्ट्रा पीतस्येति ऊहो न वेति संशये पूर्वपक्षमाह । त्वष्टारमिति । पानात पात्नीवत-

---

उसके साथ इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता परन्तु यहां " आग्रयण " स्थाली से " पात्नीवत " पात्र में सोमका ग्रहण करने के कारण पात्र का भेद हो गया है और पात्र का भेद हो जाने के कारण हवन करने पर जो " पात्नीवत " पात्र में शेष सोम बच गया है उस के साथ इन्द्र वायु आदि का सम्बन्ध नहीं रह सकता और सम्बन्ध के न रहने से उस के भक्षण समय भक्ष मन्त्र में " इन्द्र वायु पात्नीवत्पीतस्य " इस प्रकार पत्नीवान के साथ इन्द्र वायु आदि की " ऊह " की कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये उक्त मंत्र में केवल पत्नीवत्पीतस्य " इस प्रकार पत्नीवान की ही " ऊह " होनी योग्य है इन्द्रवायु आदि के सहित पत्नीवान की नहीं ॥ ३३ ॥

अब " पात्नीवत " शेष के भक्ष मन्त्र में " त्वष्टा " रूप देवता की " अनूह " कथन करते है। चतुर्दश अधिकरण से । उसी पात्नीवत " शेष के भक्ष मन्त्र में त्वष्टापीतस्य यह ऊह होना चाहिये किंवा नहीं अर्थात् पात्नीवान के साथ त्वष्टा की ऊह होनी किंवा नहीं होनी चाहिये इस संशय के होने

होममन्त्रे अग्ना ३ इ पत्नी वा ३: (२) सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोम पिब स्वाहेत्यत्र त्वष्ट्रा सह पानलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥ ३५ ॥

सिद्धान्तमाह । अतुल्यत्वादिति । मन्त्रलिङ्गकल्पितस्य तस्य त्वष्टुर्देवतात्वविधेः पात्नीवतमाग्रयणाद्गृह्यतइति पत्नीवतः देवतात्वबाधकश्रुतेश्चातुल्यत्वातुल्यबलत्वाभावादेवमुक्त-

---

पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । त्वाष्टार मिति । (त्वाष्टारं) त्वष्टा नामक देवता की (उपलक्षयेत्) पात्नीवत शेष के भक्षण मन्त्र में ऊह होनी चाहिये, क्योंकि (पानात्) हेपत्नीवन् अग्नेत्वष्ट्रसंज्ञकेन देवेन सह सोमंपिब=हे पत्नीवन् अग्ने त्वष्टा संज्ञक देव के साथ सोम का पान कर, मैं आपके उद्देश से अग्नि में हवन करता हूं । इस पात्नीवत हवन मन्त्र में त्वष्टा के सहित पत्नीवान् के सोमपान का कथन रूप लिङ्ग है ॥ ३४ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । अतुल्यत्वादिति । हवन मन्त्र में जो पत्नीवान् के साथ त्वष्टा के साहित्य का कथन रूप लिङ्ग है उस लिङ्ग से कल्पित त्वष्टा के देवतात्व विधि का और पात्नीवत माग्रयणाद् गृह्यते इस पत्नीवत के देवतात्व बाधक विधि का (अतुल्यत्वात्) समान बलका अभाव होने से (एवं) उक्त रीति से पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की "ऊह" (न) नहीं (स्यात्) हो सक्ती । त्वष्टा का साहीत्य–पान काल

रीत्या ऊहो न स्यात् । त्वष्टुः साहित्यं समीपवृत्तित्वमात्रं लिङ्गेन बोध्यतइति भावः ॥ ३५ ॥

पत्नीवतशेषभक्षणे त्रिंशतोऽनुपलणक्षम् । अधि० १५ ।

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥ ३६ ॥

तत्रैव पात्नीवतयागे, एभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः, पत्नीवतः त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वध मादयस्वेति याज्या । अस्या अर्थः । हेअग्ना आएभिरुत्तरार्धे वक्ष्यमाणैर्देवैः सह रथं रथान् वाऽऽरुह्य याहि,

---

में पत्नीवान् के समीप वृत्तित्व मात्र का लिङ्ग से बोधित होता है यह भाव है ॥ ३५ ॥

अब पात्नीवत शेष भक्ष मन्त्र में पत्नीवान् अग्निदेवता के साथ तेतीस देवताओंकी अनूहकथन करतेहैं पञ्चदश अधिकरणसे । उक्त पात्नीवतयाग में "हे अग्निएभिः=उत्तरार्ध में वक्ष्यमाण देवताके साथ रथको अथवा अनेक रथोंको आरोहण कर के आओ,उसकेबाद तेतीसदेवतों को और पत्नीवतको सोमरस सेमादन करे=तृप्त करे यह मन्त्र है । पात्नीवत शेष के भक्षमन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ तेतीस देवता ओं की ऊह होनी चाहिये किंवा नहीं इस संशय के होने पर अत्र = देवताओं में मादन को पान के बिना संभव न होने के कारण देवताओं को पान सिद्ध होता है। इस कारण मन्त्र में तेतीस देवताओं की ऊह करनी चाहिये ऐसा

ततः पत्नीवतः त्रिंशतं त्रीन् त्रयस्त्रिंशद्देवान् पत्नीवन्तं च सोमरसेन मादयेति । अत्र मादनस्य पानं विना ऽसंभवात्तेषां पानं सिद्धम् । अतः मन्त्रे ते ऽप्युपलक्षणीया इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धा तमाह । त्रिंशदिति । त्रिंशत् त्रयस्त्रिंशच्च नोपलक्ष्याः परार्थत्वान् मन्त्रस्य उत्पत्तिविध्यधीनत्वात् । तत्रोक्तत्रयस्त्रिंशदश्रवणादिति भावः । पत्नीवदुद्देशेन द्रव्ये दत्ते तेन स्वभागमध्ये अन्येभ्योऽपि दत्त इति स्तुतिसंभवात्तथा लिङ्गं नेयम् ॥ ३६ ॥

भक्षणे ऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणम् । अधि० १६ ।

वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥ ३७ ॥

बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । त्रिंशदिति । (च) और (त्रिशत्) पात्नीवत शेष के भक्ष मन्त्र में तेतीस देवताओं की " ऊह " नहीं हो सक्ती, क्योंकि (परार्थत्वात्) मन्त्र को उत्पत्ति विधि के अधीनत्व है । और उत्पत्ति वाक्य में उक्त तेतीस देवतों के श्रवण का अभाव है यह भाव है पत्नीवत् देवता के उद्देश से द्रव्य के देने पर ॥ तेन ॥ पत्नीवत् देवता अपने भाग में स अन्य देवताओं के लिये भी देता है इसप्रकार स्तुति संभवहोनेसे तथा स्तुतिके अभिप्रायसे लिङ्गको लगाना चाहिये ॥ ३६ ॥

अब अनुवषट्कार प्रयुक्त शेषभक्षण में अनुवषट्कार के देवता अग्निकी अनुपलक्षण=अनूहः कथन करते हैं । षोडशाधिकरण से । सबसोमयागमें हे अग्नितू सोमको प्राप्त हो इस मन्त्र

सोमयागे सर्वत्र सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्कृते जुहोतीति। नात्र पूर्ववत्परार्थत्वमतः अग्निना पीतत्वात्सो ऽग्नि भक्षमन्त्रे उपलक्षणीय इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। वषडिति वषट्कारः अनुवषट्कार देवताऽग्निः नोपलक्षणीयः मन्त्रे। कर्त्तृवत्। यथा प्रकृतिभूते इन्द्रयागे प्रथमं होत्रा पीतस्य पश्चादध्वर्युपानार्थं पठिते ऽस्मिन् मन्त्रे होतृपीतस्येति न पठितं तथा ऽनुवषट्कारदेवतापाठो ऽपि नास्ति।

से अनुवषट् कारके देवताके लिये होमकरे यह अनुवषट्कार नामसे कर्मकाविधान है। अनुवषट्कार का देवता भूत अग्नि की भक्षमन्त्रमेंऊह करना चाहिये किंवा नहीं इस संशय के होनेपर। यहां पूर्वकीभांति परार्थत्व नहीं इसलिये अग्नि से सोमपान होनेके कारण अग्नि देवताभी भक्षमन्त्रमें ऊह करने योग्य है ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्तको कहते हैं। वषडिति। (वषट्कार) अनुवषट्कार की देवता अग्निकी मन्त्रमें ऊह नहीं होसक्ती (कर्तृवत्) जैसे प्रकृतिरूप इन्द्रयागमें प्रथम होता से पीत सोमका पश्चात् अध्वर्यु के पान केलिये पठित इस भक्षमन्त्र में होतृपीतस्य इसकी ऊह नहीं होती वैसेही अनुवषट्कारके देवता की ऊह नहीं होती। यह भावहै कि प्रकृतियागमें ऐन्द्रग्रहके समयमें इन्द्रके उद्देशही से ऐन्द्रग्रहकाग्रहण हुआ है अग्नि अथवा होताके उद्देशसे नहीं हुआ। इसलिये भक्षमन्त्रमें केवल इन्द्रपीतस्य इसीका पाठ=ऊह है। विकृति यागमें भी वैसाही पाठ होना चाहिये। ३७। अनैन्द्रशेषों का

अयं भावः । प्रकृतावन्द्रग्रहवेलायामिन्द्रोद्देशेनैव गृहीतो नान्न्युद्देशेन न वा होत्रुद्देशेन । अतः मन्त्रे केवलमिन्द्रपीतस्येत्येव पाठः तथैव विकृतावपीति ॥२७॥

अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणम् । अधि० १७ ।

छन्दोनिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥ ३८ ॥

प्रथमपूर्वपक्षी द्वितीयपूर्वपक्षं दूषयति । छन्द इति । सूत्रे प्रकृतिविकृतिभावो नेति पूरणीयम् । सोमधर्माणामभिषवादीनां सर्वगामित्वात् । सर्वयागोद्देशेन समानविधा-

---

अमन्त्रक भक्षण कथन करते हैं । सप्तदश अधिकरण से । अब प्रथम पूर्वपक्षी जिसका सत्ताइसवें सूत्र में पूर्वपक्ष हुआहैं उक्त दूसरे पूर्वपक्ष का खण्डन करता है । छन्द इति । ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृति विकृति भाव नहीं हो सक्ता क्योंकि सोम के धर्म अभिषवादिओं का (सर्व गामित्वात्) सर्व सोमयाग का उद्देश करके समान विधान पाया जाता है । ननु, तृतीय सवन में ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी " षोडशी " पात्रस्थ शेष के भक्षण समय भक्षमन्त्र में " गायत्रच्छन्दसः " के स्थान में तृतीय सवन का " जगतीछन्दसः " इस मन्त्र के प्राप्त होने पर जो " अनुष्टुप छन्दसः इति षोडशिनि भक्षमन्त्रं-नमति = षोडशी शेषके भक्षमन्त्र में " गायत्रच्छन्दसः " के स्थान में " अनुष्टुप्छन्दसः " इसमन्त्र का ऊह करे इस वाक्य से जो ऊह का कथन किया है वह ऐन्द्र तथा अनैद्र प्रदानों

नात् । ननुतृतीयसवने षोडशिग्रहे तृतीयस्य सवनस्य जगतीच्छन्दस इतिमन्त्रे अनुष्टुप्छन्दस इति मन्त्र सन्नमतीति ऊहं कुर्यादित्यूहविधानं प्रकृतिविकृतिभावेलिङ्गमित्यत्राह । छन्दो निषेधस्तु जगतीछन्दो निषेधस्तु वाचनिकः तावन्मात्रपर इति भावः तस्मादनैन्द्रेषु विकृतित्वाभावाद् ऊहासंभवेन अमन्त्रभक्षणम् ॥ ३८ ॥

ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकत्वम् । अधि० १८ ॥

के परस्पर प्रकृति विकृति भाव में लिङ्ग है इस पर कहते हैं। (छन्दोनिषेधस्तु) जगतीच्छन्द का निषेधतो वाचनिक है, वचन सिद्ध को " वाचनिक " कहते हैं और वाचनिक होने के कारण वह केवल तृतीयसवन सम्बन्धी षोडशी शेषके भक्षमन्त्र में ही होसक्ता है सर्वत्र नहीं यह भाव है । इसलिये अनैन्द्र प्रदानों में विकृतित्वका अभाव होने से प्रकृतिवद् विकृति कर्तव्या " इस चोदक वाक्य से भक्ष मन्त्र की अतिदेश अर्थात् प्राप्ति नहीं होसक्ती और अति देश के न होने से ' इन्द्रपीतस्य ' मन्त्रकी " मित्रावरुण पीतस्य इस प्रकार ऊह भी नहीं होसक्ती और ' ऊह " के न हाने से उक्त भक्ष मन्त्र का अनैन्द्र शेष के भक्षण में विनियोग होना असम्भव है. अतः सिद्ध हुआ कि ऐन्द्रशेष का भक्षण ही समन्त्रक है अनैन्द्र शेष का भक्षण समन्त्रक नहीं किंतु अमन्त्रक है ॥ ३८ ॥

अब " ऐन्द्राग्न " शेष के भक्षण का अमन्त्रक कथन करते हैं। अष्टादश अधिकरणसे द्वितीय पूर्व पक्ष का खण्डन होजाने

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात् ॥ ३९ ॥

एवं स्थिते ऐन्द्राग्नमृतुपात्रेण गृह्णातीति स्थितम् ऐन्द्राग्नशेषभक्षणममन्त्रं समन्त्रं वेति संशये पूर्वपक्षमाह। ऐन्द्रेति। ऐन्द्राग्ने तच्छेषभक्षणे इन्द्ररूपलिङ्गस्य भावात् सत्वात् समन्त्रंस्यात् ॥ ३९ ॥

से प्रथम पूर्व पक्ष स्थित होने पर यह विचार किया जाता है जिस "ग्रह" द्वारा इन्द्राग्नी देवता के उद्देश से सोम का प्रदान किया गया है उस "ऐन्द्राग्न" नामक ग्रह का सोम शेष भक्षण के लिये ऋतु पात्र से ग्रहण करे, श० ब्रा० ४।५।२।२२ यह वाक्य ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में स्थित है। इस वाक्य में जो "ऐन्द्राग्न" शेष का भक्षण विधान किया है वह अमन्त्रक है किंवा समन्त्रक है। इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष का कहते हैं। ऐन्द्रेति। (ऐन्द्राग्नेतु "ऐन्द्राग्न" नामक ग्रह संम्बन्धी शेष के भक्षण में (लिङ्गभावात्) भक्षमन्त्रका विनियोजक इन्द्ररूप लिङ्ग के विद्यमान होने से (स्यात्)ऐन्द्रशेषभक्षणकी भांति ऐन्द्राग्न शेषका भक्षण भीसमन्त्रक होना चाहिये। इन्द्राग्निभ्यांपीतो पि इन्द्रपीत इतिव्यपदेष्टुं शक्यते,यथाडित्थडपित्थयोर्माताडित्थमातेति। तथाचोहाभावेऽपि समन्त्रकं भक्षणमिति भावः। इन्द्र तथा अग्निरूप देवता के उद्देश से जिस सोमका प्रदान किया गया है वह इन्द्रके उद्देश से भी प्रदान किया ऐसा कहा जा सकता है। जैसे डित्थडवित्थ दोनों कीं माता डवित्थ की माता ऐसा कहा जाता है। तथाच "ऊह" का अभाव होने पर भी समन्त्रक भक्षण होना चाहिए यह भाव है। ३९

एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥ ४० ॥

सिद्धान्तमाह एकस्मिन् एकदेवताकहविः शेषभक्षणे मन्त्रः ऐन्द्राग्नस्य देवतान्तरादेकदेवतातो विलक्षणत्वात् विभागवत् । आग्नेयं चतुर्धा करोतीतिवत् [२] ॥४०॥

गायत्रच्छन्दस इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्के विनियोगः ॥ अधि० १९ ॥

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥

तस्मिन्नेव भक्षमन्त्रे गायत्रछन्दस इतिलिङ्गाद् यत्र

अब सिद्धांत को कहते हैं। एकस्मिन्निति । (एकस्मिन्) एकदेवताक हविशेषके भक्षण में भक्षमन्त्रका विनियोग हो सक्ता है द्विदेवताक शेषके भक्षण में नहीं। क्योंकि ऐन्द्राग्न सोम की देवताइन्द्राग्नि की (देवतान्तरात्) एक इन्द्र देवता से भिन्नहैं। (विभागवत्) चार भाग करना आग्नेय पुरोडाशमें ही होना है ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं, इसके समान। तात्पर्य यह है कि प्रदान सिंश्रित देवता के उद्देश से हुआ है और भक्षमन्त्र असिंश्रित देवताका प्रकाशक है, इसप्रकार विनियोजक लिंग के विद्यमान न होने से उक्त मन्त्र का विनियोग नहीं हो सकता, इसलिये ऐन्द्र शेष भक्षण की भांति ऐन्द्राग्न शेष का भक्षण समन्त्र नहीं किंतु अमन्त्रक है ॥ ४० ॥

अब "गायत्रच्छन्दस" इत्यादि मन्त्रों का अनेक छन्दवाले ऐन्द्र शेष के भक्षण में विनियोग कथनकरते हैं। एकोनविंशति अधिकरण से। उक्त भक्षमन्त्रही में "गायत्रछन्दसः" यह पद सोमका विशेषणश्रुत है। केवल गायत्रीच्छन्द वाले मन्त्रका

स्तोत्र शस्त्रादौ गायत्रीच्छन्दस्कैव ऋक् तत्रैवायं मन्त्रःयथा केवल इन्द्रशेषएवायं मन्त्रः न देवतान्तरसहिते तद्वदित्यभिप्रायवतः पूर्वपक्ष सूत्रमाह छन्दश्चेति । छन्दश्च गायत्र्यादिच्छन्दः केवलं यत्र तत्रैव भक्षमन्त्रःपूर्वाधिकरणसिद्धदेवतावत् ।४१।

उच्चारण करके जिस सोम का इन्द्र से के उद्देश प्रदान किया गया है उसके भक्ष्य शेष में उक्त भक्ष मन्त्र का विनियोगहोना चाहिये किंवा अनेक छन्द वाले मन्त्रों का उच्चारण करके जिस सोम का इन्द्र के उद्देश से प्रदान किया गया है उसके भक्ष्य शेष में विनियोग होना चाहिये इस संशय के होने पर " गायत्रच्छन्दसः इन्द्रपीतस्य " का गायत्रच्छन्द वाला मन्त्र है इन्द्र के उद्देश से दिये जिस सोम का, उसका शेष मैं भक्षण करता हूं यह अर्थ बोधन सामर्थ्य रूप लिंग के बल से जिसके स्तोत्र शस्त्र के विषय में गायत्रीच्छन्दस्कऋचा पढि जाती है उसके भक्ष्य शेष में इस भक्ष मन्त्र का विनियोग होता है, जैसे केवल इन्द्र देवता के उद्देश से प्रदान किये सोम के भक्षणीय शेष में भक्ष मन्त्र का विनियोग होता है देवतान्तर सहित इन्द्र के उद्देश से प्रदान किये सोम के भक्षणीय शेष में " इन्द्रपीतस्य " भक्ष मन्त्र का विनियोग नहीं होता, वैसे ही एक गायत्र छन्द वाले सोम के भक्ष्य शेष में भी उक्त मन्त्र का विनियोग होना चाहिये अनेक छन्द वाले सोम के भक्ष्य शेष में नहीं इस अभिप्राय वाले के पूर्व पक्ष में सूत्र को कहते हैं। छन्दश्चेति । (छन्दश्च) केवल=एक गायत्रादि वाले मन्त्र का जिस सोम प्रदान में पाठ होता है उस सोम के भक्ष्य शेष में ही भक्ष मन्त्र का विनियोग होना चाहिये (देवतावत्) पूर्व अधिकरण सिद्ध देवता के समान ॥ ४१ ॥

सर्वेषु वा ऽभावादेकच्छन्दसः ॥ ४२ ॥

सिद्धान्तमाह । सर्वेष्विति । सर्वेषु नानाच्छन्दस्केषु सर्वेषु क्रतुषु भक्षमन्त्रः स्यात् केवलेन्द्रयागप्रसिद्धिवत्केवल-गायत्रच्छन्दस्कयागस्याभावात् । तथा च मन्त्रस्य कुत्रापि विनियोगो न स्यादिति भावः ॥ ४२ ॥

एकादशाधिकरणोक्तस्योपसंहारः ॥

सर्वेषां त्वेकमन्त्रत्वमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् ॥ ४३ ॥

द्वितीयपूर्वपक्षस्य पूर्वमेव दूषितत्वात् प्रथमपूर्वपक्षं दूषयन् इन्द्र पीताधिकरणसिद्धान्तमाह । सर्वेषामिति । सर्वेषामैन्द्रा-

---

अब सिद्धान्त को कहते हैं । सर्वेष्विति । (सर्वेषु) अनेक छन्द वाले सब सोम प्रदान रूप क्रतुओं में भक्ष मन्त्र का विनियोग होता है, क्योंकि केवल इन्द्र याग प्रसिद्धि के भांति (एकच्छन्दसः) केवल गायत्र छन्द वाले याग का (अभावात्) अभाव है ऐसा होने पर " गायत्रच्छन्दस इन्द्र पीतस्य " इस भक्ष मन्त्र का किसी भी क्रतु में विनियोग नहीं होगा यह भाव है ॥ ४२ ॥

अब एकादश अधिकरण में जो उक्त है उसका उपसंहार = समाप्त करते हैं । द्वितीय पूर्व पक्ष का (पूर्व मेव) सत्ताईस वें सूत्र से लेकर बयालीसवें सूत्र पर्यंत प्रथम पूर्व पक्षी द्वारा खण्डन हो जाने से अनैन्द्र प्रदानों में भक्षण अमन्त्रक होगा अब इस प्रथम पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए इन्द्रपीताधि-

णामनैन्द्राणां च एकमन्त्रत्वम् एकरूपे युक्तमन्त्रत्वम् अवि कृतमिति यावत्। भक्तिपानत्वात्। भक्तिः लक्षणारूपा वृत्तिः पाने पिबतिधातौ यस्मिन्वाक्ये तत्त्वात्। अयं भावः इन्द्रपीतस्येति सोमविशेषणं सवनांविशेषणं वा। सोमविशेषणत्वे तृतीयातत्पुरुषः सवनविशेषणत्वे इन्द्रेण पीतं यस्मिन् सवनइति बहुव्रीहिः। यद्यपि बहुव्रीहौ उभयपदलक्षणापत्त्या तत्पुरुषाज्जघन्यतया तत्पुरुषसमासमाश्रित्य सोमविशेषणत्व मेवोचितम्। तथा ऽपि प्रकृते इन्द्रस्य यानकर्तृत्वस्य नवमे

करण सिद्धान्त को कहते हैं। सर्वेषामिति। (सर्वेषां) ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों के शेष भक्षण में (एकमन्त्रत्वं) समान भावसे युक्त भक्षमन्त्रका : अविकृत भक्ष मन्त्रका विनियोग होता है (हि)क्योंकि (भक्ति पान त्वात्)लक्षणा वृत्ति द्वारा दा ,, धातु के अर्थ में . पा ,, धातु का प्रयोग कर के बहु व्रीहि समास करनेसे (सवनाधिकारः)इन्द्र पीत शब्द का 'सवन' अर्थ होता है। यह भाव है कि "इन्द्र पीतस्य" यह पद सोम का विशेषण है। कि सवन का विशेषण है। सोमकाविषशेषण होने पर इन्द्रेण पीतः 'इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास होगा और तत्पुरुष समास करने से उक्त मन्त्र ऐन्द्रशेष षक्षण काही प्रकाश कर सक्ता है अनैन्द्र शेष के भक्षण का नहीं। सवन का विशेषण होने पर इन्द्रेण पीतः सोमोयस्मि

निरस्यमानत्वात् पाधातोरगत्या त्यागार्थलक्षणा इन्द्रपदस्ये न्द्रोद्देश्यके लक्षणा इन्द्रोद्देश्यकत्यागकर्मीभूतः सोम इति वाच्यम् । तथा च तत्पुरुषे ऽपि लक्षणायाम् उभयत्र तुल्यत्वाद् गायत्रच्छन्दस इत्यस्य सवनविशेषणत्वात् तत्समीप-

---

नसवने स इन्द्र पीतः, तस्य शेषं भक्षयामि इस प्रकार बहुव्रीहि होता है 'इन्द्र के उद्देश से दिया गया है सोम जिस सवन में उस सवन का शेष मैं भक्षण करता हूं यह अर्थ होता है, ऐसा अर्थ होने से भक्षमन्त्र द्वारा केवल ऐन्द्र शेष के भक्षण का ही प्रकाश नहीं होता किंतु सवन मात्र के शेष के भक्षण का प्रकाश होता है और सवन रूप एक कर्म का अधिकार होने से अनैन्द्र भी इन्द्रपीत सवन के अन्तर्गत है। तथाच ऐन्द्र अनैन्द्र सब शेषों के भक्षण प्रकाश करने की सामर्थ्य वाला होने से उक्त भक्ष मन्त्र का सब शेष के भक्षण में विनियोग हो सकता है। यद्यपि बहुव्रीहि में उभय पद में लक्षणा=पत्ति होने से तत्पुरुष से निकृष्ट है इसलिये तत्पुरुष को आश्रय कर के सोम का विशेषण करना योग्य है। तो भी प्रकृत में अशरीर इन्द्र को पान कर्तृत्व को नवम अध्याय में निषेध किया जायगा इसलिये पा धातु का अगत्या त्याग अर्थ में लक्षणा और इन्द्र पद की इन्द्र उद्देश्यक में लक्षणा है अतः इन्द्र उद्देशक त्याग का कर्म सोम है ऐसा कहना पडेगा। तथाच तत्पुरुष में भी लक्षणा होने पर दोनों में लक्षणा समान है इसलिये " गायत्रच्छन्दस " यह सवन का

वृत्तिन इन्द्रपीतस्येत्यस्यापि सवन विशेषणत्वमुचितमिति ॥ ४३ ॥

इति तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

विशेषण है और उसी के समीपवर्ति "इन्द्रपीतस्य" इसको भी सवन का विशेषण करना योग्य है। और तत्पुरुष में समासान्तोदात्त की प्राप्ति होने से श्रुत आदि उदात्त स्वर की असिद्धि का प्रसंग होगा। बहुव्रीहि में तो इन्द्रपद को आदि उदात्तत्व होने से "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" ६।२।३ इससे पूर्व पद प्रकृति स्वर होने पर निरुक्त स्वर की सिद्धि होती है। इससे भी बहुव्रीहि समास है ऐसा निश्चय करने को शक्य है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद के जैमिनिसूत्र वृत्ति का अनुवाद समाप्त ॥

उच्चैस्त्वादीनां वेदोधर्मत्वम् । अधि० १ ।

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥ १ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रुयते, उच्चैः ऋचा क्रियते उच्चैस्साम्ना उपांशु यजुषेति । उच्चैस्त्वादिधर्माः ऋगादिजातिमधिकृत्य प्रवृत्तः किंवा ऋग्वेदादीन् अधिकृत्य प्रवृत्ता इति संशये पूर्वपक्षमाह । श्रुतेरिति । जाते ऋक्त्वादिजातौ अधिकारः

अत्र "उच्चैस्त्व" आदिओ को ऋग्वेदादि का धर्म-कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से । "ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में श्रुत "ऋग्" तथा "साम" से "उच्चैः" और "यजु" से "उपांशु" कर्म करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं । इसमें जो "उच्चैस्त्व" आदि धर्म विधान किये हैं वे धर्म ऋक्त्वादि जाति को अधिकार करके प्रवृत्त हैं किंवा ऋग्वेदादिओं को अधिकार करके प्रवृत्त हैं अर्थात् उक्त वाक्य में "ऋचा' आदि पद ऋक्त्वादि जाति विशिष्ट मन्त्रों के वाचक हैं किंवा ऋग्वेदादि के वाचक हैं, इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । श्रुतेरिति । (जाते) "ऋक्त्व" आदि जातिवाले मन्त्रों में "उच्चैस्त्व" आदि धर्मका (अधिकारः) अधिकार (स्यात्) है । उच्चैस्त्वादि धर्म ऋक्त्वादि जात्यवच्छिन्न हैं यह अर्थ है । क्यों-कि (श्रुते) उक्त उच्चैस्त्वादि का विधायक "उच्चैर्ऋचा"

स्यात्। उच्चैस्त्वादिधर्मा ऋक्त्वादिजात्यवच्छिन्ना इत्यर्थः ऋचेति श्रुतेः। ऋगादिशब्दानाम् ऋक्त्वादिजातौ शक्तत्वादिति भावः ॥ १ ॥

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमाह। वेद इति। वेदः उक्तविधयुद्देश्यः मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपवेदधर्मः ऋग्वेदेन यद्विहितं तत्सर्वमुच्चैरित्यर्थः। प्राये वाक्योपक्रमे वेदशब्ददर्शनात्। प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेतिस तपोऽतप्यत तस्मात्तेपानात्त्रयो देवा

इत्यादि वाक्यों में मन्त्रवाची "ऋचा" आदि शब्दों का श्रवण होता है। ऋगादि शब्दों को ऋक्त्वादि जाति वाले मन्त्रों में शक्तत्व है यह भाव है ॥ १ ॥

अब सिद्धांत को कहते हैं। वेद इति। (वेदः) उक्त विधि के "उद्देश्यः' प्रवृत्ति का निमित्त मन्त्र ब्राह्मण समुदायरूप वेद का धर्म=ऋग्वेदत्व, सामवेदत्व, यजुर्वेदत्व है ऋक्त्वादि जाति नहीं तथाच ऋग्वेद तथा सामवेद तथा सामवेद से विहित जो कर्म है वह उच्चैः और यजुर्वेदसे विहित कर्म उपांशु करे यह अर्थ होता है। अर्थात् उक्त वाक्य में ऋचा आदि पद ऋग्वेदादि के वाचक हैं मन्त्र के वाचक नहीं। क्योंकि (प्रायदर्शनात्) 'प्राये' वाक्य के प्रारम्भ में वेद शब्द का श्रवण होता है। प्रजापति ने इच्छा

असृज्यन्ताग्निर्वायुरादित्यस्ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्ताग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेद इति उपक्रम्यतस्मादुच्चैर्ऋचा क्रियतइत्युपसंहाराद-संजातविरोधित्वेन प्रबलत्वेन उपक्रमानुसारेण उपसंहार-नयनमिति भावः ॥ २ ॥

की कि मैं प्रजा उत्पन्न करूं, उसने विचाररूप "तप" किया उससे अग्नि, वायु, अथर्वा, आदित्य, दिव्य शक्ति सम्पन्न चार महर्षि उत्पन्न हुए, पुनः इन चारों ने उक्त तप किया उससे यथाक्रम चार वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद, अथर्वा से अथर्ववेद, आदित्य से सामवेद इस प्रकार वेदों का उपक्रम करके पश्चात् "तस्मादुच्चैऋचा क्रियते ' ऐ. ब्रा. ५।५।६ इस प्रकार उपसंहार करने से उपक्रम तथा उपसंहार की एकवाक्यता का होना आवश्यक है, वह एकवाक्यता उपसंहार को उपक्रम का अनुसारी हुए बिना नहीं हो सक्ती और उपक्रम में वेद शब्द का प्रयोग पाया जाता है उसीके अनुसार उपसंहार में भी "ऋचा' आदि शब्दों से ऋग्वेदादि का ग्रहण उचित है। यह भाव है कि उपक्रम को असंजात विरोधित्व होने के कारण प्रबलत्व है और प्रबलत्व होने से उपक्रम के अनुसार उपसंहार में भी ऋचादिपदों से यथाक्रम उक्त वेदों का ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

लिङ्गाच्च ॥ ३ ॥

ऋक्पदेन वेदबोधोऽपि अन्यत्र दृश्यतइत्याह । लिङ्गादिति । ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य इत्यत्र प्रथमचरणे ऋग्भिरित्यत्र ऋग्वेदे ऋग्व्यवहार इत्यत्र चतुथचरणे वेदैरिति बहुवचनं लिङ्गम् । अन्यथा वेदाभ्यामित्येव वदेत् ॥ ३ ॥

ऋक् पद से वेद का बोध भी "अन्यत्र'=तै० ब्रा० में पाया जाता है ऐसा कहते हैं । लिङ्गादिति । (दिवि) द्युलोक में वर्तमान (देवः) आदित्य देव (पूर्वाह्ने) प्रातःकाल में (ऋग्भिः) ऋग्वेद के साथ (ईयते) गमन करता है अर्थात् उदय होता है । (मध्येअह्नः) मध्याह्न कालमें यजुर्वेद के समीपस्थित होता है । (अस्तमये) अस्तमयकाल=सायंकाल में (सामवेदेन) सामवेद के साथ (महीयते) पूज्य=अस्त होता है । सो इस प्रकार तीन वेदों से युक्त हुआ सूर्य सर्वदा गमन करता है अर्थात् तीनों कालों में एक क्षण भी वेद से बिना गमन नहीं करता । ब्रा. ३।१२।९।१ इस मन्त्र के प्रथम चरण में "ऋग्भि' इसमें अर्थात् ऋग्वेद में ऋग्व्यवहार होता है । इसमें लिङ्ग चतुर्थपाद में "वेदैः" यह बहुवचन है । यदि ऋग्वेद में ऋक्पद का प्रयोग न होता हो तो 'वेदाभ्यां' ऐसा ही कहा जाता ॥ ३ ॥

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥ ४ ॥

इतश्च वेदधर्म इत्याह । धर्मविति उच्चैः साम्नेति साम्नः पृथग् धर्मोपदेशात् । ऋच्यध्यूढं साम गायतीति ऋच्येव गेयत्वाद् उच्चैस्त्वसिद्धेःपुनर्विधानं व्यर्थं स्यादिति भावः । उक्तार्थ मेवाह । नहीति । द्रव्येण साम्ना संबन्धः उच्चैसत्व संबन्धः वक्तव्यो न हि ॥ ४ ॥

और इस हेतु से ' उच्चैस्त्वादि वेद के धर्म हैं मन्त्र के नहीं ऐसा कहते हैं । धर्मविति । उक्त वाक्येषु ऋक् सामयजुः शब्दाः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद पराःनमन्त्र पराःउच्चैःसाम्नेति साम्नः पृथक् धर्मोपदेशात् । उक्तवाक्यों में ऋक् ,साम,तथा यजुःशब्द का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद है । मन्त्र अर्थ नहीं क्योंकि ' उच्चैः साम्ना ' इसवाक्यसे पृथक उच्चैस्त्व धर्मका विधान कियागयाहै । 'ऋचा पर साम का गान करे' इसवाक्य के अनुसार ऋचापर गाये जाने के कारण ऋचा का उच्चैस्त्व धर्म साम में स्वयं सिद्ध होने से पुनर्विधान व्यर्थ=निरर्थक है परन्तु विधान किया है और निरर्थक का विधान बन नहीं सक्ता,इसलिये सिद्ध होताहै कि उक्ततीनों शब्द मन्त्र के वाचक नहीं किन्तु वेदके वाचक हैं अतएव उच्चैस्त्व आदि वेद के धर्म हैं मन्त्र के नहीं यह भाव है । उक्तार्थ को ही कहते हैं । नहीति । (द्रव्येण) सामके साथ (सम्बन्धः) उच्चैस्त्व धर्म का सम्बन्ध नहीं विधान करना चाहिये ॥ ४ ॥

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥ ५ ॥

हेत्वन्तरमाह । त्रयीति । त्रयी विद्या यस्य स त्रयीविद्यः । त्रयीति ऋक्सामयजुःषुप्रसिद्धः तथाऽपि त्रयीत्यनेन न ऋक्सामयजुषो गृह्यन्ते किं तु त्रयीपदस्य वेदत्रये लक्षणां कल्पयित्वा तद्विदि त्रयीविद्य इत्याख्या भवति तथा प्रकृतेऽपि उपसंहारवाक्ये लक्षणया एकवाक्यत्व संपादनमिति भावः ॥ ५ ॥

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥ ६ ॥

ननु एकमेव कर्म ऋग्वेदेयुजुर्वेदे च विहितं तदङ्ग-

अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं । त्रयीति । जो त्रयी को जानता है उसको 'त्रयीविद्य' कहते हैं, और 'त्रयी' यह नाम ऋक्, साम तथा यजुः इन तीनों में प्रसिद्ध है तो भी त्रयी इस पद से ऋक्, साम तथा यजु का ग्रहण नहीं किंतु त्रयी पद का वेद त्रय में लक्षणा करके (तद्विदि) तीनों वेदों के वेत्ता पुरुष में (त्रयीविद्याख्या) त्रयीविद्य इस नाम की प्रवृत्ति होती है मन्त्र के जानने वाले में त्रयीविद्य नाम की प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही प्रकृत उपसंहार वाक्य में जो त्रयी शब्द के पर्याय ऋगादि शब्द हैं उनोंमें भी लक्षणा करके उपक्रम वाक्य के साथ एक वाक्यता होती है अतः उक्त वाक्य में 'उच्चैस्त्व' आदि वेद के धर्म विधान किये हैं मन्त्र के नहीं यह भाव है ॥ ५ ॥

ननु, एक ही कर्म ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में विहित है उसके

मन्त्रेवेददधर्मपक्षे उच्चैस्त्वोपांशुत्वयोरेकत्र प्राप्तौ विकल्पापत्तिः मन्मते यदि ऋङ्मन्त्रःतर्हि उच्चैस्त्वम्। यदि यजुःतर्हि उपांशुत्वमित्य विकल्प इत्यभिप्रायेण शङ्कते । व्यतीति। व्यतिक्रमे ऋचां यजुर्वेदे यजुषाम् ऋग्वेदे पाठेऽपि यथाश्रुति ऋचि उच्चैस्त्वं यजुःषु उपांशुत्वं यथाश्रुतं तथैव पाठः । ऋक्त्वादिधर्मानयायात् ॥ ६ ॥

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥ ७ ॥

आशङ्कां परिहरति । नेति । सर्वस्मिन् यजुर्वेदत्वाव-

मन्त्ररूप अङ्ग में वेद धर्म पक्ष मे उच्चैस्त्व उपांशुत्व इन दोनों की प्राप्ति होने पर विकल्प की प्राप्ति होगी। । हमारे मत में यदि ऋङ् मन्त्र है तो उसमें उच्चैस्त्व । और यदि यजु है तो उसमें उपांशुत्व का लाभ हैं इस प्रकार अविकल्प रहता है इस अभिप्राय से शंका करते हैं । व्यतीति । (व्यतिक्रमें) ऋचा आदि शब्दों को मन्त्रवाची होने से व्यतिक्रम अर्थात् ऋचा का यजुर्वेद में तथा यजु का ऋग्वेद में पाठ होने पर भी (यथाश्रुति) ऋचा में उच्चैस्त्व यजुमें उपांशुत्व जैसा श्रुत है वैसा ही पाठ होताहै । क्योंकि ऋक्त्वादि धर्म का अपाय नहीं ॥ ६ ॥

अब उक्त आशंका का परिहार करते हैं । नेति (न) 'ऋचा' के पाठ का व्यतिक्रम होने से उसके धर्म का व्यति क्रम होने में कोई दोष नहीं क्योंकि (सर्व-

च्छिन्ने उपांशुत्वनिवेशात् । एवमितरत्र । अयं भावः । याजुर्वेदिकायामृच्यपि उपांशुत्वं वेदधर्मत्वात् । वेदद्वये कर्मविधाने ऽपि भूयस्त्वेन स्वरनिर्णय इति व्यवहिताग्रिमाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वान्न विकल्पावकाश इति ॥ ७ ॥

वेद संयोगान्न प्रकरणेन बाध्यते ॥ ८ ॥

ननूपांशुत्वस्य यदि यजुर्वेदत्वमुद्देश्यतावच्छेदकं तर्हि तावद्वर्णसमुदायपर्याप्तत्वाद्वेदत्वस्य निखिलक्रतुषु उपांशुत्वं

स्मिन्) यजुर्वेदत्वा वच्छिन्न में उपांशुत्व के (निवेशात्) निवेश का स्वीकार है। एवमितरत्र=इसी प्रकार ऋग्वेदत्वा वच्छिन्न सत्र ऋग्वेद में उच्चैस्त्व के निवेश का स्वीकार है। यह भाव है कि यजुर्वेद में जो ऋग्मन्त्र है उसमें भी उपांशुत्व धर्म है। क्योंकि उपांशुत्व वेद का धर्म है। अर्थात् ऋग्वेदान्तर्गत ऋक्, साम, यजुर्मन्त्रों में उच्चैस्त्व धर्मरहता है। एवं यजुर्वेदान्तर्गत ऋग,साम, यजुर्मन्त्रों में उपांशुत्व धर्म रहता है वेदद्वय में कर्म का विधान होने पर भी भूयस्त्व से स्वर का निर्णय करना चाहिए यह व्यवहित अग्रिम अधिकरण में=तृतीय अधिकरण में वक्ष्यमाण होने से विकल्प का अवकाश नहीं। अतएव उक्त वाक्य में 'ऋचा' आदि पदों के वाच्य ऋग्वेद आदि का उक्त धर्म विधान किया है मन्त्र का नहीं, यही मानना ठीक है। ७ ॥

ननु, उपांशुत्व की उद्देश्यता का अवच्छेदक यदि यजुर्वेदत्व है तो तावद्-वर्ण समुदाय में वेदत्व को पर्याप्तत्व होने से निखिल वेदविहित यागों

स्यात् । इत्थं च ज्योतिष्टोमसन्निधौ पाठात्प्रकरणबाधः । यजुर्धर्मत्वे यजुष्ट्वस्य प्रत्येक विश्रान्तत्वादाग्नेय्या ऽऽग्नी-ध्रमितिवत्प्रकृतयजुषां ग्रहणसम्भव इत्यत्राह । वेदेति । तत्तद्वेदविहितक्रियात्वावच्छेदेनतत्तत्स्वरसम्बन्धः प्राप्स्य-मानः प्रकरणेन बाध्यतइति न, किं तु प्रकरणमेव बाधितं भवति वाक्येन । वेदसंयोगाद उपक्रमे वेदसबन्धात् ।

में उपांशुत्व होगा । इत्थंच=उपांशुत्वादि धर्मों को वेद धर्म पक्षमें 'उपांशु यजुषा' वाक्य का ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पाठ है उस का प्रकरण से बाध अर्थात् प्रकरण से उत्कर्ष होगा और यजुर्मन्त्र का धर्म मानने पर यजुष्ट्व को प्रति यजुर्मन्त्र में परि-समाप्त होने से जैसे " आग्नेय्याऽऽग्नीध्रम् " वाक्य विहित प्रकृत आग्नेयी ऋचा का ग्रहण होता है अप्रकृत का नहीं वैसे ही प्रकृत यजुषों का ग्रहण सम्भव है अप्रकृत का नहीं, अतः उनही में उपांशुत्व का विधान होगा अप्रकृतों में नहीं, इस आशंका पर कहते हैं । वेदेति । तत् २ वेद विहित क्रियात्वा वच्छेद से तत् २ स्वर सम्बन्ध उक्त वाक्यों से विधान किया जायगा उसका (प्रकरणेन बाध्यत इति न,) प्रकरण से बाध होता है ऐसा नहीं कह सकते, किन्तु प्रकरण ही वाक्य से बाधित होता है (वेद संयोगात्) उपक्रम वाक्य में वेद सम्बन्ध होने से । तथाच = वाक्य से प्रकरण का बाध होने पर उक्त शंका में

तथा चोक्ताशङ्कायामिष्टापत्तिरेवेति भावः ॥ ८ ॥

आधाने गानस्योपांशुत्वम् ॥ अधि० २ ॥

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥ ९ ॥

यजुर्वेदे वसन्ते ब्राह्मणो ऽग्निमादधीतेति आधानं विहितं तत्र च रथन्तरमभिगायते गार्हपत्य आधीयमान इति साम्नामङ्गत्वं श्रूयते । आधानाङ्गत्वेन पठ्यमानसाम्नि उच्चैस्त्वमुतोपांशुत्वमिति संशये सामवेदत्वविच्छिन्ने उच्चैस्त्वस्य क्लृप्तत्वादुक्तसाम्नां सामवेदपठितत्वादुच्चैस्त्वमिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । गुणेति गुणः अङ्गभूतं साम

इष्टापत्ति है यह भाव है, अतएव सम्पूर्ण अधिकरण का निर्णीत अर्थ यह है कि उक्त उदाहरण वाक्य में "ऋचा" आदि पद ऋग्वेदादि के वाचक तथा उच्चैस्त्व आदि उसके धर्म विधान किये गये हैं मन्त्रों के नहीं ॥ ८ ॥

अब "अग्न्याधान" कर्म में साम के गान को उपांशुत्व कथन करते हैं । द्वितीय अधिकरण से । यजुर्वेद में "वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे" तै० ब्रा० १ । १ । २ । ६ इत्यादि वाक्यों से अग्न्याधान विहित है । उस यजुर्वेद ही में "गार्हपत्य अग्नि के आधान काल में रथन्तर साम का गान करे तै० ब्रा० १ । १ । ८ । १ इत्यादि वाक्यों से आधान में साम निष्ठ अंगता का श्रवण है । आधान में अंगत्व रूप से पठ्यमान साम में उच्चैस्त्व स्वर होना चाहिये किंवा उपांशुत्व

मुख्यं प्रधानमाधानं तयोधर्मयोः उच्चैस्त्वोपांशुत्वयोःव्यतिक्रमे विरोधे वेदेन संबन्धः प्रतिपाद्यत्वरूपो यत्र सः । मुख्येन मुख्यानुसारेण नेयः । तदर्थत्वाद् अङ्गानां प्रधानार्थत्वात् ॥९॥

ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकत्वम् ॥ अधि० ३ ॥

स्वर अर्थात् उक्त आधान में अंग रूप से " रथन्तरम् " आदि नामक सामों का गान विधान किया है, वह गान साम वेद के धर्म " उच्चैः " स्वर से किंवा यजुर्वेद के धर्म उपांशु स्वर से करना चाहिये इस संशय के होने पर सामवेद त्वावच्छिन्न सब सामवेद में " उच्चैः साम्ना " वाक्य से उच्चैस्त्व को सिद्ध होने से और उक्त सामों का सामवेद में पठित होने से उच्चैस्त्व स्वर होना चाहिये ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । गुणेति । (गुणः) सामगान अंगरूप गौण कर्म हैं (मुख्यं) अग्न्याधान प्रधान कर्म है उक्त दोनों के उच्चैस्त्व तथा उपांशुत्व धर्मोंका (व्यतिक्रमे) विरोध होने पर (वेद संयोगः) " वेदेन " रथन्तरम्भिगायते " इत्यादि वाक्य से (संयोगः) प्रतिपाद्य रूप सम्बन्ध (यत्र) जिस साम गान में है (सः) वह सामगान (मुख्येन) मुख्य के अनुसार होना चाहिये क्योंकि (तदर्थत्वात्) अंगप्रधानार्थ होते हैं । यह सार निकला कि जैसे आधान के अंग भूत मन्त्रों का उपांशु पाठ होता है वैसे ही उक्त सामों का भी उपांशु गान होना ठीक है उच्चैः नहीं ॥ ९ ॥

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥ १० ॥

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति यजुर्वेदे सामवेदे च श्रूयते । अत्र वेदद्वये प्रधानविधेः तुल्यत्वाद् द्वयोस्स्वरयोः विकल्प इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। भूय इति । उभयत्र वेदद्वये श्रुतिर्यस्य कर्मणः तद् भूयस्त्वेन अङ्ग भूयस्त्वेन प्रधान विधिरिति निर्णयम् । यथा सचिवो ऽल्पपरिवारेणैकत्र

अत्र 'ज्योतिष्टोम' याग को याजुर्वेदिक कथन करते हैं । तृतीयाधिकरण से । स्वर्ग काम पुरुष ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग को संपादन करे,' इस वाक्य से यजुर्वेद तथा सामवेद दोनों वेदों में 'ज्योतिष्टोम' नामक याग का विधान समान रूप से पाया जाता है । तस्यानुष्ठानं सामवेदोच्चैस्त्व धर्मेणोत यजुर्वेदोपांशुत्व धर्मेण भवितव्यमिति संशये=उसका अनुष्ठान सामवेद के उच्चैस्त्व धर्म किंवा यजुर्वेद के उपांशुत्व धर्म से होना चाहिये इस संशय के होने पर । यहां दोनों वेदों में प्रधान ज्योतिष्टोम याग के विधान को समान होने से दोनों स्वरों का विकल्प होगा ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । भूय इति । (उभय) दोनों वेदों में (श्रुति) जिस कर्म का श्रवण है उस कर्म का प्रधान रूप से (भूयस्त्वेन) अङ्गों की अधिकता से निर्णय करना चाहिये । जैसे सचिव अल्प परिवार से एक स्थान में स्थित है, राजा अधिक परिवार से अन्यत्र स्थित है और दोनों

तिष्ठति, राजा ऽधिकपरिवारेण, तादृशे परिवाराधिक्येनायं राजेति निर्णयो भवति, तथा ऽत्रापीति भावः ॥ १० ॥

प्रकरणस्य विनियोजकत्वम् ॥ अधि० ४ ॥

असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थत्वात् ॥ ११ ॥

किमेतानि श्रुत्यादीनि त्रीण्येव विनियोजकानि उत अन्यान्यपि सन्तीति प्रश्ने आह । असंयुक्तमिति । श्रुत्यादि-

---

समान वेष है, तादृश स्थल में परिवार के अधिकता से यह राजा है ऐसा निर्णय होता है वैसे ही अङ्गरूप परिवार की अधिकता से निश्चय होता है कि ज्योतिष्टोम याग याजुर्वैदिक है और याजुर्वैदिक होने से उसका अनुष्ठान भी यजुर्वेद के उपांशुत्व धर्म से ही होना ठीक है सामवेद के उच्चैस्त्व धर्म से नहीं ॥ १० ॥

इससे पूर्व श्रुति लिङ्ग तथा वाक्य इन तीनों को विनियोजक कथन किया, अब प्रकरण को विनियोजक कथन करते हैं चतुर्थ अधिकरण से । क्या ये श्रुति आदि तीन ही विनियोजक=अङ्गाङ्गि-भाव रूप सम्बन्ध के बोधक है किंवा अन्य भी हैं इस प्रश्न के होने पर कहते हैं । असंयुक्त मिति । श्रुत, लिङ्ग तथा वाक्य इन तीनों से (असंयुक्त) जिसका विनियोग नहीं होता उसका (प्रकरणात्) उभयाकांक्षा रूप प्रकरण से विनियोग जानना चाहिये । जैसे दर्श पूर्ण मास याग के प्रकरणमें ' समिधोयजति '

त्रिभिरसंयुक्तं प्रकरणादुभयाकाङ्क्षारूपाद् विनियुज्यते । यथा दर्शपूर्णमाससन्निधौ समिधो यजति तनूनपातं यजतीत्यादि वाक्यानि फलरहितानि फलमाकाङ्क्षन्ति । दर्शपूर्णमासाभ्यामिति श्रुतकरणी भूतो यागः स्वव्यापार माकाङ्क्षति । आकाङ्क्षाद्वयेन प्रयाजादिव्यापारसहितेन दर्शपूर्णमासरूपयागद्वयेन स्वर्गमुत्पादयेदिति वाक्यैकवाक्यतां कल्पयित्वा ऽङ्गाङ्गिभावः सिध्यति । उक्ततार्थएव हेतुमाह । इतिकर्तव्य तार्थत्वात् । प्रधानस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षा–

'इडोयजति' 'तनूनपातंयजति' 'वर्हियजति' 'स्वाहाकारंयजति' तै० सं० २।६।१।१ इत्यादि वाक्य फल रहित हुए फल की आकांक्षा करते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां' इस वाक्य से विहित स्वर्ग का कारण स्वरूप याग अपने व्यापार की=इतिकर्तव्यता की आकांक्षा करता है। दो आकांक्षा के होने से 'प्रयाजादि व्यापार सहित दर्शपूर्ण मास रूप याग द्वय से स्वर्ग को उत्पादन करे इस प्रकार वाक्यैक वाक्यता की कल्पना करके दोनों का परस्परमें अङ्गाङ्गि भाव सिद्ध होता है। तदुक्तं भट्ट पादैः। स्वार्थ बोध समाप्ता नामङ्गाङ्गित्वा पेक्षया। वाक्या नामेक वाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥=अपने अपने अर्थ के बोधमें समाप्त जो वाक्य हैं उनों की पुनः अङ्गाङ्गित्व की अपेक्षा से सहभाव होकर एकवाक्यता होती है।' उक्त अर्थ ही में हेतु कहते हैं। इतिकर्तव्यतार्थ

सत्वात् । अयमङ्गानां फलाकाङ्क्षासत्त्वाच्चेत्यस्योपलक्षकः ॥ ११ ॥

स्थानस्य विनियोजकत्वम् ॥ अधि० ५ ॥

क्रमश्च देशसाम्यात् ॥ १२ ॥

दर्श पूर्णमासे याजमानकाण्डे अनुमन्त्रणमन्त्र मध्ये द्वितीय स्थाने दब्धिरस्यदब्धो भूयासमिति मन्त्रः पठितः। अस्य विनियोजकं प्रमाणं न पश्याम इति बाहिराक्षेपे

त्वादिति । (इतिकर्तव्यतार्थत्वात्) प्रधाननिष्ट अङ्ग के विनियोग की आकांक्षा पाये जाने से और अङ्गो को फल की आकांक्षा पाये जाने से इस हेतु का भी यही पद उपलक्षक हैं ॥ ११ ॥

अत्र स्थान को विनियोजकत्व कथन करते हैं पञ्चम अधिकरण से । क्रम, स्थान तथा समान देश यह तीनों पर्याय शब्द हैं । दर्शपूर्णमास याग के आध्वर्य व काण्ड में आग्नेय, उपांशुयाज तथा अग्नीषोमीय यह तीन प्रधानयाग विधान करके पुनः यजमान काण्डमें " अग्नेरहं देवयज्ययाऽन्ना दोभूयासम्,, तै० सं० १।६ २।३ "दब्धिरस्यदब्धोभूयासममुंदभेयम" तै० सं० १।६।२।४ अग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयासम् तै० सं० १।६।२।४ इस क्रमसे अनुमन्त्रण संज्ञक तीन मन्त्र पढ़े हैं, इनके मध्य प्रथम तथा तृतीय मन्त्रका विनियोग प्रथम तथा तृतीय यागमें लिङ्ग के

सिद्धान्तमाह । क्रम इति । क्रमः स्थानं मन्त्रस्य विनियोजकम् । देशसाम्यात् । स्थानैक्यात् । प्रथमः अग्नियागः द्वितीय उपांशुयागः । मन्त्रेष्वपि प्रथमः अग्नेरहं देवयेति द्वितीयो दब्धिरसीति द्वितीयस्थानैक्यम् । प्रकरणपठितस्य मन्त्रस्य विनियोगाकाङ्क्षासत्त्वात्तयाऽऽङ्क्षया अनेन

बलसे स्पष्ट है, क्योंकि उक्त दोनों मन्त्रों में अग्नि तथा अग्नीषोमीय देवता के प्रकाशन की सामर्थ्य पाई जाती है परन्तु दाब्धिरसि मन्त्र में उपांशु याजसम्बन्धी देवता के प्रकाशन की सामर्थ्य प्रतीत नहीं होती, अतः उक्त मन्त्र उपांशुयाज का अङ्ग है किंवा आग्नेयादि सर्व प्रधान का अङ्ग है इस संशयके होनेपर, । सब का अङ्ग है क्योंकि इस मन्त्र का विनियोजक प्रमाण हम नहीं देखते ऐसा बाहर से आक्षेप होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं । क्रम इति । (च) और (क्रमः) अनुमन्त्रणमन्त्र तथा उपांशुयाज इन दोनों के परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूपसम्बन्धका बोधक स्थान है । क्योंकि (देशसाम्यात्) वह स्थान दोनों का एक है । आध्वर्यव काण्ड में प्रथम अग्नियागका स्थान है, और उपांशुयाजका द्वितीय स्थान है वैसे ही याजमान काण्ड में प्रथम " अग्नेरहं देवय " इस मन्त्रका स्थान है और द्वितीय स्थान " दब्धिरसि " इस मन्त्र का है, दोनों का स्थान एक है । इसलिये उक्त मन्त्र उपांशुयाजका अङ्ग सिद्ध होता है । प्रकरण

मन्त्रेण उपांशुयागापूर्वमनुमन्त्रणद्वारा भावयेदिति वाक्यं कल्पयित्वा विनियोगः सिध्यतीति भावः (५) ॥ १२ ॥

समाख्याया विनियोजकत्वम् । अधि० ६ ।

समाख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥ १३ ॥

समाख्या च एवं विनियोजिका । तस्यास्तदर्थत्वात् । तत्क्रियाकर्तृसबन्धकल्पनम् अर्थः यस्याः तत्त्वात् । यथाऽऽध्वर्यवमिति समाख्या, अध्वर्युकर्तृकक्रियाप्रतिपादकमाध्वर्य-

---

पठित मन्त्र का विनियोग की आकांक्षा है उस आकांक्षा से इस द्वितीय अनुमन्त्रण मन्त्र से देवता के अनुमन्त्रण द्वारा उपांशुयाग से जन्य अपूर्व को करे इस वाक्य की कल्पना करके " दब्धि " मन्त्र का उपांशुयाग में विनियोग सिद्ध होता है यह भाव है ॥ १२ ॥

अब समाख्याको अङ्गत्वरूपसे अन्वय के कारणत्वको कथन करते हैं, छठे अधिकरण से । (च) और (समाख्या) समाख्या भी (एवं) क्रमकी भांतिविनियोजक है, क्योंकि (तदर्थ-त्वात्) तत् = क्रिया तथा कर्ता के सम्बन्ध का ज्ञान कराना है अर्थ=प्रयोजन जिसका ऐसी समाख्या है, अर्थात् उस समाख्यासे क्रिया तथा कर्ता का सम्बन्ध प्रतीत होता है । जैसे आध्वर्यव यह समाख्या, " अध्वर्यु कर्तृक क्रिया का प्रतिपादक

वमिति तत्प्रतिपाद्यक्रियायामध्वर्युकर्तृकत्वं ज्ञापयति । अतः साऽपि विनियोजिका अन्येतु एवमाहुः । समाख्या यौगिकी संज्ञा । दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिषु " याज्यापुरोऽनुवाक्या-नुवचनादि कर्म हौत्र समाख्यया, शाखाच्छेदनादिकर्म आध्वर्यवसमाख्यया, स्तोत्रादिकर्म औद्गात्रसमाख्यया उप-दिष्टं । तेषांमध्ये कानि कर्माणिहोत्रा, कानि अध्वर्युना, कानिचोद्गात्राकर्तव्यानि, कानिनेतिसंशये अस्यैवैतधर्माः

आध्वर्यव है " इस व्युत्पति के अनुसार उक्त समाख्यासे प्रतिपाद्य क्रिया में अध्वर्युक कर्तृकत्व को ज्ञापन करती है । हौत्र यह समाख्या, " होतृकर्तृक क्रिया का प्रतिपादक हौत्र है " इस व्युत्पति से स्वप्रतिपाद्य क्रिया में होतृकर्तृकत्व को बोधन करती है । औद्गात्र समाख्या उद्गातृकर्तृक क्रिया का प्रतिपादक औद्गात्र है इस अवयवार्थ से स्वप्रतिपाद्य क्रिया में उद्गातुकर्तुत्व को ज्ञापन करती है । अतः समाख्याभी विनियोजिका है ।

अन्य कोई तो ऐसी अधिकरण रचना करते हैं कि । यौगिक संज्ञाका नाम समाख्या है । " दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोमादि के प्रकरण में याज्यापुरोऽनुवाक्याका पाठ आदिकर्म " हौत्र " शाखा-च्छेदनादिकर्म " आध्वर्यव ,, तथा आज्यस्तोत्र पृष्ठस्तोत्र आदि कर्म औद्गात्र समाख्यासे उपदेश किये है । इनके मध्य कौन कर्म होता को कौनकर्म अध्वर्यु, को तथा कौन उद्गाता को करना चाहिये,

" इतिनियामकस्यदुर्निरूपत्वाद्येनकेनाऽप्यृत्विजा यः कोऽपि-धर्म इच्छया कर्तव्यः इति पूर्वपक्षेसिद्धान्तमाह । समाख्येति । (एवं) क्रमइव (समाख्याच) समाख्याऽपि विनियोजिका । (तदर्थत्वात्) तयाक्रियाकर्तृसम्बन्ध प्रतीतेः । आध्वर्यवमिति समाख्यातानिकर्माण्यध्वर्युणा कर्तव्यानि । हौत्रमिति समाख्यातानिकर्माणि होत्रा । औद्गात्रमिति समाख्यातानि, उद्गात्रा इति तया कर्तृसम्बन्धप्रतीतेः ॥ १३ ॥

कौन न करना चाहिये इस संशयके होने पर, ये कर्म इसी को करना चाहियें इस नियमका निरूपण न होने से कोई भी ऋत्विज किसी भी कर्म को इच्छासे करे, इस प्रकार पूर्व पक्षके होने पर सिद्धान्तको कहते हैं । समाख्येति । (एवं) क्रम की भांति (समाख्याच) समाख्या भी अखाङ्गि भावरूप सम्बन्धका विनियोजक है । क्योंकि (तदर्थत्वात) उक्त समाख्यासे क्रिया कर्ता का सम्बन्ध प्रतीत होता हैं । अर्थात् " आध्वर्यवम् ,, इस समाख्यावाले कर्मों को अध्वर्यु, को ही करना चाहिये । " हौत्रम् " इस समाख्यावाले कर्मोंको होताकोही करना चाहिये । " औद्गात्रम " इस समाख्यावाले कर्मों को उद्गाता को हीकरना चाहिये इस प्रकार उक्त समाख्यासे क्रिया कर्ता का सम्बन्ध प्रतीत होता हैं । तात्पर्य यह है कि उक्त समाख्याके बलसे जिस कर्म के साथ जिस ऋत्विजका सम्बन्ध प्रतीत होता है वह कर्म उसी को करना चाहिये दूसरे को नहीं ॥ १३ ॥

श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् । अधि० ७ ।

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥ १४ ॥

एवं षट् प्रमाणानि विनियोजकानि निरूप्य तेषां मध्येद्वयोर्विरुद्धयोस्सन्निपाते उत्तरोत्तरं दुर्बलमिति दर्शयति। श्रुतीति । षण्णां मध्ये द्वयोर्विरुद्धयोः समवाये एकत्र सन्निपातेपारदौर्बल्यमुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वाद् दुर्बलं पूर्वेणोत्तरस्य बाधः । अर्थविप्रकर्षाद् उत्तरप्रमाणस्य पूर्वप्रमाणकल्पकत्वादर्थस्य विनियोगस्य विप्रकर्षाद्विलम्बात् । यथा

अब श्रुति आदि प्रमाणों के पूर्व २ को प्रबलत्व कथन करते हैं, सप्तम अधिकरण से । अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध के बोधक श्रुति आदि छे प्रमाणोंका इस प्रकार निरूपण करके अब इनोंके मध्य विरुद्ध दो २ प्रमाणोंको एक स्थल में इकट्टे होनेपर पूर्व २ की अपेक्षा उत्तर २ निर्बल होता हैं इसको देखाते हैं । श्रुति आदि सूत्र से । षट् प्रमाणों के मध्य विरुद्ध दो २ प्रमाणोंको (समवाये) एक स्थानमें एकत्रित होनेपर (पारदौर्बल्यम्) उत्तर २ पूर्व २ से निर्बल होता हैं अर्थात् पूर्व २ से उत्तर २ का बाध होता है । क्योंकि (अर्थ विप्रकर्षात्) उत्तर २ प्रमाणोंको पूर्व २ पमाणोंका कल्पक होने से (अर्थस्य) विनियोगको अर्थात्

ऐन्द्र्चागार्हपत्यमुपतिष्ठतइत्यत्र इन्द्रलिङ्गेन इन्द्रोपस्थाने गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने एवमुभयत्र द्वाभ्यां प्रमाणाभ्यां मन्त्रस्य विनियोगे प्राप्ते, मन्त्रे इन्द्र-लिङ्गेन अनेनेन्द्रमुपतिष्ठेतेति श्रुतिं कल्पयित्वेन्द्रोपस्थाना-ङ्गत्वं वाच्यम् । ततः पूर्वमेव गार्हपत्यमिति प्रत्यक्षश्रुत्या झटिति गार्हपत्योपस्थाने विनियुज्यतइति लिङ्गात्प्रबला । अवशिष्टानामपि सरणिरेवम ऊह्या विस्तरभयान्न लिख्यते ॥ १४ ॥

अङ्गाङ्गित्वके निर्णयको (विप्रकर्षात्) विलम्ब हो जाता है । जैसे "ऐन्द्रीऋचासे गार्हपत्य अग्निके" समीपमें स्थित हो इस स्थलमें इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्गसे इन्द्रके उपस्थानमें तथा " गार्ह-पत्यम् " इस द्वितीया श्रुतिसे गार्हपत्य अग्निके उपस्थानमें इस प्रकार दोनोंमें दोनों प्रमाणोंसे मन्त्रका विनियोग प्राप्त होनेपर, इन्द्रलिङ्गसे " अनेन "=ऐन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेत एतादृशश्रुतिकी कल्पना करके मन्त्रको इन्द्रके उपस्थानमें अङ्ग कहना होगा उससे पूर्वही " गार्हपत्यम् " इस प्रत्यक्ष द्वितीयाश्रुति से शीघ्र मन्त्रका गार्हपत्यके उपस्थानमें अङ्गत्वरूपसे अन्वय हो जाता है इस कारणलिङ्गसे श्रुति प्रबल है और प्रबल सर्वदा आदरणीय होता है यह नियम है । " प्रबल दुर्बलयोमध्ये प्रबलः सर्वदा ऽऽदरणीयोभवति " । अवशिष्टोंकी भी सरणी इसी प्रकार ऊहनीय है । विस्तार के भय से लिखी नहीं ॥ १४ ॥

द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गत्वम् । अधि० ८ ।

अहीनो प्रकरणाद्गौणः ॥ १५ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रुतम् । तिस्र एव सान्हस्य उपसदो द्वादशाहीनस्येति । अत्राहीनशब्दो योगरूढ्याऽर्थस्मारका उत केवलयोगेनेति संशये पूर्वपक्षमाह । अहीन इति । अहीनः वाक्यघटकतच्छब्दः गौणः केवलयौगिकः न हीनः अहीनः इति व्युत्पत्या सर्वक्रतुश्रेष्ठ इत्यर्थको ज्योतिष्टोमएव ।

अत्र द्वादश " उपसद " नामक होमोंको " अहीन ,, नामक याग का अङ्ग कथन करते हैं । अष्टम अधिकरण से । ज्योतिष्टोमयागके प्रकरणमें " सान्ह = ज्योतिष्टोमयागमें तीन तथा " अहीन ,, में द्वादश " उपसद " नामक होम होते हैं " तै० सं० ६ । २ । ५ । १ यह वाक्य पढा है । इस वाक्य में अहीनपद योगरूढिसे " द्विरात्रादि एका दशरात्रान्त दिन-समुदायसाध्ययागरूप अर्थका स्मारक है किंवा केवल योग से ज्योतिष्टोमयागरूप अर्थका स्मारक है इस प्रकार संशयके होनेपर पूर्वपक्षको कहते है । अहीन इति । (अहीनः) उक्त वाक्य घटक अहीन शब्द (गौणः) ज्योतिष्टोमयागका केवल यौगिक नाम है । अर्थात् नहीनः " अहीनः " इस व्युत्पत्तिसे सर्व यागोंमें श्रेष्ट इस अर्थवाला ज्योतिष्टोमही अहीन है । कोई यागान्तर अहीन

प्रकरणात् । ज्योतिष्टोमप्रकरणात् । अहर्गणसाध्यक्रतुपरत्वे प्रकरणबाधात् । उक्तार्थतामाहत्व ज्योतिष्टोमएवोपसत्सु त्रित्वद्वादशत्वयोः विकल्पेन प्रयोगभेदेन समावेश इति भावः ॥ १५ ॥

असंयोगातु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत् ॥ १६ ॥

सिद्धान्तमाह । असंयोगादिति । मुख्यस्य रूढ्यर्थस्य अहःसमूहसाध्यक्रतुत्वस्य ज्योतिष्टोमे असंयोगाद्बाधात् । तस्माज् ज्योतिष्टोमप्ररणादपकृष्येत विच्छिद्येत। अन्हः खः

नहीं । क्योंकि (प्रकरणात) ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें अहीन शब्द का पाठ है । दिनसमूह साध्य यागान्तरका प्रतिपादकत्व होनेपर ज्योतिष्टोमके प्रकरणसे उस पाठका बाध = उत्कर्ष हो जायगा इस लिये अहीन शब्द के उक्त अर्थ को आदर करके उपसद संज्ञक होमोंमें त्रित्व तथा द्वादशत्वको विकल्पकरके अनुष्ठानके भेदसे ज्योतिष्टोममें ही समावेश करना चाहिये यह भाव है ॥ १५ ॥

अत्र सिद्धान्त को कहते हैं । असंयोगादिति । (मुख्यस्य) रूढि अर्थका = दिनसमूहसाध्ययागका एकदिन साध्य ज्योतिष्टोम-म (असयोगाद्) बाध होनेसे अर्थात् विरोध होनेसे (तस्मात्) ज्योतिष्टोमके प्रकरग से [अपकृष्यंत] विच्छेद होना चाहिये अर्थात् द्वादश उपसद होमों का ज्योतिष्टोम से भिन्न करके अनेक

क्रतौ, अहर्गणसाध्ये क्रतौ वाच्ये खप्रत्ययः स्यादिति खप्रत्ययान्तस्य उक्तार्थे शक्तिप्रतिपादनात् तद्बाधादुत्कर्ष इति भावः ॥ १६ ॥

कुलायादौ प्रतिपदोरुत्कर्षः । अधि० ९ ।

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा ऽचोदनात्तस्य ॥ १७ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, युव हि स्थः स्वर्पती इति द्वयो प्रतिपदं कुर्यादेते असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो: यजमानेभ्यः

दिनों में समाप्त होनेवाले अहीन नामक यागान्तरमें सम्बन्ध करना चाहिये । " अन्हःखःक्रतौ " अहर्गणसाध्य क्रतुके वाच्य होनेपर खप्रत्यय हो इस वार्तिक से खप्रत्ययान्त अहीन शब्द की उक्त अर्थ में शक्तिका प्रतिपादन है और उसका ज्योतिष्टोममें बाध होनेसे उत्कर्ष होगा यह भाव है ॥ १६ ॥

अब " कुलाय " आदि नामक यागोंमें " प्रतिपत् " संज्ञक मन्त्रोंका उत्कर्ष कथन करते हैं । नवम अधिकरण से । ज्योतिष्टोमयागके प्रकरणमें " युवं हि स्थः स्वर्पती " ऋ० ६ । ८ । ९ । २ इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात् तां० ब्रा० ६ । ९ । १३ । एते " असृग्रमिन्दवः " ऋ० ७ । १ । २४ । १ इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात् " तां० ब्रा० ६ । ९ । १३

प्रतिपदं कुर्यादिति । युवं युवां स्वर्पती स्वर्गाधिपति स्थ इति प्रथममन्त्रार्थः । एते यजमानः स्वर्गप्सवः चन्द्रतुल्या इत्यपरार्थः । युवमितिद्विवचनान्तर्घटितो मन्त्रः यजमान-दयकर्तृकप्रयोगेस्तोत्रशस्त्रादा प्रथमं पठेदिति वाक्यार्थः । तथैवापरो वाक्याथः । इमौ प्रकरण निविशेते किंवा विच्छि-

---

यह दो प्रतिपत संज्ञक मन्त्रका कथन किये हैं । (युवं) युवां = तुम दोनों [स्वर्पति] स्वर्ग के अधिपति [स्थः] हो यह प्रथम मन्त्रका अर्थ है । (एते) ये सब यजमान [असृग्रं] स्वर्ग के चाहनेवाले (इन्दवः) चन्द्र के समान (स्थः) हो " यह द्वितीय मन्त्रका अर्थ हैं । (युवं) यह द्विवचनान्त घटित मन्त्र है । यदि यजमान द्वयकर्तृक यागका अनुष्ठान हो तो " स्तोत्र-शस्त्रादिओंमें " युवं " इत्यादि ऋचाका प्रथम पाठ करे यह प्रथम वाक्यका अर्थ है । और यदि बहुयजमानकर्तृक कर्म का अनुष्ठान हो तो " स्तोत्रशस्त्रादिआमें " एते असृग्रमिन्दवः " इस ऋचाका (प्रतिपत) प्रथम पाठ करे " अन्य ऋचाओंका पाठ पश्चात् करे । स्तोत्रशस्त्रके आदिमें पठनीय ऋचाका नाम " " प्रतिपत " है । उक्त दोनों मन्त्र प्रकरण में निवेश करते हैं किंवा प्रकरणसे पृथक् होते हैं अर्थात् " ज्योतिष्टोम " यागमें ही उक्त प्रतिपत् " संज्ञक दोनोंका अनुष्ठान करना किंवा दोनों मन्त्रों का ज्योतिष्टोम " यागसेविच्छेद करके दो यजमानवाले

द्येते इति संशये सिद्धान्तेनोपक्रमते। द्वित्वेति। द्वित्वबहुत्वयुक्तं द्विवचनबहुवचनयुक्तं मन्त्रद्वयम्। तस्मादपकृष्यत इति पूर्वसूत्रस्थमनुषज्यते। ज्योतिष्टोमाद्विच्छिद्य, एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयातामिति विहितद्विकर्तृके

" कुलाय „ नामकयागमें " युवं „ मन्त्रका तथा बहुतयजमानवाले " सत्र „ में " एत „ मन्त्रका उत्कर्ष करना इस संशयके होने पर सिद्धान्त से प्रारम्भ करते हैं। द्वित्वेति। (द्वित्वबहुत्वयुक्तं) दो तथा बहुतयजमानके वाची द्वियचन तथा बहुवचनान्तपदयुक्त दोनों मन्त्रोंका " तस्मादपकृष्यते „ इस पदका पूर्वसूत्रसे अनुवर्तन करना चाहिये „ " ज्योतिष्टोम „ से विच्छेद करके " एतेन „ इत्यादि वाक्यों से विहित सायुज्य की कामनावाले राजा तथा पुरोहित दो यजमान कर्तृक कुलायादि सत्र में और सप्तदशावराः चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन् „ इत्यादि वाक्योंसे विहित बहुत यजमान कर्तृक सत्र में निवेशकरना चाहिये यह अर्थ है। क्योंकि ज्योतिष्टोममें (तस्य) दो यजमान कर्तृक यागका तथा बहुत यजमान कर्तृक यागका (अचोदनात्) विधि नहीं। यह सार है कि द्विशब्द तथा बहु शब्द रूप श्रुतियों के बल से प्रकरण का बाध करके " युवं मन्त्रका कुलाय „ नामक यागमें और

सत्रे बहुकर्तृकेच निविशतइत्यर्थः । ज्योतिष्टोमे तस्य द्विकर्तृकस्त्रस्य बहुकर्तृकत्वस्य च अचोदनादविधानात् ॥१७॥

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥ १८ ॥

पूर्वपक्षमाह। पक्षेणेति । यद्यपिज्योतिष्टोमे यजमानस्यैकस्यैवविधिः तथापि बहुद्रव्यसाध्ये ज्योतिष्टोमे यजमानस्यैकस्याऽसामर्थ्येनहेतुनाऽर्थकृतस्याऽऽर्थिक यजमानद्वयस्य त्रयस्यच संभव इति शेषः । " वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेनयजेतेति ज्योतिष्टोमस्याऽवश्यकर्तव्यत्वविधानादेकस्या

एते मन्त्रका सत्र में उत्कर्ष करना उचित है ज्योतिष्टोममें अनुष्ठान ठीक नहीं ॥ १७ ॥

अत्र उक्त सिद्धान्त पर पूर्वपक्ष करते हैं । पक्षेणेति । यद्यपि ज्योतिष्टोममें एकही यजमान की विधि है तो भी बहुत द्रव्य साध्य ज्योतिष्टोमयाग में एक यजमानका (पक्षेण) सामर्थ्य न होने कारण (अर्थकृतस्य) अर्थ से यजमान द्वयकी तथा त्रयकी प्राप्तिका सम्भव है यह शेष करना चाहिये । प्रति वसन्त ऋतुमें ज्योतिष्टोमयागकरे इस वाक्य से ज्योतिष्टोम के अवश्य कर्तव्यत्वका विधान पाया जाता है और एक यजमान का सामर्थ्य न होने से अर्थतः यजमान द्वय तथा त्रयकी प्राप्ति सिद्ध होती है अतः " प्रतिपत् ,, संज्ञक मन्त्र द्वय का ज्योतिष्टोमयाग में निवेश

ऽसामर्थ्येनाऽर्थादेव यजमान द्वयं त्रयं वा सिध्यती तित्र मन्त्र द्वयं निविशतामित्यतः प्रकरणं बाधित्वा कुलाया-दिनामके यागे नोक्तमन्त्रयोरुत्कर्षः ॥ १८ ॥

न प्रकृतेरेकसंयोगात् ॥ १९ ॥

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्याख्यातैकवचनेनैक-त्वस्य विहितत्वादित्यभिप्रायेण दूषयति । नेति । प्रकृतेः ज्योतिष्टोमस्य एकेन एककर्त्रा संयोगात् परिच्छेदात् । विहितैकत्वस्यार्थिकद्वित्येन न बाध इति भावः ॥ १९ ॥

सङ्गत हो सक्ता है, इस लिये प्रकरण का बाध करके "कुलाय" आदि नामक यागों में उक्त मन्त्रों के उत्कर्ष की कोई आवश्यकता नहीं यह भाव है ॥ १८ ॥

' स्वर्ग की इच्छावाला पुरुष ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग को उत्पन्न करे इस वाक्य में " " यजेत " इस आख्या-तान्त एक वचन से एक ही यजमान का विधान पाया जाता है अतः उक्त मन्त्रों का उत्कर्ष होगा इस अभिप्राय से दोष देते हैं । नेति । (न) पूर्वपक्षीने जो कहाथा कि मन्त्र द्वय का ज्योतिष्टोममें निवेश हो सक्ता है उत्कर्ष को कोई आवश्यकता नहीं सो ठीक नहीं, क्यों कि (प्रकृतेः) ज्योतिष्टोमयाग [एक-संयोगात] " एकेन = एककर्तासे " संयोगात = साध्य है । ज्योतिष्टोमे यजमानैकत्वं विहितं द्वित्वं बहुत्वं त्वर्थप्राप्तं विधिप्राप्ताऽर्थ

जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षः । अधि० १० ।

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥ २० ॥

लाघन्या पत्नीः संयाजयन्तीति दर्शपूर्णमासयोः श्रुतम् । जाघनी पशुपुच्छम् । अस्यप्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासयोर्निवेश उताग्निषोमीयपशाविति संशये पूर्वपक्षमाह । जाघनीति । जाघनी जाघनीविधिः पशावपकृष्येत एकदेश-

---

प्राप्तयोर्मध्ये विधिप्राप्तएवं बलियः इतिन्यायेन विहितैकत्वस्याऽऽर्थिक द्वित्वेन न कदापि बाध इति भावः ॥ १९ ॥

ज्योतिष्टोमयाग में एक यजमान विधि प्राप्त है दो अथवा बहुत यजमान अर्थ प्राप्त है, विधि प्राप्त तथा अर्थ प्राप्त के मध्य विधि प्राप्त बली होता है इस न्याय से विहित एकत्व का आर्थिक द्वित्व आदि मे कदापि बाध नहीं हो सकता यह भाव है । अब " जाघनी " का दर्शपूर्णमासयागके प्रकरण स अनुत्कर्ष कथन करते हैं । दशम अधिकरण से । " पत्नीसंयाजाख्य कर्म को जाघनी द्रव्य से करे " श० ब्र० ३ । ७ । ६ । १ । यह वाक्य दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में पठित है । " जाघनी पशु की पुच्छ का नाम है । इस का प्रकृति भूत दर्शपूर्णमासयाग में निवेश करना चाहिये किंवा अग्नीषोमीय पशुयागमें इस संशय के होने पर पूर्वपक्षको कहते हैं । जाघनीति । (जाघनी) जाघनी

त्वात् । पश्ववयवत्वात् । अयं भावः । यथोत्तरार्धात्स्वि-ष्टकृते ऽवद्यतीत्यत्र उत्तरार्धस्य अवयवस्य अवयविसापेक्षत्वेन प्रकृताग्नेयादिपुरोडाशा गृहीतास्तथा जाघन्याः पशुरूपावयविसापेक्षत्वाद् दर्शपूर्णमासे पशोरभावाद् उत्तरत्रोत्कर्ष इति ॥ २० ॥

चोदना वा अपूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

के उद्देश से " पत्नीसंयाज " नामक संस्कार का विधान है उस का उक्तयाग के प्रकरण से विच्छेद करके संस्कार्य जाघनी के अनुसार अग्नीषोमीयपशुयाग में (उत्कर्ष) सम्बन्ध करना चाहिये, क्यो कि (एकदेशत्वात्) यह पशु का (एकदेश) अवयव है। सार यह है कि " जाघनी " संस्कार्य होने से प्रधान है इसलिये जहां जाघनी है वहीं " पत्नीसंयाज " नामक संस्कार का उत्कर्ष होगा। यह भाव है कि जैसे " उत्तरार्धात्स्विष्टकृतेऽवद्यति " इस वाक्य में उत्तरार्ध रूप अवयव को अवयविसापेक्ष होने के कारण प्रकृत आग्नेय आदि पुरोडाशका ग्रहण होता है वैसे ही " जाघनी को पशुरूप अवयविसापेक्ष होने से और " दर्शपूर्णमासयागमें " पशुका अभाव है इसलिये प्रकरण को बाध करके उत्तर = अग्नि षोमीयपशुयागमें उत्कर्ष करना चाहिये ॥ २० ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। चोदनेति। दर्शपूर्णमासयागमें ही आपणस्थ जाघनी का क्रयादि से संपादन करके " पत्नीसंयाज "

सिद्धान्तमाह । चोदनेति । चोदना जाघन्याः पत्नीसंयाजाङ्गत्वेन चोदना, विधिरयम् । अपूर्वत्वात् । अप्राप्तत्वात् ॥ २१ ॥

एकदेश इति चेत् ॥ २२ ॥

नन्ववयवः अवयविनं विना न सम्भवतीति तमवश्यमाक्षिपेदितिशङ्कते । एकेति । एकदेशः अवयवः अवयविसापेक्ष इति पुरणीयम् ॥ २२ ॥

के अङ्गरूप से जाघनी का (चोदना) उक्त वाक्य में विधान है, " पत्नीसंयाज " का नहीं । क्यों कि (अपूर्वत्वात्) ऐसा होने से अपूर्व अर्थका लाभ होता है । अर्थात् " पत्नीसंयाज " नामक संस्कार कर्म को प्रथम प्राप्त होने पर भी उस का साधन " जाघनी ", प्रथम प्राप्त नहीं है ॥ २१ ॥

ननु, अवयव अवयवि के विना नहीं हो सकता इसलिये अवयविका अवश्य आक्षेप करेगा इस शंका को करते हैं । एकेति । (एकदेश) जाघनी रूप अवयव पशुरूप अवयवि की अपेक्षा वाला है इस लिये जाघनी का उत्कर्ष होगा (प्रकरण पाठ को उस प्रकरण से अलग करके अन्य उपर के पाठ से सम्बन्ध कर देने को उत्कर्ष और नीचे किसी पाठ से सम्बन्ध करने को अपकर्ष कहते हैं ॥ २२ ॥

नप्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥ २३ ॥

ऊक्तशंका परिहरति नेति । जाघनीरूपाऽवयवस्य-नावयव्यपेक्षा । अतः (प्रकृतेः) दर्शपूर्णमासयागे तत्सवन्धि जाघन्याः निवेशः । ननुदर्शपूर्णमासयागेऽवयविनं विनाऽवयवस्य कथं निवेश अत आह (अशास्त्रनिष्पतेः) असंस्कृतस्य तस्याऽपि क्रयादिना तावन्मात्रस्यनिष्पत्तेः । अयं भावः । उत्तरार्धात्स्विष्टकृते इत्यत्र उत्तरार्धशब्दः कस्येत्यवयविनं नित्यमाकाङ्क्षति । तथा न जाघनी शब्दश्रवणानन्तरं कस्येत्याकाङ्क्षाऽस्ति । तस्यपशुपुच्छेरूढत्वादिति ॥२३॥

अब उक्त शंका का परिहार करते हैं । नेति । (न) जाघनीरूप अवयव को अवयवि की अपेक्षा नहीं, इसलिये (प्रकृतेः) दर्शपूर्णमासयागमें उसके अङ्गरूपसे जाघनी का निवेश है । ननु, दर्शपूर्णमासयागमें अवयवि नहीं तो उसके विना अवयव का निवेश कैसे हो सक्ता है इस शंका पर कहते हैं (अशास्त्रनिष्पत्तेः) यद्यपि दर्शपूर्णमासमें पशुका शास्त्र से विधान नहीं तो भी असंस्कृत पशुके जाघनी मन्त्रका मूल्यादि से निष्पादन करके निवेश हो सक्ता है । यह भाव है कि " उत्तरार्ध से स्विष्टकृत् अग्नि के लिये अवदान करें " में उत्तरार्धशब्द किसका उत्तरार्ध इस प्रकार अवयवि की नियम से आकांक्षा करता है,

संतर्दनस्य संस्थानिवेशः । अधि० ११ ।

संतर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात्स्यात् ॥ २४ ॥

ज्योतिष्टोमे अभिषवणफलके प्रकृत्य श्रूयते, न संतृणत्त्य-सतृपण्णे हि हनू अथो खलु दीर्घसोमे संतृद्याध्दृत्याइति ।

वैसा जाघनी शब्द के श्रवण के बाद किस की जाघनी ऐसी आकांक्षा नहीं होती, क्योंकि उक्त जाघनी शब्द पशु के पुच्छ में रूढ है ॥ २३ ॥

अब सन्तर्दनका "ज्योतिष्टोम" यागकी संस्थाभूत "उक्थ्य" आदि यागों में उत्कर्ष कथन करते हैं एकादश अधिकरण से । ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में " सोमौ ययौः फलकयोर्निधायाऽभि-षूयते ते अभिषवणफलके " = जिन दो सिलों में सोम रख कर पीसा जाता है उन सिलों का नाम अभिषवण फलक है उसको प्रस्तुत करके " याग के नहीं मिले हुए हनुस्थानीय फलकों को संतर्दनन करे अर्थात् रज्जु बन्धनादिसे दृढ संवन्ध न करे और सोम धारण करने के लिये " दीर्घ सोम नामक याग में पीसने की दोनों सिलों को किसी रज्जु आदि से सम्यक् जोडले, " तै० सं० ६ । २ । ११ । ३ यह वाक्य पढा है, (संतृणत्ति) फलकों का मेलन न करे यह अर्थ है । " दीर्घ सोमे " आदि

संतृणत्ति फलकयोर्मेलनं न कुर्यादित्यर्थः । दीर्घसोमे इति वाक्यस्य प्रकरणे निवेश उतान्यत्रेति संशये पूर्वपक्षमाह । समिति । संतर्दनं तयोः परस्परसंयोगः प्रकृतौ निविशते दीर्घस्य यजमानस्य सोम इतिषष्ठीतत्पुरुषसंभवादनर्थलोपाद्

वाक्यों का प्रकरण में निवेश है ।किंवा अन्य में = अर्थात् ज्योतिष्टोम याग की अग्निष्टोम १ उक्थ्य २ षोडशी ३ अतिरात्र ४ अत्यग्निष्टोम ५ आप्तोर्याम ६ वाजपेय ७ यह सप्त संस्था हैं, इन सातों संस्था के मध्य " अग्निष्टोम " " प्रकृति तथा " " उक्थ्य " आदि छ ६ विकृति है, और " ज्योतिष्टोम नाम सातों का समान है, उक्त सन्तर्दन घटित वाक्यका " उक्थ्य " आदि नामक विकृति भूत संस्थाओं में उत्कर्ष होना है किंवा प्रकृति भूत " अग्निष्टोम ,, नामक प्रथम संस्थामेंही निवेश है इस संशय के होनेपर पूर्वपक्षको कहते हैं । समिति । (सन्तर्दनं) दोनों सिलों के परस्पर के संयोगका (प्रकृतौ) अग्निष्टोम में (स्यात्) निवेश है । क्योंकि दीर्घस्य सोम = ज्योतिष्टोमः = दीर्घ सोमाः जिस ज्योतिष्टोम याग का यजमान लम्बा है उसको दीर्घ सोम कहते हैं, इस षष्ठी तत्पुरुष समास के सम्भव होने से (अनर्थलोपाद्) दीर्घ सोम शब्द का अग्निष्टोम अर्थ करने में कोई बाधक नहीं है, । ननु, " हनूवा एते यज्ञस्य यदाधिषवणे न सन्तृणन्ति, असन्तृण्णे हि हनू = यह सोम पीसने की दोनों सिलें अग्निष्टोम

उक्तार्थस्याबाधात् । नन्वसंतर्दनमपि प्रकृतौ श्रूयते कथं द्वयोर्निवेश इत्यत आह। क्रयणवदिति। यथा गवा ते क्रीणातीति क्रयस्य गवैव सिद्धौ पुनर्वाससा क्रीणातीत्यादिभिः सह गौर्विकल्प्यते तथा ऽत्रापि। न च दशद्रव्याणां समुच्चयस्य द्वादशे सिद्धान्तात् कथं विकल्पः कथं वा क्रयवदिति दृष्टान्त इति वाच्यम् । द्वादशे विकल्प इति पूर्व-

याग की दो हनू हैं, और हनू आपस में जुड़ी नहीं होती इस लिये उक्त याग में इनका भी "सन्तर्दन" नहीं किया जाता, इत्यादि वाक्यों से असंतर्दन का भी प्रकृति याग में विधान है तब सन्तर्दन और असंतर्दन इन दोनों का निवेश कैसे हो सक्ता है इस पर कहते हैं। क्रयणवदिति । जैसे "सोम मूल्य लने में "गवाते क्रीणाति" = गौ आदि से सोम को मूल्यले, आदि वाक्य से क्रय को गोद्वार ही सिद्ध होने पर पुनर्वाससा क्रीणाति आदि के साथ गौ का विकल्प होता है वैसा ही यहां भी समझना चाहिये अर्थात् सोम क्रय के साधन हिरण्य तथा गौ आदि की भांति उसका प्रकृति में विधान बन सक्ता है । तात्पर्य्य यह है कि "हिरण्येन क्रीणाति" "गवा क्रीणाति" = सुवर्ण अथवा गौ आदि से सोम को मूल्यले, इत्यादि वाक्यों से "हिरण्य" आदि का विकल्प सर्व सम्मत है, और उसके होने से कदाचित्

पक्षमतं गृहीत्वैव दृष्टान्तसंकीर्तनात् ॥ २४ ॥

उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ॥ २५ ॥

सिद्धान्तमाह । उत्कर्ष इति । वाशब्द एवार्थे । सन्तर्दनस्य प्रकरणादुत्कर्षएवस्यात् । कुतः । विशेषस्यग्रणात् दीर्घसोमशब्देन प्रकृतिसोमविकारस्यग्रहणात् । नहीष्टिपशु दर्वीहोमापेक्षया दीर्घत्वं दीर्घसोमशब्द प्रवृत्तौनिमित्तम् ।

हिरण्य से कदाचित् गौसे तथा कदाचित् वस्त्रादि से सोम मूल्य लिया जाता है, वैसाही अग्निष्टोम में भी उक्त निषेध के होने से कदाचित् सन्तर्दन तथा कदाचित् असन्तर्दन की कल्पना की जा सक्ती है सर्वथा सन्तर्दन के निषेध का स्वीकार युक्त नहीं, इस लिये उक्त वाक्य में जो सन्तर्दन कथन किया है उसका अग्निष्टोम रूप प्रकृति में ही निवेश है " उक्थ्य " आदि विकृति में उत्कर्ष नहीं । दशद्रव्योंके समुच्चयको द्वादश अध्याय में सिद्धान्त होने से विकल्प तथा " क्रयवत् " यह दृष्टान्त कैसे हो सक्ता है ऐसा नहीं कहना चाहिये । क्यों कि द्वादश अध्याय में विकल्प होता है इस पूर्वपक्ष के मत को ग्रहण करके ही दृष्टान्तका संकीर्तन किया गया है ॥ २४ ॥

अब उक्त पूर्वपक्षका समाधान करते हैं । उत्कर्ष इति । " वा " शब्द अवधारण अर्थ में आया है । (उत्कर्षः) अग्नि-

तथा सति सोमशब्दस्य वैयर्थ्यात् सर्वस्यापिसोमस्य इष्ट्याद्यपेक्षया दीर्घत्वात् । अतः सजातीय सोमान्तरापेक्षमेव वहुसोम द्रव्यकत्वचिरकालत्वादिरूपमेव दीर्घत्वं विवक्षित मितिस्यादुत्कर्षः ॥ २५ ॥

ष्टोम प्रकृति से सन्तर्दन का उत्कर्ष ही होता है क्यों कि (विशेषस्यग्रहणात्) दीर्घ सोम शब्द से प्रकृति सोम याग के विकृति सोम याग का ग्रहण किया हे । क्योंकि इष्टि पशुयाग तथा दर्वी होम के अपेक्षासे सोमका दीर्घत्व दीर्घ सोम शब्द के प्रवृत्ति में निमित्त नहीं हो सक्ता । तथा सति = ऐसा होने पर सोम शब्द को वैयर्थ्य आता है, क्यों कि सत्र सोम याग को इष्टि आदि के आपेक्षासे दीर्घत्व है । इसलिये सजातीय सोमान्तर अपेक्षही वहुत सोम द्रव्यकत्व तथा चिरकालत्वादि रूपही दीर्घत्व विवक्षित है. अर्थात् " ग्रहों की अधिकता तथा पुनः २ आवृत्ति के कारण जो दीर्घ काल में होने से दीर्घ तथा ज्योतिष्टोम है उसको " दीर्घ सोम " कहते हैं · यह उक्त पद का अर्थ होता है ' और अग्निष्टोम याग में ग्रहों की अधिकता तथा आवृत्ति के होने से उक्त अर्थ सङ्गत नहीं हो सक्ता और " उक्थ्य " आदि विकृति यागों में ग्रहों की अधिकता तथा " द्विरात्र " आदि में आवृत्ति का सद्भाव होने से उक्तार्थ भले प्रकार घट जाता है जिससे स्पष्ट होता है कि " दीर्घसोम "

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥

असंतर्दनं नित्यम् । पञ्चदशसामिधेनीवत् । वैश्यकर्तृकत्वे निमित्ते तत्रैव साप्तदश्यं तथा असंतर्दनं नित्यं संतर्दनं कर्तृविशेषे निमित्तइत्यभिप्रायेण शङ्कते । कर्त्रिति । कर्तृतो विशेषस्य यजमाने दीर्घत्वस्य तन्निमित्तत्वात् संतर्दननिमित्तत्वात् ॥ २६ ॥

" उक्थ्य " आदि का ही नाम है अग्निष्टोमका नहीं, इसलिये " सन्तर्दन " का उक्थ्यादि में उत्कर्ष मानना ठीक है अग्निष्टोम में ही निवेश मानना ठीक नहीं ॥ २५ ॥

अत्र सिद्धान्त में पुनः पूर्वपक्ष करते हैं । असन्तर्दन नियम से रहता है । पञ्चदश सामिधेनी की भांति । वैश्य कर्तृकत्व के निमित्त होने पर उसी स्थान में सप्तदशत्व संख्या से युक्त सामिधेनी होती है वैसा ही असन्तर्दन नित्य है और सन्तर्दन कर्ता विशेष के निमित्त होने पर होता है इस अभिप्राय से शङ्का करते है । कर्त्रिति । (कर्तृतो विशेषस्य) " सार्वविभक्तिकस्तसिः " यजमान रूप कर्ता में दीर्घत्व रूप विशेषण को (तन्निमित्तत्वात्) सन्तर्दन का निमित्तत्व है । तात्पर्य्य यह है कि जिस याग का यजमान दीर्घ अर्थात् लम्बा हैं उसको दीर्घ सोम कह सक्ते हैं, उक्त वाक्य में जो ज्योतिष्टोमको " दीर्घसोम " कथन किया है

क्रतुतो वा ऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥ २७ ॥

सिद्धान्ती पूर्वपक्षं निराह । क्रतुत इति । क्रतुतः विशेषस्य दीर्घकालसाध्यत्वस्य संतर्दननिमित्तत्वं, न कर्तृतः । अर्थवादानुपपत्तेः । धृत्याइत्यर्थवादस्य कर्तृविशेषपक्षे ऽसंभवः । तथा हि । चिरकालसाध्यक्रतौ पुनः पुनः ग्रावभिः हन्यमाने फलकयोः विश्लिष्टयोः दारणशङ्का भवति । परस्पर संयोगे

वह भी यजमान के अभिप्राय से किया है और यजमान का दीर्घ होना अग्निष्टोम में भी सम्भव है इसलिये अग्निष्टोम में ही सन्तर्दन का निवेश युक्त है " उक्थ्य ', आदि में उत्कर्ष युक्त नहीं ॥ २६ ॥

अब सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का निराकरण करता है । क्रतुत इति । (क्रतुतः विशेषस्य) यागनिष्ठ दीर्घ काल में पूर्ण होना रूप जो साध्यत्व है वह सन्तर्दन का निमित्त है, कर्तानिष्ठ दीर्घत्व सन्तर्दन का निमित्त नहीं, क्योंकि (अर्थवादानुपपत्तेः) " धृत्यै शब्द से जो सन्तर्दन का सोम धारण करना रूप फल कथन किया है वह दीर्घत्व को कर्ता का विशेषण मानने पक्ष में नहीं बन सक्ता । इस को ही देखाते है, चिरकाल से पूर्ण होने वाले क्रतु में = याग में " ग्रावभिः " लोड़ोंद्वारा सोम के पुनः २ अवघात = पीसनेपर विश्लिष्ट सिलों का हिलकर पृथक् २ हो

परस्पराश्रयेण शिथिलं न भवेत् । अतः तत्र संतर्दनं कार्य-मित्यर्थवादः संगतः न हि यजमानदैर्घ्यं धारणे निमित्त-मिति ॥ २७ ॥

जाना तथा किसी एक के फूट जाने की शंका सम्भव है । परस्पर के संयोग होने पर परस्पर के आश्रय से शिथिल नहीं रहे, इसलिये "तत्र= फलकों में रज्जु आदि बन्धनों से संतर्दन= सम्मेलन करना चाहिये यह अर्थवाद संगत होता है अर्थात् संतर्दन का सोम धारण करना रूप जो फल है उसका कथन संगत होता है । यजमान का दीर्घत्व सोम के धारण में निमित्त नहीं । केचित् इस सूत्र की ऐसी व्याख्या करते हैं कि उक्त वाक्य में संतर्दन का फल "धृत्यै" शब्द से सोम को धारण करना कथन किया है वह तब ही बन सक्ता यदि "दीर्घसोम" रूप विशेषण की प्रवृत्ति क्रतु के सम्बन्ध से माना जाय । तात्पर्य्य यह है कि दीर्घसोम माने तो इतने लम्बे काल में लोहडे द्वारा सोम के पुनः २ पीसने से विश्लिष्ट सिलों का हिलकर जुदा २ हो जाना तथा किसी एक का फूट जाना सम्भव है और पुनः उनसे सोम का धारण होना असम्भव है, यह शंका उत्पन्न हो सक्ती है, और इसके उत्पन्न होने से "सन्तर्दन" का विधान तथा उसके फल का कीर्तन बन सक्ता है, और यदि यजमान के दीर्घ होने से ज्योतिष्टोम का नाम "दीर्घसोम" मानें तो उक्त शंका कदापि

संस्थाश्च कर्तृवद्धारणाविशेषात् ॥ २८ ॥

संस्थासु संतर्दनं निविशतइति सिद्धान्त्यभिप्रायं ज्ञात्वा तमाक्षिपति । संस्था इति । संस्था अग्निष्टोमादिसंस्थाः न संतर्दनाश्रयाः प्रकृतौ कर्तृवत् । यथा कर्तुर्दैर्घ्यं धारणे अप्रयोजकं तथा प्रकृतौ यावन् सोमः तावानेव संस्था-

---

उत्पन्न नहीं हो सक्ती क्योंकि लोक में दीर्घकाल पर्य्यन्त होनेवाले कर्म में ही किसी पदार्थ के पुनः २ पीसने से सिलों का हिलकर जुदा २ होना तथा फूटना देखा जाता है यजमान के दीर्घ होने से नहीं, और उक्त शंका के उत्पन्न होने से उसकी निवृत्ति के लिये "सन्तर्दन" का विधान तथा उसके फल का कथन भी नहीं हो सक्ता, परन्तु सन्तर्दन का विधान तथा उसके फल का कथन किया है इससे ज्ञात होता है कि "दीर्घसोम" यह ज्योतिष्टोम का विशेषण यजमान के सम्बन्ध से नहीं किन्तु दीर्घकाल में होने वाले याग के सम्बन्ध से है, और दीर्घकाल में "उक्थ्य" आदि का ही अनुष्ठान होता है अग्निष्टोम का नहीं, इसलिये सन्तर्दन का उक्थ्य आदि में उत्कर्ष होना ठीक है अग्निष्टोम में निवेश ठीक नहीं ॥ २७ ॥

सब संस्थाओं में "सन्तर्दन" का निवेश होता है ऐसा सिद्धान्ती के अभिप्राय को समझकर उसपर आक्षेप करता है । संस्था इति । (संस्थाः) अग्निष्टोमादि संस्थायें (च) सन्तर्दन का

स्वपीति अर्थवादप्रतिपाद्यधारणार्थस्य संस्थायामप्यविशेषात्। तथा चार्थवादप्रतिपाद्यार्थे न स्वरस इति भावः ॥ २८ ॥

उक्थ्यादिषु वा ऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २९ ॥

आश्रय नहीं, (प्रकृतौ कतृवत्) जैसे कर्ता का दीर्घत्व सोम के धारण में प्रयोजक नहीं वैसा ही प्रकृतियाग में "यावान्" दशमुष्टि परिमित ही सोम पीसा जाता है उतना ही सोम "पञ्च कृत्वो" यजुषामिमीते "पञ्चकृत्वस्तूष्णीम्" इत्यादि वचन से "उक्थ्यादि संस्थाओं में भी पीसा जाता है, अतः अर्थवाद प्रतिपाद्य धारणरूप अर्थ को सब संस्थाओ में भी (अविशेषात्) समान होने से सन्तर्दन का प्रयोजक नहीं। तथाच– अविशेष होने से अर्थवाद प्रतिपाद्य अर्थ= धारणरूप अर्थ में स्वरस= तात्पर्य्य नहीं यह भाव है। अतः सन्तर्दन व्यर्थ है।

द्वितीय व्याख्या। ज्योतिष्टोम याग की सात संस्था है। उन सब में सोम कूटा जाता है और कूटना धारण करने के बिना नहीं हो सक्ता और धारण करना सन्तर्दन के आधीन है इसलिये ज्योतिष्टोम के कर्ता की भांति सन्तर्दन का भी अग्निष्टोम आदि सब संस्थाओं में निवेश होना चाहिये "उक्थ्य" आदि में ही नहीं ॥ २८ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। उक्थ्यादीति। (उक्थ्यादिषु)

सिद्धान्तमाह। उक्थ्यादिति। उक्थ्यादिसंस्थासूतकर्षः संभवति तास्वर्थस्य संतर्दनफलस्य दृढधारणस्य विद्यमानत्वात्। उक्थ्यादिषु यागाभ्यास वृद्धिरस्ति। तच्च द्रव्याधिक्यमन्तरा न संभवति। सोमाधिक्ये अभिषवाधिक्यात् संतर्दनं सफलमिति भावः॥ २९॥

उक्थ्यादि संस्थाओं में ही सन्तर्दन का निवेश मानना ठीक है, क्योंकि उक्तसंस्थाओंमें (अर्थस्य) सन्तर्दन का फल रूपदृढ धारण (विद्यमानत्वात्) विद्यमान है । उक्थ्यादिओंमें याग के अभ्यास = आवृत्ति की वृद्धि होती है । और वह वृद्धिरूप अर्थ द्रव्याधिक्य के विना हो नहीं सक्ता । सोम के आधिक्य होने पर अभिषव = सोम का पीसना अधिक होता है और उसके अधिक होने से सन्तर्दन सफल है यह भाव है।

। द्वितीय व्याख्या । यद्यपि ज्योतिष्टोम की सब संस्था समान हैं और सब में समान भाव से सोम कूटा जाता है तथापि "अग्निष्टोम" की अपेक्षा "उक्थ्य" आदिओं में पुनः पुनः अभ्यास के कारण काल का व्यय अधिक होता है और पुनः २ के अभ्यास तथा ग्रहों की अधिकता के कारण सोम भी अधिक कूटा जाता है उसके अधिक कूटजाने से पूर्वोक्त शंका की निवृति के लिये "सन्तर्दन" का निवेश आवश्यक है, सन्तर्दन का निवेश होने से उसके फल सोम धारण का होना भी

अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥ ३० ॥

ज्योतिष्टोमे दशमुष्टिपारिमितः सोम उक्थ्यादिष्वपि तावानेव आतिदेशेनायाति कुतोऽधिकः सोमः । सोमयागाभ्यासवृद्धिस्त्वलपं गृहित्वैव पूरणीयेति नाभिषवाधिक्यम् ।

उचित है, इस प्रकार "उक्थ्य" आदि में जैसें सन्तर्दन का फल देखा जाता है वैसे अग्निष्टोम में नहीं, क्योंकि उसमें सोम के परिमित होने से सन्तर्दन की आवश्यकता नहीं है इसलिये उसका "उक्थ्य" आदि में ही निवेश होता है अग्निष्टोम मे नहीं ॥२९॥

ज्योतिष्टोम याग में दशमुष्टी परिमित सोम पीसा जाता है उतना ही सोम "उक्थ्य" आदिओं में भी "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" इस अतिदेश वाक्य से आता है तब अधिक सोम कैसे हो सक्ता है । और सोम यागाभ्यास की वृद्धि तो अल्प सोम को ग्रहण करके ही पूर्ण कर लेना चाहिये और ऐसा करने से अभिषव का आधिक्य नहीं होता । और "धृत्यै" इस वाक्य से "उक्थ्य" आदिओं की (स्तुतिः) स्तुति (व्यर्था) व्यर्थ ही है यह आशंका करते हैं । अविशेषादिति । (स्तुतिः) उक्थ्यादिओं की दीर्घसोम रूप से स्तुति (व्यर्था) व्यर्थ है, क्योंकि (अविशेषात्) ज्योतिष्टोम की सब संस्थाओंमें सोम का मान = प्रमाण समान

धृत्याइति स्तुतिर्व्यर्थैवेतिशङ्कते । अविशेषादिति । अविशेषात् । सोममानाविशेषात् । अधिकद्रव्यापादकशास्त्राभावादिति भावः ॥ ३० ॥

स्यादनित्यत्वात् ॥ ३१ ॥

है । अधिक द्रव्य का आपादक शास्त्र का अभाव है यह भाव है । द्वितीय व्याख्या । ज्योतिष्टोम याग की उक्त सप्त संस्थाओं के मध्य "अग्निष्टोम" संस्था प्रकृति तथा उक्थ्यादि सम्पूर्ण संस्था विकृति हैं और "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" के अनुसार प्रकृति में स्थित सोम का ही विकृति में अतिदेश होता है और प्रकृति में केवल दशमुष्टी परिमित सोम है अधिक नहीं, इसलिये "उक्थ्य" आदि विकृति में अधिक सोम का होना असम्भव है और उसके न होने से "अग्निष्टोम" की अपेक्षा उक्थ्यादि की उक्त स्तुति करना निरर्थक है । तात्पर्य्य यह है कि ज्योतिष्टोम की सब संस्था समान उनके मध्य किसी में सोम न्यून तथा किसी में अधिक नहीं कह सके और सब में सोम के समान होने से सन्तर्दन का उपयोग भी समान है इसलिये उसका केवल उक्थ्यादि में ही निवेश मानना ठीक नहीं किन्तु उक्थ्यादि की भांति अग्निष्टोम में भी निवेश मानना उचित है ॥ ३० ॥

उक्थ्यादिओं में अर्थवाद के सफलत्व को दृढ करते हैं ।

उक्थ्यादावर्थवादसाफल्यं द्रढयति । स्यादिति । सोमस्याधिक्यमुक्थ्यादिषु शास्त्रीयं स्यात् । दशमुष्टिपरिमाणस्यानित्यत्वात् । प्रजाभ्यस्त्वेत्युपसमूहतीत्याधिकसोमस्यापि विधानादिति अवदानवृद्धावभिषवस्यापि वृद्धेर्धृत्या-इत्यर्थवादः सफल इति भावः ॥ ३१ ॥

स्यादिति । (स्यात्) उक्थ्यादिओं में शास्त्रीय सोम अधिक हो सक्ता है । क्योंकि (अनित्यत्वात्) दशमुष्टि परिमाण का विधायक शास्त्र अनित्य है । "प्रजाभ्यस्त्वा इत्यत्राशिष्टानं शुनूपसमूहति" = प्रजाभ्यस्त्वा इत्यनेन मन्त्रेण दशमुष्टि परिमित सोमेनावशिष्ट सोमलता संयोजयति "इत्यर्थः"= "प्रजाभ्यस्त्वा" इस मन्त्र द्वारा दशमुष्टि परिमित सोम के साथ अवशिष्ट सोमलताओं को मिलादे इस वाक्य से "उक्थ्य" आदिओं में अधिक सोम का विधान पाया जाता है इसलिये सोम का अवदान अधिक होगा और उसके अधिक होने पर सोम का पीसना भी अधिक होना निश्चित है इसलिये "धृत्यै" यह अर्थवाद व्यर्थ नहीं यह भाव है । द्वितीय व्याख्या । यद्यपि प्रकृति में स्थित सोम का ही विकृति में अतिदेश होता है तथापि उक्थ्यादि में सोम का अधिक होना सम्भव है, क्योंकि दशमुष्टि परिमाण के विधायक शास्त्र का अपवाद देखने से उसके अनित्य होने का निश्चय होता है इससे

प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयत्वम् । अधि. १२ ।

संख्य युक्तं क्रतोः प्रकरणात्स्यात् ॥ ३२ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रुतं, न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यादिति । न प्रवृञ्ज्यात् प्रवर्ग्याख्यं कर्म न कुर्यात् । ज्योतिष्टोमस्य यावत्प्रयोगेषु निषेधः उत प्रथमप्रयोगइति संशय पूर्वपक्षमाह ।

उक्थ्यादि में सोम का अधिक होना भी निश्चित है इसलिये स्तुति सफल है अतएव यही मानना ठीक है कि सन्तर्दन का उक्थ्यादि में उत्कर्ष होता है अग्निष्टोम में निवेश नहीं ॥ ३१ ॥

अब "प्रवर्ग्य" नामक कर्म के निषेध का विषय प्रथम प्रयोग है अर्थात् प्रथम प्रयोग में निवेश है यह द्वादश अधिकरण से कहते हैं । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "न प्रथम यज्ञे प्रवृञ्ज्यात्" इति । प्रथम यज्ञ में प्रवर्ग्य नामक कर्म न करें, यह वाक्य पढा है । इसमें "प्रथम यज्ञ" पद "ज्योतिष्टोम" का वाचक है किंवा प्रथम प्रयोग का वाचक है अर्थात् उक्त वाक्य में जो "प्रवर्ग्य" नामक कर्म का निषेध किया गया है उसका "ज्योतिष्टोम" याग मात्र में निवेश है कि किसी ज्योतिष्टोम याग में प्रवर्ग्य संज्ञक कर्म न करें अथवा उक्त याग के अग्निष्टोम सम्बन्धी प्रथम प्रयोग में निवेश है कि ज्योतिष्टोम के प्रथम

संख्येति । संख्यायुक्तं प्रथमपदयुक्तं क्रतोः सम्बन्धित्वेन विधायकं प्रकरणात् । नानृतं वदेदितिवत् । एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोम इत्यनेन ज्योतिष्टोमवाचकत्वे सिद्धे प्रथमयज्ञमात्रे निवेशादिति भावः ॥ ३२ ॥

प्रयोग में प्रवर्ग्य कर्म न करे दूसरे, तीसरे प्रयोग में करे इस संशय के होनें पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । संख्येति । (संख्यायुक्तं) संख्यावाची प्रथम पद वाला वाक्य (क्रतो) ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी "प्रवर्ग्य" नामक कर्म का मिषेधक (स्यात्) है क्योंकि (प्रकरणात्) ज्योतिष्टोम के प्रकरण में "न प्रथम यज्ञे प्रवृञ्ज्यात्" इस वाक्य का पाठ है ।

जैसे "नानृतंवदेत्" यह वाक्य " दर्श पूर्ण मास याग सम्बन्धी अनृतभाषण का निषेधक है। तद्वत् । पूर्व पक्षी का यह भाव है कि उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पढा है । और "एषवावप्रथमोयज्ञो,, = सब यज्ञों के मध्य "ज्योतिष्टोम,, प्रथम यज्ञ है, इस वाक्य से ज्योतिष्टोम याग का वाचक प्रथम यज्ञ पायाजाता है इसलिये उक्त निषेध का प्रथम यज्ञ पद के वाची "ज्योतिष्टोम,, मात्र में निवेश होना उचित है ज्योतिष्टोम के अग्निष्टोम सम्बन्धी प्रथम प्रयोग में नहीं ॥ ३२ ॥

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य
तन्निमित्तत्वात् ॥ ३३ ॥

सिद्धान्तमाह। नैमित्तिकमिति। चतुर्षु वेदेषु न प्रथम यज्ञ संज्ञकः क्रतुरस्ति। किन्तु कर्तृसंयोगात्कर्त्राऽऽद्य प्रयत्न सम्बन्धादुक्तवाक्ये ज्योतिष्टोमस्य प्रथम यज्ञ संज्ञा निर्दिश्यते। यच्चवस्तु निष्ठं प्राथम्यं तन्नैमित्तिकं द्वितीय कृत्यादिसापेक्षम्। कथं ज्ञातं तत्राह। लिङ्गस्याऽर्थनिर्णायक व्यवहारस्य तान्निमित्तत्वाद् द्वितीयकृत्यादिसापेक्षत्वस्य लोके दृष्टत्वात्। प्रथम शब्दस्याऽऽद्यकृत्यधीन प्रथम प्रयोगे रूढत्वात्प्रथमप्रयोगेणैव सम्बध्यते निषेध इति भावः।

अब सिद्धान्त को कहते हैं। नैमित्तिकमिति। चारों वेदों में प्रथम यज्ञ नामक कोई क्रतु नहीं। किन्तु (कर्तृसंयोगात्) कर्ता के आद्य प्रवृत्ति के सम्बन्ध से उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम का प्रथम यज्ञ नाम कथन किया है, और जो वस्तु में प्राथम्य है वह (नैमित्तिकं) द्वितीय कृति आदि का अपेक्षा रखता है। यह कैसे ज्ञात हुआ इस शङ्का पर कहते हैं। (लिङ्गस्य) अर्थ निर्णायक व्यवहार को (तन्निमित्तत्वात्) द्वितीय प्रवृत्ति आदिसापेक्षत्व लोक में देखा गया है। प्रथम शब्द को कर्त्ता के आद्य कृति के आधीन प्रथम अनुष्ठान में रूढत्व होने से प्रथम प्रयोग के साथ ही निषेध का सम्बन्ध है यह भाव है। ननु, सप्त

ननु सप्त संस्था युक्तस्य ज्योतिष्टोमस्य प्रथम संस्था रूपऽग्निष्टोमेऽयंनिषेधः पर्यवस्यति । तथाचाऽग्निष्टोमे प्रवृणक्तीतिविधि व्याकोप इति चेत् । मैवम् । कामं तु योऽनूचानः स्यात्तस्यप्रवृञ्ज्यादितिश्रवणाद् विधेरनूचान कर्तृकेऽग्निष्टोमे प्रवृत्तिः तदितर कर्तृके च निषेधस्येति कल्पनात् ।

अन्येतु एवमाहु । न प्रथम यज्ञे प्रवृञ्ज्यादिति वाक्ये प्रथम यज्ञनाम्ना यो ज्योतिष्टोमस्य निर्देशो दृश्यते, सकर्त्तुः तद्यज्ञ विषयक प्रथम प्रवृत्यभिप्रायेण, नतु रूढ्याभिप्रायेण लोके यथा कर्तुः प्रथम प्रवृत्ति विषयी भूतङ् कर्म प्रथममिति

संस्था युक्त ज्योतिष्टोम के प्रथम संस्था रूप अग्निष्टोम में प्रवर्ग्य का निषेध है, और ऐसा होने से "अग्निष्टोम में प्रवर्ग्य कर्म करे" यह विधि वाक्य विरुद्ध होता है यदि ऐसा कहो तो यह कथन ठीक नहीं। "कामंतुयोऽनूचानः स्यात्तत्र प्रवृञ्ज्यात्,, = अग्निष्टोम का यदि वेदवित् यजमान हो तो "प्रवर्ग्य,, कर्म अवश्य करे इस विधि वाक्य के पाये जाने से अनूचान कर्तृक अग्निष्टोम में विधि की प्रवृत्ति और उससे भिन्न कर्तृक में निषेध की इस कल्पना के होने से। अन्य तो ऐसा कहते हैं "न प्रथम यज्ञे प्रवृञ्ज्यात् ,, इस वाक्य में जो ज्योतिष्टोम का प्रथम यज्ञ के नाम से कथन किया है वह रूढि के अभिप्राय से नहीं किया

निगद्यते, यथा वा द्वितीय प्रवृति सिद्धन्द्वितीयमिति, यथाच तृतीय प्रवृति सिद्धन्तृतीयमित्युच्यते, तथैव उपर्युक्त वाक्येऽपिज्योतिष्टोमादि याग सम्बन्धी प्रयोगाणामावृति पक्षमनुसन्धाय कर्त्तुः प्रथम प्रवृीय सिद्धा प्रथमा वृत्तिरेव प्रथम यज्ञपदेनोक्ता, नतु ज्योतिष्टोमस्य प्रथम यज्ञेति रूढि नामास्तीत्यभिप्रायेण कथनम् ,तथैव "एषवावैति वाक्येऽपि ज्योतिष्टोमः प्रथम यज्ञ पदेनाभिहितः सोऽप्युक्त यागः सर्व यागेषु प्रथमानुष्ठेय इत्यभिप्रायेणैव । सारांशस्त्वयं यत् वस्तुतः प्रथम द्वितीयादि शब्दाः कर्मणः आवृतावेव मुख्याः कर्मसाध्यवस्तुषुच तेषामुपचारेणैव प्रयोगो भवति, यथा

किन्तु कर्ता की प्रवृत्ति के अभिप्राय से किया है अर्थात् जैसे लोक में कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति से सिद्ध हुए कर्म को प्रथम, द्वितीय प्रवृत्ति से सिद्ध हुए कर्म को द्वितीय तथा तृतीय प्रवृत्ति से सिद्ध हुए कर्म को तृतीय कर्म कहते हैं वैसे ही उक्त वाक्य में भी ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी प्रयोगों की आवृत्ति पक्ष का अनुसन्धान करके कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति से सिद्ध हुई प्रथम आवृत्ति को प्रथम यज्ञ कर्म की क्रिया है, ज्योतिष्टोम का रूढि नाम है इस अभिप्राय से कथन नहीं किया और "एषवाव" वाक्य में जो ज्योतिष्टोम याग प्रथम यज्ञ कहा है वह भी उक्त सब यागों में प्रथम अनुष्ठेय है इस अभिप्राय से कहा है। तात्पर्य

वेदे प्रथमाध्ययन योगत्वेन प्रथमकाण्डम्, द्वितीयाध्ययनार्हत्वेन द्वितीयकाण्डमिति तद्वदेव लोकेऽपि प्रथमोत्पन्नत्वेन प्रथमपुत्रेति द्वितीयोत्पत्तित्वेन द्वितीयपुत्रेत्ययं व्यवहार उपचारेण भवति, तेनैव प्रकारेण ज्योतिष्टोम यागस्यावृत्ति पक्षेऽपि प्रत्यावृत्तिम्प्रति प्रथमादि संख्यानां सम्बन्धो भवितुमर्हति, तेनावृत्ति भेदात् प्रथमावृत्तेः प्रथम यज्ञेति द्वितीयावृतेः द्वितीय यज्ञेत्यादिनाम कथनं संभवति,

---

यह है कि प्रथम द्वितीय आदि शब्द वस्तुतः कर्म की आवृत्ति में मुख्य हैं और कर्म साध्य वस्तु में उनका उपचार से प्रयोग होता है जैसा कि वेद तथा लोक में प्रथम अध्ययन योग्य होने से "प्रथमकाण्ड" द्वितीय अध्ययन के योग्य होने से "द्वितीयकाण्ड" और प्रथम उत्पन्न होने से प्रथम पुत्र तथा द्वितीय वार उत्पन्न होने से द्वितीय पुत्र, यह उपचार से व्यवहार होता है, इसी प्रकार ज्योतिष्टोम याग के आवृत्ति पक्ष में भी प्रत्यावृति प्रथम आदि संख्या का सम्बन्ध हो सक्ता है और उसके होंने से आवृति भेद के कारण प्रथम आवृत्ति का नाम प्रथम यज्ञ तथा द्वितीय आवृत्ति का नाम द्वितीय यज्ञ आदि कथन बन सक्ता है। आवृत्ति तथा प्रयोग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और उक्त कथन के बन जाने से स्पष्ट है कि ज्यौतिष्टोम याग की प्रथम आवृत्ति में ही "प्रवर्ग्य" संज्ञक कर्म का निषेध किया है प्रत्यावृत्ति अर्थात्

"आवृत्ति प्रयोग शब्दावेकार्थ प्रतिपादकौ" एतेनोक्त कथनेनेदंस्पष्टं यत् ज्योतिष्टोम यागस्य प्रथमावृत्तावेव प्रवर्ग्यसंज्ञक कर्मणो निषेधः कृतः, तस्माज्ज्योतिष्टोमस्य प्रयोग मात्रे प्रत्यावृत्तिर्नास्ति, तेनोक्त निषेध विषयकत्वं ज्योतिष्टोमस्य प्रथम प्रयोग एव न सर्वत्र, अत्रेदंस्मर्त्तव्यं, यत् ज्योतिष्टोम यागस्य सप्त संस्था वर्त्तन्ते तासु सप्त संस्थान्यतमयागस्य प्रथम प्रयोगे पूर्वोक्त निषेध प्रवृत्ति-र्नास्ति, किन्तु प्रथम संस्था रूपेऽग्निष्टोमस्य प्रथम प्रयोग एवोक्त निषेध प्रवृत्तिर्वर्तते, तत्रापि प्रतिकर्तुरग्निष्टोम विषयक प्रथम प्रयोगे तत्प्रवृत्तिर्नैव कथयितुं शक्यते, संस्थान्तरवद्धि

ज्योतिष्टोम के प्रयोग मात्र में नहीं, इसलिये उक्त निषेध का निवेश ज्योतिष्टोम याग के प्रथम प्रयोग में है सर्वत्र नहीं। यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि ज्योतिष्टोम याग की सात संस्थायें हैं उनके मध्य प्रति संस्था प्रथम प्रयोग में उक्त निषेध का निवेश नहीं किन्तु प्रथम संस्थारूप अग्निष्टोम के प्रथम प्रयोग में ही उक्त निषेध का निवेश है उसमें भी प्रत्येक कर्ता के अग्निष्टोम सम्बन्धी प्रथम प्रयोग में निवेश नहीं कह सक्ते, क्योंकि अन्य संस्था की भांति उसमे भी "प्रवर्ग्य" संज्ञक कर्म का विधान पाया जाता है जैसा कि "उपसद होमों से पूर्व प्रवर्ग्य" संज्ञक कर्म करे, इत्यादि वाक्यों से ज्योतिष्टोम की संस्था मात्र में "प्रवर्ग्य" नामक कर्म का

तस्मिन्नपि प्रवर्ग्य संज्ञक कर्मणो विधानं दृश्यते, तथाचोक्तं "पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्यं प्रवृणक्ति" इत्यादि वाक्येभ्यो ज्योतिष्टोमस्य संस्थामात्रे प्रवर्ग्य संज्ञक कर्मणो विधानङ्कृत्वा ततश्चोक्तंयत् "अग्निष्टोमे प्रवृणक्ति" अतः कामंतुयोऽनूचानः स्यात् तस्यप्रवृञ्ज्यात् एतद्विशेष विधायक वाक्य प्रामाण्यात् यस्याग्निष्टोमयागस्य यजमानो वेदविन्नास्ति तस्य प्रथम प्रयोगे प्रवर्ग्य कर्म विषयक निषेध प्रवृत्तिर्वर्तते नाग्निष्टोमस्य यावत्प्रथमप्रयोगेषु ॥ २२ ॥

पौष्णपेषणस्य विकृतौ निवेशः । अधि० १२ ।

विधान करके पश्चात् कहा है कि "अग्निष्टोम में "प्रवर्ग्य" कर्म करे, इसलिये "अग्निष्टोम का यदि वेदवित् यजमान हो तो" प्रवर्ग्य कर्म अवश्य करे, इस वाक्य विशेष के आधार से जिस अग्निष्टोम याग का वेदवित् यजमान नहीं है उसके प्रथम प्रयोग में "प्रवर्ग्य" कर्म के निषेध का निवेश है अग्निष्टोम के सब प्रथम प्रयोगों में नहीं । तप्त घृतेपयः प्रक्षेपः प्रवृञ्जनम् । तच्च यस्मिन्कर्मणि वर्तते स प्रवर्ग्यः । तप्तघृत में पय डालने का नाम प्रवृञ्जन है । और वह जिस कर्म में होता है उसका नाम प्रवर्ग्य कर्म है ॥ २२ ॥

अब पौष्ण पेषण के विकृति याग में निवेश = विनियोग

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताचोदनात्प्रकृतौ ॥ ३४ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, तस्मात्पूषा प्रपिष्टभाग इतिः। पूषोद्देश्यकं द्रव्यं पेषणं कृत्वा देयमित्यर्थः। इदं दर्शपूर्ण मासादुत्कृष्यते न वेति संशये सिद्धान्तमेवाह। पौष्णमिति। पौष्णं पूषोद्देश्यकद्रव्यसंबन्धि यत्पेषणं तद्विकृतौ पौष्ण चरुमित्यादौ प्रतीयेत। प्रकृतौ अचोदनात् पूष्णः अङ्गत्वेना-विधानात् ॥ ३४ ॥

कथन करते हैं त्रयोदश अधिकरण मे। दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में पूषा देवता के उद्देश से द्रव्य को पीस कर देना चाहिये, यह वाक्य पढ़ है। इसका दर्शपूणमास से उत्कर्ष होता है किंवा नहीं अर्थात उक्त वाक्य में जो पूषा देवता के उद्देश से पिसान के प्रदान का विधान किया है उसका दर्शपूर्णमास रूप प्रकृतियाग में निवेश है अथवा "पौष्णं चरुमनुनिर्वपेत" तै. सं: २।२।१।४ इन्यादि वाक्य विहित विकृतियाग में निवेश है इस सशय के होनेपर सिद्धान्त ही को कहते हैं। पौष्णमिति। (पौष्णं) पूष देवतोद्देश्यक द्रव्य सम्बन्धी जो (पेषण) पीसकर प्रदान विधान किया है उसका (विकृतौ) पूष देवताक विकृतियाग में "पौष्णंचरुं" इत्यादि विकृतियाग में (पतीयेत) जानना चाहिये, (पकृतौ) दर्शपूर्णमास याग में (अचोदनात्) पूषा देवता की अङ्गत्वरूप से विधि नहीं पाई जाती ॥ ३४ ॥

पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशः । अधि० १४

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥ ३५ ॥

पौष्णं चरुम् । पौष्णं श्याममालभेत । पौष्णं द्वादशकपालमिति चरुपशुपुरोडाशा विहिताः । सर्वत्र पेषणमुत चरावेवेति संशये पूर्वपक्षमाह । तदिति । तत् पेषणं सर्वार्थम् अविशेषात् । विशेषाश्रवणात् ॥ ३५ ॥

अब उक्त पेषण का केवल चरु में निवेश कथन करते हैं चतुर्दश अधिकरण से । (१) "पूषा देवता के उद्देश से" चरु का प्रदान करे तै० सं० २।२।१।४ (२) अन्न की कामनावाला श्याम पशुका प्रदानकरे तै. सं. २।२।१।६।१ (३) और उक्त पशुका प्रदान करके पश्चात् पुरोडाशका प्रदान करे । इन तीनों वाक्यों से चरु पशु तथा पुरोडाश विहित है । उक्त तीनों द्रव्यों मे "पेषण का निवेश किंवा केवल चरु में ही निवेश है इस संशय के होनेपर पूर्व पक्ष को कहते हैं । तदिति । (तत्) उक्त पेषण का (सर्वार्थ) पूषा देवता के उद्देश से सब प्रदेय पदार्थों में निवेश होना चाहिये, क्योंकि (अविशेषात्) उसका विधान समान रूप से पाया जाता है ॥ ३५ ॥

चरौ वा ऽर्थोक्तं पुरोडाशे ऽर्थविप्रतिषेधात्पशौ न स्यात् ॥ ३६ ॥

सिद्धान्तमाह । चराविति चरौ पेषणमनेन विधीयते पुरोडाशे तु अर्थेन पुरोडाशसिद्धिरूपकार्येणैव पेषणमुक्तम् । पशावर्थविप्रतिषेधाद् हृदयावदानादिरूपाक्रियाकलापलोपापत्तेः। पशोः पेशणे सर्वमेकं पिण्डं भवेत् । ततः किम् । हृदयं जिह्वा इत्यादि भेदाभावेन पृथक् पृथक् अवयवावदानादि लुप्येत । तस्माच्चरावेव पेषणम् ॥ ३६ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । चराविति । (चरौ) केवल चरु में "तस्मात् पूषा प्रपिष्ट भागः" इस वाक्य से पेषण का विधान है सर्वत्र नहीं । क्योंकि (पुरोडाशे) पुरोडाश में तो (अर्थेन) पुरोडाश की सिद्धि रूप कार्य से ही पेषण (उक्तं) प्राप्त हैं । और (पशावर्थविप्रतिशेधात्) हृदय के अवदानादि रूप क्रिया कलाप के लोप की आपत्ति होने से (पशौ) पशु में (न, स्यात्) पेषण नहीं हो सक्ता । और पशु का पेषण होने पर सब एक पिन्ड हो जायगा तब कौन हृदय है, कौन जिह्वा है इत्यादि भेद का अभाव होने से पृथक् पृथक् अवयवों के अवदानादि का लोप हो जायगा । इसलिये चरु में ही पेषण का निवेश है । तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि पेषण के विधायक उक्त

चरावपीति चेत् ॥ ३७ ॥

ननु चरावपि विप्रतिषेधः विशदसिद्धौदने चरुशब्द प्रयोगात् । पेषणानन्तरं श्रपणे यवागूः स्याद् न चरुरिति शङ्कते । चरावपीति । विप्रतिषेधोऽस्तीति पूरणीयम् ॥ ३७॥

वाक्य में सामान्य रूप से पेषण का विधान किया है तथापि उसका चरु में ही निवेश मानना उचित है पुरोडाश तथा पशु में नहीं, क्योंकि पुरोडाश सर्वदा पिसान का ही बनाया जाता है और पेषण के बिना पिसान नहीं हो सक्ता इससे उसमें पेषण प्रथम ही अर्थ से प्राप्त है और जिसमे जो प्रथम ही प्राप्त है उसमें उसके निवेश की कोई आवश्यकता नहीं, और पशु पेषण नहीं हो सक्ता क्योंकि पेषण होनेपर आकृति विशेषात्मक हृदयादि स्वरूप अर्थ का विनाश हो जायगा ॥ ३६ ॥

पके हुए विशद भात का नाम चरु है अर्थात् मिट्टी की छोटीसी हांडी में चार मुट्ठी चांवल डालकर पकाने से विषद अर्थात् जुदा २ जिसमें चांवल हो ऐसा जो भात बन जाता है उसको चरु कहते हैं, यदि उसमें पेषण का निवेश मानें अथवा प्रथम ही चांवलों को पीसकर पकाया जाय तो चरु नहीं बनेगा किन्तु यवागू= लापसी बन जायगी और शास्त्र से चरु के प्रदान

न पक्तिनामत्वात् ॥ ३८ ॥

नेति । चरौ न विरोधः । चरुपदस्य पक्तिनामत्वात् । स्थाल्यधिकरणकपाकविशेषनामत्वात्तस्याः पिष्टपाके ऽपि सत्वादितिभावः ॥ ३८ ॥

का विधान पाया जाता है लापसी का नहीं । तात्पर्य्य यह है कि जैसे पशु में पेषण का निवेश असम्भव है वैसे ही चरु में भी पेषण के निवेश का असम्भव है इसलिये चरु में भी पेषण का निवेश मानना ठीक नहीं ऐसी शंका करते हैं । चरावपीति । (चरौ, अपि) चरु में भी पेषण करने पर (विप्रतिषेधो) चरु के स्वरूप का विनाश हो जायगा यह पूर्ण करना चाहिये ॥३७॥

अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं । नेति (न) चरु में पेषण का विरोध नहीं । क्योंकि चरु पद को (पाक्तिनामत्वात्) पके हुए भात विशेष का नामत्व है अर्थात् पके हुए भात विशेष का नाम चरु है । जिसमें से मांड निकाला नहीं जाता ऐसी मिट्टी की हांडी है अधिकरण जिस पाक विशेष का उसका नाम चरु है और वह हाडी पिष्ट के पाक में अपिशब्द से अपिष्ट के पाक में भी होती है और पके हुए भात विशेष में विशद तथा अविशद का कोई नियम नहीं, और उसका नियम न होने से उसमें पेषण का निवेश मानना भी अनुचित नहीं,

पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशः । अधि० १५ ।

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥ २९ ॥

सोमापौष्णं चरुं निर्वपतीत्यत्रापि पेषणं स्यात् न वेति संशये सिद्धान्तेनोपक्रमते । एकस्मिन्निति । एकस्मिन्नेकपूषदेवताके चरौ पेषणम् । पूषा प्रपिष्टभाग इत्येकेन पूष्णा संयोगात् ॥ २९ ॥

क्योंकि उसमें उसका निवेश हो सक्ता है पशु में पेषण का निवेश की भांति उसके निवेश का असम्भव नहीं इसलिये चरु में ही पेषण का निवेश मानना ठीक है पशु तथा पुरोडाश में नहीं यह भाव है ॥ २८ ॥

अब उक्त पौष्ण पेषण का एक देवताक अर्थात् पौष्ण चरु में ही निवेश है द्विदेवताक अर्थात् सौमा पौष्ण ऐंद्रापौष्ण चरु में नहीं यह कथन करते हैं पञ्चदश अधिकरण से। राजसूय याग के प्रकरण में "सौमा पौष्णं चरुं निर्वपति तै. सं. १।८।८" ऐन्द्रपौष्णं तै. सं. १।८।८ = सोम तथा पूषा देवता के उद्देश से चरु का प्रदान करे १ इन्द्रदेवता तथा पूषा देवता के उद्देश से चरु का प्रदान करे २ इत्यादि वाक्यों से द्विदेवताक अर्थात् "सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रापौष्ण" दो चरुओं के प्रदान का विधान किया है, "इत्यत्रापि" = इन दोनों चरुओं में भी उक्त पेषण का निवेश

धर्म विप्रतिषेधाच्च ॥ ४० ॥

इतोऽपि केवलपूषदेवत्यचरावेव पेषणं न तु द्विदेवत्ये

होता है किंवा नहीं इस संशय के होने पर सिद्धान्त से प्रारम्भ करते हैं । एकस्मिन्निति । (एकस्मिन्) एक पूषादेवताक चरु में ही पेषण का निवेश है द्विदेवताक चरु में नहीं, क्योंकि, "पूषा प्रपिष्ट भागः" इस पेषण विधायक वाक्य से (एक संयोगात्) एक देवताक चरु के साथ ही उसका सम्बन्ध पाया जाता है, सोम, पूष किंवा इन्द्र, पूष द्विदेवताक चरु के साथ पेषण का सम्बन्ध नहीं । तात्पर्य्य यह है कि पेषण के विधायक वाक्य में केवल पूषा का ही प्रपिष्ट भाग कथन किया है सोम, पूष किंवा इन्द्र पूषा दोंनों का नहीं इससे स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में जिसका प्रपिष्ट भाग कथन किया है उसी के उद्देश से प्रदेय चरुमें पेषण का निवेष होना उचित है दूसरे के उद्देश से प्रदेय चरु में नहीं, सोमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण यह दोनों चरु दूसरे के उद्देश से प्रदेय है पूषा के उद्देश से नहीं, क्यों कि यह द्विदेवताक हैं इसलिये इन में पेषण का निवेश नहीं हो सक्ता । सोम तथा पूषा के उद्देश से जिस चरु का प्रदान किया जाता है उसको "सौमापौष्ण" इन्द्र तथा पूषा के उद्देश से जिस चरु का प्रदान किया जाता है उसको 'ऐन्द्रापौष्ण' और केवल पूषा के उद्देश से जिस चरु का प्रदान किया जाता है उसको 'पौष्ण' कहते है ।३९।

ऽपीत्याह । धर्मेति । धर्मयोः सोमस्यापेषणं पूष्णश्च पेषणमिति तयोर्विप्रतिषेधाद् विरोधान्नाद्विदेवताके चरौ पेषणस्य विनियोगः ॥ ४० ॥

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥ ४१ ॥

पूर्वपक्षमाह । अपि वेति । अपि वेति पक्षान्तरद्योतकम् ।

इस हेतु से भी केवल पूष देवताक चरुमें ही पेषण हो सक्ता है द्विदेवताक चरु में नहीं ऐसा कहते हैं । धर्मेति । (च) और (धर्मयोः) सोम सम्बन्धी चरु में अपेषण और पूष सम्बन्धी चरु में पेषण इन दोनों धर्मों का (विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध होने से भी द्विदेवताक चरु में पेषण का निवेश नहीं हो सक्ता । तात्पर्य यह है जैसा अन्धकार और प्रकाश यह दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक स्थान में नहीं रह सक्ते वैसे ही पूषा के भाग का धर्म पेषण और सोमादि भाग का धर्म अपेषण भी परस्पर विरुद्ध है इससे यह दोनों भी 'सौमापौष्ण' तथा 'ऐन्द्रापौष्ण' चरुरूप एकस्थान में इकट्ठे नहीं रह सक्ते और जो एकस्थान में इकट्ठे नहीं रह सक्ते उनके निवेष की कल्पना करना व्यर्थ है । इस लिये पेषण का एक देवताक पौष्ण चरु में निवेश होने पर भी द्विदेवताक सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण चरु में नहीं हो सक्ता ॥४०॥

सद्वितीये सोमापौष्णे ऽपि पेषणं स्यात् । पेषणस्य देवता निमित्तत्वात् पूषदेवतासद्भावमात्रस्य निमित्तत्वात् । अयं भावः । आग्नेय चतुर्धाकरोतित्यत्र इतरसापेक्षत्वे तद्धितो त्पत्तिर्न स्यादिति स्थितम् । इन्द्रपीतस्येत्यत्र इतरसापेक्षत्वे समासो न स्यादिति स्थितम् । इहतु तयोर्दोपयोरभावात् केवल पूष्णः सत्तामात्रस्य पेषणे कारणत्वात् तस्य सत्वाद् द्विदेवत्ये पेपणमिति ॥ ४१ ॥

अव उक्त अर्थ में पूर्व पक्ष करते हैं । अपिवेति । अपि वा यह दोनों शब्द सिद्धान्त विरुद्ध पक्ष के द्योतक है (सद्वितीये) द्विदेवताक सौमापौष्ण चरु में भी पेषण का (स्यात्) निवेश होना चाहिये, क्यों कि पेषण के निवेश में (देवता निमित्तत्वात् पूष देवता का सद्भाव मात्र निमित्त है और निमित्त के सद्भाव होने से नैमित्तिक का सद्भाव होना आवश्यक है । तात्पर्य यह है कि निमित्त का सद्भाव होने पर नैमित्तिक के सद्भाव का वर्जन नहीं हो सक्ता और पेषण के निमित्त पूषा देवता का उक्त दोनों चरुओं में सद्भाव स्पष्ट है इस लिये पौष्ण चरु की भांति सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण चरु में भी पेषण का निवेष होना चाहिये । यह भाव है कि "आग्नेय पुरोडाश का चार भाग करे" इसमें इतरसापेक्ष होनेपर इतर निर्पेक्ष रूप सामर्थ्य न होनें से तद्धित

लिङ्ग दर्शनाच्च ॥ ४२ ॥

द्विदेवत्ये पेषणमित्यत्र लिङ्गं दर्शयति लिङ्गेति। सोमा-

की उत्पात्ति नहीं होगी ऐसा निश्चित किया जा चुका है। 'इन्द्रपीतस्य' इसमें इतर सापक्ष होने पर इतर निर्पेक्ष रूप सामर्थ्य न होने से समास नहीं होगा यह निश्चित किया जा चुका है। यहां तो उन दोनों दोषों का अभाव होने से केवल पूषा के सत्ता मात्र को पेषण के निवेश में कारण होने से उसके सद्भाव होने से द्विदेवताक चरु में पेषण का निवेश होना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्र द्विदेवताक चरुमें पेषणका निवेश होना चाहिये इसमें लिङ्ग को दिखाते हैं। लिङ्गेति। 'पशु की कामना वाला पुरुष सोम तथा पूषा देवता के उद्देश से अर्द्धपिष्ट चरु का निर्वाप करे' इस वाक्य में जो 'सौमापौष्ण' चरु का 'नेमपिष्ट' अर्धपिष्ट विशेषण कथन किया है वह उक्त द्विदेवताक सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण चरुओं में पेषण के निवेश का साधक 'लिङ्ग' है, इससे सिद्ध होता हैं कि उक्त दोनों चरुओं में पेषण का निवेष होता है, यदि निवेष न होता तो उक्त विशेषण का उपन्यास न किया जाता अर्थात् 'नेमपिष्ट' शव्द का अर्थ 'अर्द्धपिष्ट' है और सौमापौष्ण चरु अर्द्धपिष्ट तभी हो सक्ता है जब उसके आधे भाग में पेषण का

पौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकाम इति वाक्ये, नेमपिष्टम् अर्धपिष्टम्, अत्र पूष्णोऽर्धभागसत्वात्तत्पेषणकथनं लिङ्गं द्विदेवत्येऽपि पेषणे ॥ ४२ ॥

निवेश माना जाय और सौमापौष्ण चरु में आधा भाग पूषा का और आधा भाग सोम का है इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूषा के अर्ध भाग में पेषण का निवेष होनेसे ही उसको अर्द्धपिष्ट कहा गया है । और जो यह कथन किया है कि पेषण तथा अपेषण का परस्पर विरोध होने के कारण एक चरु में निवेश नहीं हो सक्ता, सो ठीक नहीं क्यों कि दोनों का युगपत् एक धर्मी में निवेश मानने पर ही उक्त दोष आसक्ता है अन्यथा नहीं और उक्त चरुओं में तो अपेषण प्रथम से सिद्ध है उसके निवेश की कोई आवश्यकता नहीं केवल उसके पौष्ण भाग में पेषण का निवेश किया जाता है इससे दोनों का विरोध नहीं हो सक्ता । तात्पर्य यह है कि जैसे अवच्छेदक भेद से एक ही वृक्ष रूप धर्मी में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म रह सक्ते हैं वैसे ही उक्त दोनों चरु रूप धर्मियों में भाग के भेद से पेषण तथा अपेषण दोनों विरुद्ध धर्मों का निवेश हो सक्ता है इसमें कोई दोष नहीं, इस लिये उक्त लिङ्ग से सिद्ध हुआ कि 'पौष्ण' की भांति 'सौमापौष्ण' तथा ऐन्द्रापौष्ण दोनों द्विदेवताक चरुओं में भी 'पेषण' का निवेश है ।

वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावाद्

द्विचरावपेषण भवति ॥ ४३ ॥

नन्विदं विधिवाक्ये लिङ्गं कथं भवेदत्राह । वचनादिति। यदीदं वचनं भवेत् तदा वचनाद् एतद्वचनात् सर्वेषु सोमापौष्णसंबन्धि पशुपुरोडाशचरुषु पेषणं भवेत् । कुतः । तं प्रति सर्वोद्देशेन शास्त्रवत्त्वात् । उक्तवचनतात्पर्यात् । ननु चरुशब्दस्य श्रूयमाणत्वात् कथं सर्वेषु पेषणं तत्राह । अर्थाभावाच्चरुपदार्थविवक्षाया अभावाच्चरौ चरुमात्रे अपेषणं

यहां पूषा का अर्ध भाग है इस लिये पेषण का कथन द्विदेवताक चरु में भी पेषण के निवेश में लिङ्ग है ॥ ४२ ॥ ननु, 'सौमापौष्ण चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः' यह अर्द्धपिष्ट का विधायक वाक्य है लिङ्ग्ग नहीं हो सक्ता इसपर कहते हैं । वचनादिति । यदि यह वचन नेमपिष्ट का विधायक हो तो (वचनात्) इस वचन से (सर्वेषु) सौमापौष्ण सम्बन्धी पशु, पुरोडाश तथा चरु सब मे पेषण मानना होगा । क्यों कि (तं प्रति) पेषण के प्रति सवों के उद्देश से ही (शास्त्रवत्वात्) उक्त वचन का तात्पर्य है । ननु, यह शब्द श्रूयमाण है इसलिये उसी में पेषण होगा सवों में कैसे हो सक्ता है इस पर कहते है (अर्था भावात्) चरु पदार्थ के विवक्षा का अभाव होने से (चरौ) चरु मात्र में

पेषणाभावः किंतु पशावपि स्यात् । अतो न पेषणविधिः किंतु लिङ्गमिति । अयं भावः । पेषणविधिपक्षे चरुमुद्दिश्य विधीयते उत सोमापौष्णमुद्दिश्य । नाद्यः । ऐन्द्रं चरुम् आदित्यं चरुमित्यत्रापि तदापत्तेः । न द्वितीयः । ऐन्द्रापौष्णे तदभावप्रसङ्गात् । सौमापौष्णपशावपि पेषण प्रसङ्गाच्च । न तृतीयः । विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तस्मान्नेदं पेषण विधायकं वाक्यं किंतु पशुफलमुद्दिश्य यागमात्र विधानम् । अर्धपेषणं तु पूष सम्बन्धेन प्राप्तमनूद्यते । अत एव लिङ्गमपि ॥ ४३ ॥

(अपेषग) पेषण नहीं होगा किन्तु पशु में ही होगा । इसलिये पेषण का विधान नहीं किन्तु लिङ्ग है । यह भाव है कि उक्त वाक्य को पेषण विधायक मानने पक्ष में तो यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता है कि उक्त वाक्य चरु मात्र के उद्देश से 'अर्द्धपेषण' का विधान करता है किंवा "सौमापौष्ण" के उद्देश अथवा "सौमापौष्ण" तथा "चरु" दोनों के उद्देश से उसका विधान करता है । प्रथमपक्ष नहीं बन सक्ता क्योंकि सौमापौष्ण के अतिरिक्त ऐन्द्र, सौर्य्य आदि जितने चरु हैं उन सब में भी पेषण की प्राप्ती हो जायगी । और द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि ऐन्द्रापौष्ण चरु में अर्द्धपेषण के प्रभाव का प्रसङ्ग हो जायगा ।

एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न
स्यादचोदितत्वात् ॥ ४४ ॥

सिद्धान्तमाह । एकस्मिन्निति । एकस्मिन् एकदेवताकएव पेषणम् अर्थस्य यागस्य धर्मत्वाद् अङ्गत्वात् । उभयोः

और सौमा पौष्ण पशु में भी अर्द्धपेषण प्राप्त हो जायगा। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि विशिष्ट के उद्देश में वाक्य भेद का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि एक ही वाक्य युगपत् दो अर्थ का विधान नहीं कर सक्ता। इसलिये यह वाक्य अर्द्धपेषण का विधायक नहीं, किन्तु पशु रूपफल को उद्देश करके केवल याग का विधायक है। अर्द्धपेषण तो पूषा के सम्बन्ध से प्राप्त है उसका अनुवाद है। अनुवाद होने से ही लिंग मानना उचित है ॥४३॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। एकस्मिन्निति। "वा" शब्द एव अर्थ में है। (एकस्मिन्) एक देवताक पौष्णचरु में ही पेषण का निवेश होता है। द्विदेवताक चरु में नहीं। क्योंकि पेषण को (अर्थस्य) यागका (धर्मत्वात्)धर्मत्व अभिप्रेत है पूषा का नहीं। और (उभयोः) सौमापौष्ण चरुमें याग के अंगरूप से पेषण का (अचोदितत्वात्) विधान नहीं इसलिये द्विदेवताक यागमें पेषण का निवेश नहीं हो सक्ता (ऐन्द्राग्नवद्) जैसे चतुर्द्धा

सोमापूष्णौः यागाङ्गत्वेनाचोदितत्वात् तद्यागे पेषणं न स्याद् ऐन्द्राग्नवद् ऐन्द्राग्ने चतुर्धाकरणाभाववत् । अयं भावः । देवताया हविर्भक्षणादीनां निराकरिष्यमाणत्वाद्देवतार्थत्वाभावादगत्या यागार्थत्वं वाच्यम् । तथा च केवलपूषदेवताकएव वाक्येन विधानात्तत्रैवेति सिद्धम् ॥ ४४ ॥

करण का एक देवताक आग्नेय पुरोडाश में ही निवेश है द्विदेवताक ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं तद्वत् । यह भाव है कि नचहविरंत्तंदेवता भजते इस प्रकार देवता को हविभक्षणादिओं का (आगे नवमाऽध्याय प्रथमपाद प्रथम अधिकरण में) निराकरण किया जायगा इसलिये पेषण को देवतार्थ न होने के कारण अगत्यायागार्थ कहना होगा । तथाच केवल पूष देवताक याग में पेषण का निवेश होता है सद्वितीय यागमें नहीं यह सिद्ध हुआ । तात्पर्य्य यह है कि "तस्मात्पूषा प्रपिष्ट भागः" वाक्य में पूषाका भाग प्रपिष्ट है यह कथन अभिप्रेत नहीं किंतु कारक पूषादेवता के उद्देश से जिस याग में चरुका प्रदान किया जाता है वह प्रपिष्ट होना चाहिये यह कथन अभिप्रेत है, और ऐसा कथन अभिप्रेत होनेसे प्रपिष्ट भाग पूषदेवताक यागका धर्म सिद्ध होता है पूष देवता का नहीं यदि देवता का धर्म सिद्ध होता तो जहां २ सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण आदि यागों में पूषादेवता का सम्बन्ध है वहां २ सर्वत्र पेषण का निवेश माना

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥ ४५ ॥

नन्वदन्तको हीति देवतार्थत्वं दर्शयत्यत्राह । हेत्विति। अकिंचित्करतायां मात्र शब्दः, "संशयमात्रमेतद्भवति" "प्रयोजनमात्रमेतद्भवति" इति महाभाष्य प्रयोग दर्शनात्। अदन्त त्वं पेषणे हेतुमात्रं । पेषणऽदन्तकत्वं न हेतुरित्यर्थः । हेत्वधिकरणे एवं जातीयक हेतु वादस्या किंचित्करत्व निश्चयात् केवलमर्थवादः । केवल पूषदेवत्य यागे पेषण विधेरेव प्रशंसा परमदन्तक वाक्यं व्यवतिष्टते । नत्वन्यत्रा-

---

जाता परन्तु याग का धर्म सिद्ध होने से सौमापौष्ण आदि में पेषण का निवेश नहीं मान सक्ते, क्योंकि पूषदेवताक याग से सोम, पूष तथा इन्द्र पूषाद्विदेवताक दोनों याग भिन्न है और एक याग क धर्म का दूसरे भिन्न यागों में निवेश नहीं हो सक्ता ॥ ४४ ॥

ननु, तस्मात्पूषा वाक्य के अन्त में वह दन्त हीन है, यह वाक्य शेष पढा है इसमें पूषा को दन्त हीन कथन करने से प्रपिष्टभाग देवता का धर्म प्रतीत होता याग का नहीं, इसपर कहते है। हेत्विति । अकिंचित्करत्व अर्थ में मात्र शव्द है, "संशयमात्र मेतत्" इत्यादि महाभाष्य प्रयोग दर्शन होनेसे (अदन्तत्वम्)अदन्तत्व हेतु

पि सोमपौष्णेपेषणं कल्पयितुमलम्, देवतात्वनिमित्तक पेषण विधि विरोधात् । यथा "तेनह्यन्नंक्रियते" इति वाक्यम् "शूर्पेण जुहोति" इति विधेरेव प्रशंसा परमवतिष्ठते, नतु येन येनान्नं क्रियते तेन तेन होतव्यमिति विधिं कल्पयितुमलम् । तद्वत् ॥ ४५ ॥

वचनं परम् ॥ ४६ ॥

ननु नेमपिष्टमिति लिङ्गस्य का गतिस्तत्राह । वचनमिति । (परम्) उक्तं नेमपिष्टम् इत्यंतद्विशिष्टं

पेषणमें (मात्रम्)अकिंचित्कर है । अदन्तत्व पेषण में हेतु नहीं फलितार्थ हुआ हेत्वधिकरण में एवं जातीयक हेतुवाद को अकिंचित्करत्व का निश्चय होनेसे केवल अर्थवाद हैं=केवल पूषदेवताक यागमें पेषण विधिके ही प्रशंसा में अदन्त वाक्य व्यवस्थित है । और अन्य "सौमापौष्ण" चरुमें पेषण की कल्पना कराने में समर्थ नहीं, क्योंकि देवतात्वनिमित्तक पेषण का विधान मानने पर विरोध आता है । जैसे "तेनह्यन्नं क्रियते" यह वाक्य शूर्पेण जुहोति इसविधि के ही प्रशंसा में अवस्थित है, और जिस२ हेतु से अन्न किया जाता है उस २ हेतु से होम करना चाहिये ऐसी विधि की कल्पना कराने में समर्थ नहीं वैसे ही इस वाक्य में समझना चाहिये । ४५ ।

वाक्यं (वचनं) तावद्गुणविशिष्टकर्मणः अपूर्वस्य पशुफल हेतोर्विधायकम्, नत्वनुवादः येनान्यत्रापि द्विदेवत्ये पेषणं लिङ्गं स्यात् ॥ ४६ ॥

इति जैमिनिसूत्रवृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

ननु, पेषण के निवेश का साधक जो "नेमपिष्ट" यह लिङ्ग कथन किया गया है उसका समाधान कैसे होगा इसपर कहते हैं। वचनमिति। (परम्) उक्त नेमपिष्ट इसपद से युक्त जो वाक्य है वह (वचनम्) नेमपिष्ट रूपगुण विशिष्ट पशुरूप फल का हेतुभूत अपूर्व कर्म का विधायक है, अनुवाद नहीं कि जिस से अन्यत्र भी द्विदेवताक पेषण में लिङ्ग हो। सौमापौष्णचरुंनिर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः यह अपूर्व कर्मका विधायक होने से विधि वाक्य है लिङ्ग नहीं, इसलिये "सौमापौष्णंचरुं निर्वपति" आदि द्विदेवताक चरुओं में पेषणका निवेश मानना ठीक नहीं यह भाव है। ४६।

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के तृतीयपाद के जैमिनि सूत्रवृत्ति का अनुवाद समाप्त ॥ ३ ॥

निवीतस्यार्थवादत्वम् । अधि० १ ।

निवितमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ १ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रुतं, निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामउपवीतं देवानाम् उपव्ययतइति । अत्र निवीतं मनुष्याणामित्यर्थवादो विधिर्वा । विधित्वे ऽपि अयं पुरुषार्थ उत क्रत्वर्थ इति, संशये पूर्वपक्षमाह । निवीतमिति विधिः मनुष्यधर्मः मनुष्याङ्गम् । शब्दस्य मनुष्याणामिति षष्ट्यन्तशब्दस्य तत्प्रधानत्वात् । मनुष्यप्राधान्यगमकत्वात् । दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र षष्ठ्यन्तस्य प्राधान्यगमकत्वस्य क्लृप्तत्वादिति भावः ॥ १ ॥

अत्र निवीत को अर्थवाद कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से "दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में निवीतंमनुष्याणां इत्यादिवाक्य पढा है । इसका अर्थ भी ३।१।२१ के अनुवाद में किया गया है उसके देखने से वाक्यार्थ तथा निवीत आदि का परिज्ञान भले प्रकार हो जायगा, यहां उसके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं । यहां "निवीत मनुष्याणाम्" यह वाक्य अर्थवाद है किंवा विधि अर्थात् इसमें (उपव्ययेत) उपवीत विधि की स्तुति है अथवा मनुष्य कर्म के अंग निवीत का विधान है । और विधि पक्ष में भी यह विधि पुरुषार्थ है किंवा यागार्थ है इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । निवीतमिति । (निवीतमिति

अपदेशो वा ऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥

सिद्धान्ती शङ्कते । अपदेश इति । अप पश्चाद्दिश्यते ज्ञाप्यतइत्यपदेशः अनुवादः । अर्थस्य निवीतरूपस्य विद्यमानत्वात् । प्रमाणान्तरेण प्राप्तत्वात् । कार्यानुष्ठानवेलायां सौकर्यार्थं निवीतं लोकसिद्धमिति भावः ॥ २ ॥

मनुष्यधर्मः) "निवीत" यह मनुष्य कर्म का अंग विधान करता है क्योंकि (शब्दस्य) "मनुष्याणां इस षष्ठयन्त शब्द से (तत्प्रधानत्वात्) मनुष्य कर्म की प्रधानता पाई जाती है। इन्द्रिय काम पुरुष का अग्निहोत्र कर्म दधि से करे, तै. ब्रा. २।१।५।६ इस वाक्य में षष्ठयन्त इन्द्रिय काम पद से पुरुष सम्बन्धी कर्म की प्रधानता पाई जाता है अर्थात् जैसे "दध्ना" वाक्य में इन्द्रिय काम पुरुष सम्बन्धी कर्म की प्रधानता से उसके साधन दधि का विधान है वैसे ही "निवीतं मनुष्याणां" में भी मनुष्य सम्बन्धी कर्म की प्रधानता से उसके अङ्ग "निवीत" का विधान किया गया है अतः उक्त वाक्य पुरुष सम्बन्धी कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक है। उपवीत विधि का स्तावक अर्थवाद नहीं और यागार्थ भी नहीं ॥ १ ॥

अब सिद्धान्ती शंका करता है। अपदेश इति। (अपदेशः) ज्ञातार्थ का पश्चात जिससे ज्ञापन किया जाय उसका नाम

विधिस्त्वपूर्वत्वात्स्यात् ॥ ३ ॥

पूर्वपक्षी पुनराक्षिपति । विधिरिति । विधिरेवायं नत्वनुवादः कुतः अपूर्वत्वात् । नियमतस्तत्प्रापक प्रमाणान्तराभावात् । लोकसिद्धं निवीतमिति पूर्वोक्तं न, तथा लोके नियमाभावादिति भावः ॥ ३ ॥

स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ॥ ४ ॥

अपदेश है । उक्त वाक्य अनुवाद है विधि नहीं क्योंकि (अर्थस्य) निवीत रूप अर्थ (विद्यमानत्वात्) अन्य प्रमाण से प्राप्त है । मनुष्य संबंधी कर्म के अनुष्ठान काल में सौकर्यार्थ प्रायः मनुष्य निवीत को ही धारण करते हैं यह लोक में सिद्ध है ॥ २ ॥

अब पूर्व पक्ष फिर आक्षेप करता है अर्थात् उक्त शंका का समाधान करता है । विधिरिति । (विधिः) उक्त वाक्य विधि (स्यात्) है अनुवाद नहीं, क्योंकि (अपूर्वत्वात्) निवीत रूप अर्थ अपूर्व है । अव्यग्रता के लिये निवीत धारण करना लोक सिद्ध है यह पूर्व में कहा गया है वह ठीक नहीं । क्योंकि लोक में ऐसे नियम का अभाव है अर्थात् निव्यान अवश्य प्राप्त नहीं उसके बिना भी कट्यादि में सुत्रादि के बांध लेनेपर भी कार्य करने में व्यग्रता नहीं आ सक्ती यह भाव है ॥ ३ ॥

यह विधि है ऐसा जो कहा गया है उतने मात्र को

यच्चोक्तं विधिरिति तावन्मात्रमङ्गीकृत्य पुरुषार्थत्वम सहमानोऽपरः शङ्कते । सप्रेति । स निवीतमिति विधीयमानोऽर्थः कर्मधर्मो दर्शपूर्णमासाङ्गं स्यात् प्रायात्प्रकरणेन तदङ्गत्वप्रतिपादनात् ॥ ४ ॥

वाक्यस्य शेषत्वात् ॥ ५ ॥

यच्चोक्तं प्रकरणात्क्रत्वङ्गमिति तदस्तु तथाऽपि प्रयाजादिवन्न, किन्तु क्रतुकर्तुः अध्वर्योरयं धर्म इत्यपरः शङ्कते । वाक्यस्येति । वाक्यस्य निवीतमिति वाक्यस्य

स्वीकार करके पुरुषार्थत्व को न मानने वाला दूसरा पूर्व पक्षी शंका करता है । सप्रेति । (स) "निवीतं" यह विधीयमान अर्थ (कर्म धर्मः) प्रकृत दर्शपूर्णमास का अंग (स्यात्) है क्योंकि (प्रायात्) दर्शपूर्णमास प्रकरण होने के कारण उसके अंगत्व रूप से प्रतिपादन है ॥ ४ ॥

प्रकरण से निवीत याग का अङ्ग है यह जो कहा गया हैं वह अंगीकार है तो भी प्रयाजादि के समान अंग नहीं, किन्तु याग के कर्ता अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म का निवीत धर्म=अङ्ग है ऐसा अपरवादी शंका करता है । वाक्यस्येति । (वाक्यस्य) निवीत यह वाक्य [शेषत्वात्] "अध्वर्यु काण्डम्" इस समाख्य वाला

शेषवत्त्वाद् अध्वर्युकाण्डमितिसमाख्यावत्त्वात् । निवीतानुष्ठानमध्वर्योरेवेति शेषः । तथाच प्रकरणवत्समाख्याऽप्यबाधिता भवतीति भावः ॥ ५ ॥

तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥

निवीतामिति वाक्येन पुरुषाङ्गत्वम् प्राप्तं तद् बाधित्वा

है इसलिये अध्वर्यु को ही निवीत का अनुष्ठान करना चाहिये यह शेष है । और ऐसा मानने पर प्रकरण के भांति समाख्या का भी बाध नहीं होता यह भाव है ।

यह तात्पर्य्य है कि निवीत इस वाक्य का शेष "आध्वर्यवं" यह समाख्या है जिसका अर्थ अध्वर्यु संबंधी कर्म है, उक्त समाख्या तथा प्रकरण दोनों के बल से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास संज्ञक कर्म मात्र का अङ्ग निवीत विधान नहीं करता किन्तु उक्त कर्म के मध्य जो २ कर्म अध्वर्यु नामक ऋत्विक् का है उस कर्म का अङ्ग निवीत विधान करता है अर्थात् दर्शपूर्णमास कर्म के अनुष्ठान काल में अध्वर्यु निवीती होकर कर्म करे यह उक्त वाक्य का आशय है अतः प्रकृत कर्म के अङ्ग का विधायक होनेपर भी वह सम्पूर्ण कर्म का अङ्ग निवीत विधान नहीं करता किन्तु अध्वर्यु कर्तृक कर्म का अङ्ग विधान करता है ॥ ५ ॥

दुर्बलाभ्यां प्रकरणसमाख्याभ्यां न क्रत्वर्थत्वं संभवति। किन्तु क्रतावेव मानुष कर्मास्ति तत्र मनुष्याणामित्यस्य लक्षणा। तदंगमिदं निवीतमित्यपरः शङ्कते। तदिति। तत्प्रकरणे दर्शपुर्णमासप्रकरणे यदन्वाहार्यदाक्षिणादानादि संयुक्तं पठितं तत्संयुक्तं तदङ्गमिति अविप्रतिषेधाद् वाक्य प्रकरणयोस्तत्राविरोधाद् उभयमप्यनुगृहीतं भवति। तत्राप्य-ध्वर्युणा कृते समाख्याऽप्यनुगृहीता भवतीति भावः ॥ ६ ॥

"निवीत" इस वाक्य से पुरुष=मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधान प्राप्त है उसका बाध करके निर्बल प्रकरण तथा समाख्या से यागाङ्गत्व संभव नहीं, किन्तु उक्त याग के प्रकरण में मानुषकर्म है उस कर्म में "मनुष्याणां" इस पद की लक्षणा है। मानुषकर्म का अङ्ग निवीत का विधान है ऐसा अपरवादी शंका करता है। तदिति। (तत्प्रकरणे) दर्शपूर्णमास के प्रकरण में (यत्) जो अन्वाहार्य दक्षिणा दान आदि मानुष कर्म पठित है (तत्संयुक्तं) उस मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधान है, क्योंकि (अविप्रतिषेधात्) (तत्र) ऐसा मानने में वाक्य और प्रकरण में भी विरोध नहीं आता अर्थात् दोनों अनुकूल होते हैं। (अध्वर्युणा) अध्वर्यु कर्तृक (तत्रापि) मानुषकर्म के भी (कृते) विद्यमान होने से "आध्वर्यवं" यह समाख्या भी अनुकूल होती

तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ७ ॥

मनुष्याणामित्यस्य मनुष्यप्रधाने कर्मणि लक्षणामभ्युपेत्य क्रतुसम्बन्धमसहमानः परः शङ्कते । तदिति । तत्प्रधाने क्रत्वसम्बद्धे केवलमनुष्यप्रधाने आतिथ्यादौ अङ्ग प्रकरणस्थात्यन्तं बाध एव । कुतः तुल्यवत्प्रसंख्यानात् । यथा उपवीतं देवानामित्यत्र देवकर्मणि दर्शपूर्णमासे उपवीतस्याङ्गत्वं तथैव निवीतं मनुष्याणामित्यनेन मनुष्यप्रधानकर्मण्यङ्गत्वबोधनात् । इतरस्य मनुष्याणामिति षष्ठ्यन्तस्य तदर्थत्वात् प्रकरणादिनिरपेक्षमानुषकर्मप्रधानार्थत्वात् ॥ ७ ॥

हैं यह भाव है । प्रतिपद् करणीय श्राद्ध का नाम अन्वाहार्य कर्म है ॥ ६ ॥

"मनुष्याणाम्" इस षष्ठ्यन्त पद का मनुष्य प्रधान कर्म में लक्षणा को मानकर प्रकृतयाग में जो मानुषकर्म हैं उसका अङ्ग निवीत है ऐसा पूर्व में कहा गया है उसको न माननेवाला परवादी शंका करता है । तदिति । (तत्प्रधाने) उक्त वाक्य याग से असम्बद्ध केवल मनुष्य प्रधान आतिथ्यादि कर्म मे निवीत रूप अंग का विधायक है प्रकरण पाठ का अत्यन्त बाध होगा अर्थात् प्रकरण से निवीत वाक्य का उत्कर्ष होगा । क्योंकि (तुल्यवत्प्रसंख्यानात्) जैसे "उपवीतं देवानाम्" इस वाक्य से

अर्थवादो वा ऽप्रकरणात् ॥ ८ ॥

सिद्धान्तमाह । अर्थवादो वेति । अर्थवादः उपव्ययत इतिविधिशेषः अर्थवादः अप्रकरणाद् आतिथ्यस्याप्रकृतत्वात् ।

देवकर्मरूप दर्शपूर्णमास में उपवीत रूप अङ्ग का बोध होता है। वैसे ही "निवीतं मनुष्याणाम्" इस वाक्य से मनुष्य प्रधान कर्म में निवीतरूप अङ्ग का भी बोध होता है और (इतरस्य) "मनुष्याणाम्" यह षष्ठ्यन्त पद (तदर्थत्वात्) प्रकरणादि की अपेक्षा जहां नहीं है ऐसे मानुषकर्मरूप प्रधान अर्थ में संगत हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उक्त वाक्य पढ़ा है तथापि प्रकरण के बल से उक्त वाक्य के अर्थ का सङ्कोच नहीं हो सक्ता, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल होता है और जो प्रबल होता है वह निर्बल का कदापि अनुसरण नहीं करता, यह नियम है। इसलिये मनुष्य सम्बन्धी कर्म का अङ्ग निवीत है इस उक्त वाक्य के अर्थ का प्रकरण तथा समाख्या के बल से प्रकृत कर्म सम्बन्धी मनुष्यकर्म का अङ्ग निवीत है इस प्रकार संकोच करना ठीक नहीं ॥ ७ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। अर्थवादोवेति। (अर्थवादः) निवीत वाक्य "उपव्ययते" इस उपवीत विधि का शेष = स्तावक अर्थवाद है। क्योंकि (अप्रकरणात्) आतिथ्य कर्म अप्रकृत है

अयं भावः मनुष्याणामित्येव श्रूयते, न तु मनुष्यकर्मणा-मिति लक्षणायां मानाभाव इति ॥ ८ ॥

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥ ९ ॥

उक्तार्थे साधकान्तरमाह । विधिनेति । विधिना उपवीत विधिना एकवाक्यत्वं संपद्यते अर्थवाद पक्षे । अन्यथा निवीतं मनुष्याणामिति उपव्ययतइति भिन्नविषयत्वाद् वाक्यं भिद्येत । नन्वर्थवादरूपत्वे उपवीतस्तावकत्वं निवीतवाक्यस्य वक्तव्यं, तन्न संभवतीति चेदुच्यते । यतः निवीतधर्मो

इसलिये निवीत रूप अङ्ग का विधान नहीं हो सक्ता । यह भाव है कि "मनुष्याणाम्" ऐसा ही श्रवण है "मनुष्यकर्मणां" ऐसा श्रवण नहीं । और लक्षणा माननें में कोई प्रमाण नहीं । प्रत्युत अप्रकृत का ग्रहण तथा प्रकृत का परित्यागरूप दोष आता है ॥ ८ ॥

अब उक्त अर्थ मे साधक युक्त्यन्तर को कहते हैं । विधि नेति । (च) और (विधिना) उपवीत विधि वाक्य के साथ अर्थवादपक्ष में (एकवाक्यत्वात्) "निवीतं मनुष्याणां" वाक्य की एक वाक्यता सिद्ध होती है । "अन्यथा" = अर्थवाद माने बिना "निवीतं मनुष्याणां" इस वाक्य को और "उपव्ययते,, इस वाक्य को भिन्नविषयत्व होने से वाक्य भेद होगा एक वाक्यता

मनुष्याणामतो ऽयं जघन्यः उपवीतं देवधर्मः श्रेष्ठः अत उपव्ययतइति स्तुतिसंभवात् ॥ ९ ॥ इत उर्ध्वं षट् सूत्राणि पार्थसारथिमिश्रप्रभृतिभिः आदृतानि भाष्ये अनुपलब्धानि त्यक्तानि ।

नहीं हो सक्ती । तात्पर्य्य यह है कि जो वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष होते हैं उन्हीं की एक वाक्यता होती है निराकाङ्क्ष वाक्यों की नहीं, विधिवाक्य को विधेय की स्तुति की तथा अर्थवाद वाक्य को फल की आकाङ्क्षा होनें से उक्त दोनों वाक्य साकाङ्क्षा हैं और साकाङ्क्ष होने से एक वाक्यता का होना आवश्यक है, परन्तु विधि पक्ष में निराकांक्ष हो जाने के कारण उक्त एक वाक्यता का बाध हो जाता है । वह विना प्रयोजन मानना अनुचित है, इसलिये सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य विधि नहीं किन्तु अर्थवाद है । ननु, निवीत वाक्य का अर्थवाद मानकर उपवीत का स्तावक कहना होगा और अर्थवाद होना सम्भव नहीं यदि ऐसा कहो तो हम कहते हैं । जिस कारण निवीत धर्म मनुष्यों का है इस कारण यह धर्म निकृष्ट और देव धर्म होने के कारण उपवीत श्रेष्ठ है अतः 'उपव्ययते' इस विधि की स्तुति सम्भव है ॥ ९ ॥

इससे आगे छः सूत्रों का पार्थसारथिमिश्रप्रभृतिओं ने आदर किये हैं और भाष्य में उपलब्ध नहीं अतः त्याग किये गये हैं ।

दिग्विभागस्यानुवादत्वम् । अधि २ ।

दिग्विभागश्च तद्वत्संबन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥ १० ॥

ज्योतिष्टोमे प्राचीनवंशं करोतीति विधाय श्रूयते देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्रा इति । तत्र "प्रतीचीं मनुष्याः" इति वाक्ये निवीताधिकरणमतिदिशति । दिगिति । तद्वत् । अत्र निवीताधिकरण वत्सर्वेपक्षा रचयितव्याः । किमयं विधिरुतार्थवादः, विधित्वेऽपि पुरुषार्थ उतक्रत्वर्थः. अथवा

अब दिग्विभाग को अनुवादत्व कथन करते हैं, द्वितीय अधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "प्राचीन वंस नामक मण्डप का बनावें, इस वाक्य से 'प्राचीन वंश' नामक मण्डप के बनाने का विधान करके उसके अनन्तर देव तथा मनुष्यों ने मिलकर उक्त मण्डप की दिशाओं का विभाग किया देवोंने पूर्वदिशा पितरों ने दक्षिण दिशा, मनुष्यों ने पश्चिम दिशा तथा रुद्रों ने उत्तर दिशा का विभाग स्वीकार किया तै० सं० ६।१।१।१ यह वाक्य शेष पढा है । उक्त वाक्यों के मध्य 'प्रतीचीं मनुष्याः' इस वाक्य में निवीताधिकरण का अतिदेश करते हैं । दिगिति । (तद्वत्) प्रतीचादिग् विभाग में भी निवीताधिकरण के भांति सब पक्षों की रचना कर लेना चाहिये । क्या यह विधि है

प्रकरणे मनुष्यप्रधाने कर्मणि निवेशः किंवाऽऽतिथ्य इति संशयः। प्रतीचीं मनुष्या व्यभिजन्तेति पूर्व वृत्तान्त कथनेन मनुष्यैः प्रतीचींदिग्विभागः कार्य इतिविधिः कल्प्यो। मनुष्य सम्बन्धान्मनुष्यधर्मः, इति पूर्वपक्षः। प्रत्यङ्मुखा पृष्ठत आदित्यं कर्तुं प्राशुपदार्थाननुतिष्ठन्ति मनुष्या इत्यनुवादो न विधिः। नियोगतस्तदप्राप्तेर्नियमाविधेरत प्रकरणानुग्रहाच्च ज्योतिष्टोम धर्मः। वाक्य प्रकरणानुग्रहाय ज्योतिष्टोमे मनुष्य प्रधाने दक्षिणा व्यापारे निवेश इत्यपरः

अथवा अर्थवाद, विधिपक्ष में भी मनुष्य का धर्म है किंवा कर्म का धर्म है, अथवा प्रकरण में जो मनुष्य पधान कर्म है उसमें निवेश है किंवा आतिथ्य कर्म पूजादि में है यह संशय है। प्रतीचीं मनुष्याव्यभजन्त इस वाक्य द्वारा पूर्व वृत्तान्त का कथन करने से मनुष्य प्रतीचीदिग् का विभाग करें, इस प्रकार विधि की कल्पना करना चाहिये। तात्पर्य्य यह है कि पूर्व वृत्तान्त का कथन रूप अर्थवाद है और अर्थवाद विधि वाक्य का होता है। इसलिये विधि की कल्पना करना चाहिये, और उक्त दिग्विभाग के साथ मनुष्य का सम्बन्ध होने से मनुष्य का धर्म है यह पूर्व पक्ष है। आदित्य को पीठ के तरफ करने के लिये मनुष्य प्रायः पश्चिम मुख होकर पदार्थों का अनुष्ठान करते हैं इसलिये उक्त

पक्षः । वाक्ये न प्रकरणस्य बाधादातिथ्ये निवेश इत्यपरं मतम् । आतिथ्यादि कर्मणोऽतिव्यवहितत्वात् प्रकरणे संभवतश्चानुत्कर्षात् प्राचीनवंश करोतीतिविध्येक वाक्यत्वाच्च प्रतीचीविभाग वाक्यमर्थवादः इत्येवं यथा संभवं पक्षा योज्याः । अस्य पृथक् सूत्र करणे बीजमाह । संबंधस्य अर्थेति । सम्बन्धस्य मनुष्याणां प्रतीचीदिक् सम्बन्धस्यार्थ हेतुत्वात्सुखसाधनत्वात् । अयं भावः । निवीत करणस्य दृष्टफलाभावेनानुवादासंभवेऽपि मनुष्याणां पूर्वाह्णे संचरतां प्रतीचीदिशं प्रतिगमने, आदित्यः पृष्ट भाग इति आदित्य जनित पीडाऽभावस्य क्लृप्तत्वाद् लोके अनुवादः संभवतीति ॥ १० ॥

दिग्विभाग सिद्ध है और सिद्ध होने से उसका अनुवाद हो सक्ता है विधान नहीं । नियम से उक्त विभाग की प्राप्ति न होने से नियम विधि है अनुवाद नहीं । और प्रकरण पाठ के अविरोध के लिये ज्योतिष्टोम का धर्म मानना चाहिये । वाक्य तथा प्रकरण के अविरोध के लिये ज्योतिष्टोम में मनुष्य प्रधान दक्षिणा के प्रति ग्रहादिरूप कर्म में निवेश है यह अपरपक्ष है । वाक्य से प्रकरण का बाध होने से आतिथ्य कर्म में निवेश है यह अन्य मत है । आतिथ्यादि कर्म को अत्यन्त व्यवहित होने से और प्रकरण में

परुषिदितादीनामनुवादत्वम् । अधि० ३ ।

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत् ॥ ११ ॥

संभव होने से उत्कर्ष न होने के कारण और "प्राचीनवंशं करोति" इस विधि के साथ एक वाक्यता होने के कारण प्रतीची विभाग वाक्य अर्थवाद है इस प्रकार यथा संभव पक्षों की योजना करनी चाहिये । इस पृथक सूत्र के करने में हेतु कहते हैं । सबंधस्यार्थेति । (सम्बन्धस्य) मनुष्यों का प्रतीचीदिक के साथ सम्बन्ध को (अर्थहेतुत्वात्) सौकर्य का साधन होने से । यह भाव है कि निवीत करण का दृष्टफल न होने से अनुवाद न होने पर भी प्रातःकाल में संचार करनेवाले मनुष्यों का प्रतीचीदिक के तरफ गमन करने पर आदित्य पृष्टभाग आता है इसलिये आदित्य जनित पीडा का अभाव लोक में सिद्ध होने से अनुवाद सम्भव है ॥ १० ॥

अब परुषिदित आदिओं को अनुवादत्व कथन करते हैं तृतीयाधिकरण से । महा पितृ यज्ञ के प्रकरण में जो बर्हि=कुशा, पर्व = गांठ से काटी जाती है वह देवों के लिये, जो मध्य से काटीजाती है वह मनुष्यों के लिये, तै० ब्रा० १।६।८।६ तथा जो समूल काटी जाती है वह पितरों के लिये है तै० ब्रा० १।६।८।७ इस वाक्य को पढकर । अन्त में समूलं बर्हि भवति

महापितृयज्ञे श्रूयते । यत्परुषि दितं तद्देवानाम् यदन्तरातन्मनुष्याणां यत्समूलं तत्पितृणामिति । परुषि दितं पर्वणिच्छिन्नमित्यर्थः। तत्रैव यत्पूर्णं तन्मनुष्याणाम् उपर्यर्धो

= समूल वर्हि काटना चाहिये, यह विधि वाक्य पढा है । तथैव "पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽभिवान्याः गो दुग्धेमन्थम्', अग्नि विद्या में निपुण पितरों के लिये (अभिवाणी) वत्स रहित गौ के दुग्ध में पिसान डालकर मन्थन किया जाता है, इस प्रकार मन्थन का उपक्रम कर "यत्पूर्णं तन्मनुष्याणां उपर्यर्धोदेवानाम्' । अर्ध पितृणाम = जो पूर्ण अर्थात् दुग्ध से भरे पात्र में मन्थन किया जाता है वह मनुष्यों के लिये, जो आधे से कुछ उपर में मन्थन किया जाता है वह देवों के लिये होता है, 'यह वाक्य पढकर ' अर्धउपमन्थति, अर्धो हिपितृणां' = आधे में मन्थन करे, क्योंकि वही पितरों के लिये है, तै० ब्रा० १।६।८।४ इस प्रकार अर्ध मन्थन का विधान किया जाता है । और ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा समय स्नान के प्रकरण में 'घृतं देवानांमस्तुपितृणां, निष्पक्कं मनुष्याणां तद्वै' तै. सं. ६।१।१।४ एतत्सर्वदेवत्यं यन्नवनीतं' तै. सं. ६।१।१।५ = देवों के लिये घृत, पितरों के लिये दधि का मट्ठा, मनुष्यों के लिये थोडा उष्ण तक्र, तथा सब देवताओं के लिये नवनीत = मक्खन, इस प्रकार घृत आदि का कथन करके उसके बाद 'यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते सर्वा एवदेवताः प्रणाति' = जो नवनीत से अभ्यंजन = सिरसे

देवानाम् अर्धः पितॄणां अर्धउपमन्थतीति । ज्योतिष्टोमे घृतं देवानांमस्तु पितॄणां निष्पक्वं मनुष्याणामिति । तदुत्तरं नवनीतेनाभ्यङ्क्त इति विधिः । मस्तु दधि भवः । मण्डम् । निष्पक्वमीषल्लीनं नवनीतम् । दर्शपूर्णमासयोः यो विदग्धः स नैऋतः योऽशृतः स रौद्रो यः शृतः स

पाओंतक मर्दन किया जाता है, उससे सब देवता प्रसन्न होती है, इसलिये नवनीत से मर्दन करे, यह विधि वाक्य पढा है मस्तु नाम दधि से उत्पन्न जल का है अथवा दधि के उपरि भाग रूप मण्ड का है । निष्पक्व नाम थोडा पिघलाहुआ मक्खन का है तथा पूर्ण मास के प्रकरण में पुरोडाम के पकाने समय" जलाहुआ पुरोडाश राक्षसों के लिये, कच्चा रुद्रों के लिये और पक्का देवों के लिये होता है, यह वाक्य पढकर इसलिये बिना जला पकाना चाहिये क्योंकि वही सब देवतों के योग्य होता है, इस प्रकार बिना जला पकाने का विधान किया जाता है गांठ से काटी हुइ कुशा नाम "परुषि दित " तथा मूल (जड) सहित काटी हुइ का नाम "समूलदित है । परुष्. पर्व ग्रान्थि, गांठ यह चारों और दित, छेदन काटना यह तीनों पर्याय शब्द हैं । "अत्र सर्वत्र"– यत्परुषि दित तद्देवानाम् । यत्पूर्णं तन्मनुष्णाम् । घृतं देवानाम् योविदग्धः स नैऋतः । येचारों वाक्य (तद्वत्) निवीत की भांति अर्थवाद हैं । अर्थात् जैसे निवीत वाक्य स्व सन्निहित उपवीत विधि का स्तावक अर्थवाद है वैसे

सदेवस्तस्मादाविदहता शृतं कृत्य इति । अत्र सर्वत्र तद्वत् निवीतवत् । पृथक्कथन फलं विस्तरभयान्न लिख्यते ॥११॥

अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मत्व । अधि० ४ ।

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगाद् नित्यानुवादः स्यात् ॥ १२ ॥

दर्शपूर्णमासप्रकरणे नानृतं वदेदिति श्रुतम् । अयं नित्यानुवादरूपः उतापूर्वविधिर्वेति संशये पूर्वपक्षमाह । अकर्मेति । क्रतुसंयुक्तं क्रतुप्रकरणे पठितम् अकर्म नानृतं

ही "परुषिदित" वाक्य समूल छेदन विधि का, "पूर्ण" वाक्य अर्ध उप मन्थन विधि का, "घृत" वाक्य नवनीता भ्यञ्जन विधि का तथा' विदग्ध' वाक्य अविदग्ध श्रपीय तव्य विधि का स्तावक अर्थ वाद है । पृथक् कथन का फल विस्तार भय से लिखा नहीं ॥ ११ ॥

अब अनृत वदन निषेध को क्रतु का धर्म कथन करते हैं । चतुर्थ अधिकरण से । दर्शपूर्णमास के प्रकरण में अनृत भाषण न करे तै. सं. २।५।५।६ यह वाक्य पढा है । इस वाक्य में नित्यप्राप्त अनृत भाषण निषेध का अनुवाद किया गया है । किंवा प्रकृतयाग के अङ्ग अनृत भाषण निषेध का विधान किया गया है अर्थात् वाक्यन्तर से प्रथम प्राप्त पुरुषमात्र का धर्म जो अनृत भाषण निषेध उक्त वाक्य में अनुवाद किया गया है किंवा प्रकृत याग की अविगुणता के लिये उसके अङ्ग अनृत भाषण निषेधका विधान कियागया है इस संशय के होनेपर पूर्वपक्ष को कहते हैं । अकर्मेति ।

वदेदिति निषेधवाक्यं नित्यानुवादरूपं स्यात् । कुतः संयोगाद् उपनयनसमयएव सत्यं वद धर्मंचरेत्युपदेशेन नित्यमनृतनिषेधस्य प्राप्तत्वात् ॥ १२ ॥

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥ १३ ॥

सिद्धान्तमाह । विधिरिति । विधिरेवायं संयोगान्त-

(क्रतु संयुक्तं) दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में कथन किया (अकर्म) 'नानृतं वदेत्' यह अनृत निषेध वाक्य (नित्यानुवादः) नित्य प्राप्त का अनुवाद (स्यात्) है । क्योंकि (संयोगात्) वह उपनयन काल से ही 'सर्वदा सत्य भाषण तथा अग्नि होत्र' आदि कर्मों का अनुष्ठान करे, इत्यादि वाक्यों से विहित होने के कारण प्रथम ही प्राप्त है और जो कर्ता का धर्म प्रथम ही प्राप्त है उसका प्रकृत याग के अनुष्ठान काल में पुनः विधान नहीं हो सक्ता, क्योंकि वह प्राप्त होने से अप्राप्त नहीं और विधान अप्राप्त का ही होता है प्राप्त का नहीं, यह नियम है, परन्तु विशेष रूप से स्मरणार्थ अनुवाद प्राप्त का भी हो सक्ता है । इसलिये उक्त वाक्य नित्य प्राप्त पुरुष के धर्म अनृत भाषण निषेध का अनुवादक है प्रकृत याग के अङ्ग उक्त निषेध का विधायक नहीं ॥ १२ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । विधिरिति । 'वा' शब्द एवार्थे = वा शब्द एव अर्थ में है अर्थात् पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ है

गात् । उद्देश्यभेदात् । उपनयनकालिको विधिः पुरुषमुद्दिश्य अयं क्रतुमुद्दिश्येति भावः ॥ १३ ॥

जृम्भ्यमाणधर्माणां प्रकरणे निवेशः । अधि. ५ ।

अहीनवत्पुरुषधर्मस्तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रुतं, जृम्भ्यमानो ऽनुब्रूयात् मयि दक्षक्रतू इति प्राणापानावेवात्मन्धत्त इति । किमयं मंत्र

निषेध वाक्य विधि है अनुवाद नहीं, क्योंकि (संयोगान्तरात्) उद्देश्य के भेद से दोनों वाक्यों का भेद है । उपनयन कालिक विधि पुरुष के उद्देश्य से और यह वाक्य क्रतु के उद्देश से है । अर्थात् 'सत्यंवद' वाक्य में सत्य भाषण का विधान पुरुष के उद्देश से और 'नानृतं वदेत' में मिथ्या भाषण निषेध का विधान प्रकृत याग के उद्देश से है यह भाव है ॥ १३ ॥

अब 'जंभाई' निमित्तक मन्त्रों का उच्चारण प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है उन्हीं का प्रकरण में निवेश कथन करते हैं । पञ्चम अधिकरण से । दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "प्राणो वैदक्षः, अपानः क्रतुः, तस्माज्जभ्यमानो ब्रूयात् मयि दक्षक्रतू इति, प्राणापानवेवाऽऽत्मन् धत्ते, = प्राण का नाम 'दक्षः' तथा अपान का नाम क्रतु है, इसलिये पुरुष जंभाई आने पर 'मयि दक्ष क्रतू' इस मन्त्र का उच्चारण करे, इसके उच्चारण

पाठः पुरुषमुद्दिश्य विधियते उत क्रतुमुद्दिश्यंति संशये पुर्वपक्षमाह । अहीनेति । पुरुषधर्मः केवलपुरुषार्थः तदर्थत्वात् वाक्येन पुरुपार्थत्वावगमात् । तथा चाहीनवत् । यथा ऽहीन शब्दश्रवणाद् द्वादशोपसदां प्रकरणविच्छेदः तथा जञ्जभ्यमानो ऽनुब्रूयादिति पुरुषप्राधान्यश्रवणात् प्रकरणा-द्विच्छिद्य वाक्येन पुरुपार्थत्वमिति भावः ॥ १४ ॥

करने से प्राण तथा अपान दोनों शरीर में स्थिर हो जाते हैं, यह वाक्य पढा है, इसमें जो जञ्जभ्यमान पुरुष के संस्कारार्थ 'मयि दक्षक्रतू' मन्त्र का पाठ करना विधान किया है वह जञ्जभ्भमान पुरुष मात्र के उद्देश से किया है किंवा प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष के उद्देश से किया है इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । अहीनेति । (अहीनवत्) जैसे 'उपसद्' नामक होम अहीन का धर्म है वैसे ही (पुरुष धर्मः) जंभाई निमित्तक मन्त्र का पाठ भी पुरुषमात्र का धर्म हैं, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वाक्य से पुरुष धर्मत्वेन प्रतीत होता है अर्थात् पुरुष के उद्देश से विधान किया गया है । जैसे अहीन शब्द के पाये जाने से द्वादश उपसद होमों का ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण से विच्छेद होकर "तिस्रा एव सान्हास्योपसदो द्वादशाहीनस्य" वाक्य द्वारा "अहीन नामक याग के साथ सम्बन्ध होता है" वैसे ही 'जञ्जभ्यमानोऽनु-ब्रूयात' वाक्य में पुरुष की प्रधानता पाये जाने से दर्शपूर्णमास

प्रकरणाविशेषाद्वा तद्युक्तस्य तत्संकारो द्रव्यवत् ॥१५॥

सिद्धान्तमाह । प्रकरणेति । प्रयाजादिवत् प्रकरण विनियोगस्य अविशेषात् विशेषाभावात् क्रत्वङ्गम् । ननु जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षक्रतू इति वाक्येन पुरुष

याग के प्रकरण से उक्त मन्त्र के पाठ का भी विच्छेद करके (जञ्जभ्यमानः) वाक्य द्वारा जंभाई लेनेवाले पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध होना चाहिये । क्योंकि सम्बन्ध का हेतु वाक्य उभयत्र समान है इसलिये उक्त मन्त्र का उच्चारण करना पुरुषमात्र का धर्म है याग सम्बन्धी पुरुष का नहीं यह भाव है ॥ १४ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । प्रकरणेति । जैसे इत्थं भावाकाङ्क्षा । लक्षण प्रकरण से 'प्रयाजादि' दर्शपूर्णमासयाग के अङ्ग हैं, वैसे ही मन्त्र पाठ भी उक्त याग का अङ्ग हो सक्ता है, क्योंकि (प्रकरण) प्रकरण कृत सम्बन्ध का (अविशेषात्) दोनों में समानता है । ननु 'जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षक्रतू इति' इस वाक्य द्वारा पुरुष की प्रधानता प्रतीत होती है इस पर कहते हैं (तद्युक्तस्य) याग सम्बन्धी पुरुष का (संस्कारः) दर्शपूर्णमास के कर्ता पुरुष का मन्त्र पाठ करना संस्कार है । (द्रव्यवत्) जैसे याग सम्बन्धी व्रीहिरूप द्रव्य का प्रोक्षण संस्कार होता है । तद्वत् (इत्थंच) याग संम्बन्धी पुरुष का ग्रहण होने पर वाक्य

प्राधान्यं बुध्यते तत्राह। तद्युक्तस्य क्रतुसंबन्धस्य पुरुषस्य संस्कारः दर्शपूर्णमासकर्तृपुरुषसंस्कारः। द्रव्यवत्। व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यत्र व्रीहीवत्। इत्थं च वाक्येन श्रूयमाण पुरुष प्राधान्यं प्रकरणं चानुगृहीतं भवतीति भावः॥ १५॥

व्यपदेशादपकृष्यते॥ १६॥

नन्वहीन द्वादशोपसद इत्यत्रापि प्रकरणबाधो न

द्वारा श्रूयमाण पुरुष की प्रधानता और प्रकरण अनुग्रहीत = चरितार्थ होते हैं यह भाव है। सारांश यह निकला कि जैसे 'व्रीहीन प्रोक्षति' वाक्य से दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पाठ होने के कारण व्रीहिमात्र की व्यावृत्ति होकर याग सम्बन्धी व्रीही के प्रोक्षण का ग्रहण होता है वैसे ही उक्त वाक्य में भी प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष के धर्म मन्त्र पाठ का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि प्रकरण से पुरुष मात्र की व्यावृत्ति यहां भी स्पष्ट है, और जिसकी व्यावृत्ति प्रकरण से स्पष्ट है उसका ग्रहण कदापि नहीं हो सक्ता इस लिये उक्त मन्त्र का उच्चारण करना जञ्जभ्यमान पुरुष मात्र का धर्म नहीं किन्तु प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष धर्म है॥ १५॥

ननु, अहीन नामक याग में द्वादश उपसद संज्ञक होम होते हैं सो इसमें भी प्रकरण का बाध नहीं होना चाहिये अर्थात्

स्यादत आह। व्यपेति। द्वादशाहीनस्येत्यत्रापकृष्यते। व्यपदेशात्। तिस्र एव सान्हस्योपसद इति ज्योतिष्टोमे त्रित्वविशिष्टोपसद उपदिश्य द्वादशाहीनस्येत्यत्राहीनशब्दस्य

जैसे उक्त मन्त्र पाठ का प्रकरण से विच्छेद नहीं होता वैसे ही द्वादश उपसत संज्ञक होमों का भी विच्छेद नहीं होना चाहिये इस पर कहते हैं। व्यपेति। द्वादश उपसत् होमों का 'द्वादशाहीनस्य' इस वाक्य द्वारा अहीन याग में अपकर्ष होता है, क्योंकि (व्यपदेशात्) 'तिस्र एव सान्हस्योपसदः' इस वाक्य द्वारा ज्योतिष्टोम मे त्रित्व विशिष्ट उपसत होम का 'उपदेश्य' विधान करके उसके पश्चात् 'द्वादशाहीनस्य' इस वाक्य में अहीन पद का पृथक कथन किया गया है। अहीन याग में उत्कर्ष के न होने पर 'अहीनस्य' यह पद व्यर्थ हो जायगा यह भाव है सारांश यह कि उक्त दृष्टान्त विषम है उसमें विशेष वचन के विद्यमान होने से संशय उत्पन्न नहीं होता और संशय के उत्पन्न न होने से उसकी निवृत्ति के लिये प्रकरण के अनुसरण की आवश्यकता भी नहीं होती, परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं, यहां सामान्य वचन होंने के कारण संशय उत्पन्न होता है और उसकी निवृत्ति के लिये प्रकरण का अनुसरण किया जाता है और उसका अनुसरण करने से पुरुष मात्र की व्यावृत्ति स्वयं हो जाती है जिससे उक्त मन्त्र का पाठ करना पुरुष मात्र का धर्म सिद्ध नहीं होता और धर्म के

पृथग् निर्देशात् । तत्रोत्कर्षाभावे अहीनस्येति व्यर्थमेव स्यादिति भावः ॥ १६ ॥

अपगोरणादीनां पुमर्थत्वम् । अधि. ६ ।

शँय्यौ च सर्वपरिदानात् ॥ १७ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रुतं, शय्युं बार्हस्पत्यमब्रुवन्नित्युपक्रम्ययो ऽपगुरते शतेन यातयाद्यो निहनत सहस्रेण यात यात्तस्माद् ब्राह्मणाय नापगुरेत न निहन्यादिति । अयं

सिद्ध न होने से उसका मानना उचित नहीं, इसलिये 'मयि दक्षक्रतु' मन्त्र का उच्चारण करना याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है, पुरुष मात्र का नहीं ॥ १६ ॥

अब अपगोरण आदियों के पुरुष मात्र के लिये होना कथन करते है, छठे अधिकरण से । दर्शपूर्णमास के अधिकरण में 'देवा वैशंयु बार्हस्पत्यमब्रुवन् हव्यं नो वह ' तै० सं २।६।१०।१ = सब देवों ने मिलकर बृहस्पति के पुत्र महाराज शंयु से कहा कि हमको हव्य प्रदान करो ऐसा प्रारम्भ करके इसके उत्तर में महाराज ने कहा कि 'किमप्रजायः मैं आपको दूंगा, परन्तु आप मेरे पुत्र आदि रूप प्रजाओं को क्या दोगे, इस पर देवताओं ने कहा कि जो ब्राह्मण को दण्ड आदि से डरावे वह एक सौ रुपये से,

निषेधः क्रत्वर्थः किंवा पुरुषार्थ इति संशये प्रकरणपाठात्क्र त्वर्थ इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । शम्य्याविति । शँय्यौ शँय्यूपक्रमवाक्यस्थ निषेधस्य प्रकरणादुत्कर्षः स्यात् सर्वपरिदानाद् ब्राह्मणाय नापगुरेतेति क्रतुसंबन्धितादितरसर्व ब्राह्मणपरिग्रहात् । पूर्वाधिकरणे प्राणापानावेवात्मन् धत्तइति लटः श्रवणात् प्रकरणविच्छेदे फलकल्पनाप्रसङ्गः । इह तु यः अपगुरेत इति अपगोरणस्य कारणत्वं सत्संवत्सरपर्यन्तं

जो मारे वह एक हजार रुपये से दण्डनीय होता है, अर्थात् अपगोरणादि कर्ता की यातना तुम्हारे पुत्रों के आधीन हो ऐसा वर दिया यह वाक्य पडकर इसके अनन्तर यह वाक्य शेष पढा है कि 'इसलिये ब्राह्मण को अपगोरण न करे, न मारे, इस वाक्य शेष में जो ब्राह्मण के अपगोरण आदि का निषेध किया वह प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष के लिये है किंवा पुरुष मात्र के लिये है इस संशय के होने पर दर्शपूर्णमास के प्रकरण में महाराज शंयु के प्रति उपदेश पाये जाने के कारण 'क्रत्वर्थ' = याग सम्बन्धी ब्राह्मण के लिये है ऐसा सूत्र से बाहर पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । शंय्याविति । (च) और (शंयौ) शंय्यु इस उपक्रम वाक्यस्थ निषेध का दर्शपूर्णमास के प्रकरण से उत्कर्ष होता है, क्योंकि (सर्व परिदानात्) 'ब्राह्मणाय नापगुरेत्'

नरकयातनायाः कार्यत्वं प्रतीयते । हेतुहेतुमतोर्लिङिति विहितलिङः श्रवणात् । तथा चापगोरणाभावप्रयोज्यः यातना भाव इत्यपि सिद्धौ यातनाभावः फलं क्लृप्तमतः प्रकरणादुत्कर्षेऽपि किं बाधकमिति भावः ॥ १७ ॥

मलवद्वाससा संवादनिषेधस्य पुमर्थत्वम् । अधि. ७ ।

प्रागवरोधान्मलवद्वाससः ॥ १८ ॥

इस वाक्य में याग सम्बन्धी और उससे भिन्न सब ब्राह्मण का ग्रहण पाया जाता है । पूर्वाधिकरण में 'प्राणापानावेवात्मन् धत्ते' इस वाक्य में लट् का श्रवण पाये जाने से प्रकरण से विच्छेद करने पर फल की कल्पना का प्रसंग आता है । यहां तो "यः अपगुरे" इत्यादि वाक्य से अपगोरण को कारणत्व है और सत्संवत्सर पर्य्यन्त नरक यातना को कार्यत्व प्रतीत होता है । क्योंकि 'हेतु हेतुमतोर्लिङ्' इस वाक्य से विहित लिङ् का श्रवण है । तथा च = नरक यातना और अपगोरण इन दोनों का कार्य कारण भाव होने पर अपगोरणा भाव प्रयोज्य यातना भाव भी सिद्ध होने से यातना भाव रूप फल 'क्लृप्तं' निश्चित है इसलिये प्रकरण से उत्कर्ष होने पर भी कोई बाधक नहीं यह भाव है ॥ १७ ॥

अब रजस्वला स्त्री के साथ सम्भाषण मात्र के निषेध को पुरुषार्थत्व कथन करते हैं । सप्तम अधिकरण से । दर्शपूर्णमास

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेतेति अयं प्रतिषेधः क्रत्वर्थः दर्शपूर्णमासाधिकृतएव प्रकरणे पाठादिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। प्रागिति। मलवद्वाससः रजस्वलायाः प्राक् प्रारम्भात्प्रागेव अवरोधाच् शालातो बहिः करणात्। अयं भावः। कर्ममध्ये अध्वर्योः

के प्रकरण में रजस्वला स्त्री के साथ संभाषण न करे, तै. सं. २।५।१ यह वा य पढा है। यह प्रतिषेध यागार्थ है किंवा पुरुषार्थ हैं अर्थात इस वाक्य में जो सम्भाषण का निषेध किया है वह प्रकृत याग सम्बन्धी सम्भाषण का निषेध है किंवा सम्भाषण मात्र का निषेध है इस संशय के होने पर यह प्रतिषेध क्रत्वर्थ है क्योंकि दर्शपूर्णमासाधिकृत प्रकरण में ही निषेध है ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते है। प्रागिति। (मलव द्वाससः) रजस्वला स्त्री के साथ सब प्रकार के संभाषण का निषेध जानना चाहिये, क्योंकि (प्राक्) यज्ञारम्भ से प्रथम ही (अवरोध त्) रजस्वला को यज्ञ भूमि से निकालकर यज्ञ का करना विधान किया है। यह भाव है कि दर्शपूर्णमास में अध्यु का पत्नि के साथ सम्भाषण 'पत्निपत्न्येषतेलोकः' इस वाक्य द्वारा कर्माङ्गत्व रूप से विहित है उसी का प्रतिषेध कहना होगा और वह सम्भव नहीं। क्योंकि (यस्य) यजमान की स्त्री

पत्न्या सह संवादः पत्नि पत्न्येष ते लोक इति कर्माङ्गत्वेन विहितस्तस्य प्रतिषेधो वाच्यः। स न संभवति। यस्य व्रत्ये ऽहनि पत्न्यनालम्भुका भवति तामपरुध्य यजेतेति, तस्या आरम्भात् पूर्वमेव निरासेन कर्माङ्गसंवादप्राप्त्यभावादतो ऽत्र संवादो रागप्राप्तः पुरुषार्थतया निषिध्यतइति ॥१८॥

अन्नप्रातिषेधात् ॥ १९ ॥

उक्तार्थे हेत्वन्तरमाह। अन्नेति। नास्या अन्नमद्यादि

(व्रत्येऽहनि) दीक्षा दिन में ही (अनालम्भुका) अस्पृश्य = रजस्वला हो जाय वह उसको यज्ञ भूमि से बाहर निकालकर याग करे तै० ब्रा० ३।७।१।९ इस वाक्य से रजस्वला को कर्म के आरम्भ से पूर्व ही यज्ञ भूमि से बाहर निकालकर याग करने का विधान किये जाने से कर्म का अङ्ग रूप संवाद के प्राप्ति का अभाव है इसलिये संवाद राग प्राप्त है उसका यहां पुरुषार्थ रूप से निषेध किया गया है अर्थात् यज्ञ अयज्ञ उभय सम्बन्धी सम्भाषण का निषेध है ॥ १८ ॥

अत्र उक्तार्थ में और युक्ति कथन करते हैं। अन्नेति। (च) और 'नास्या अन्नमद्यादभ्यञ्जनं वै स्त्रियां अन्नं' तै० सं० २।५।१।६ इस वाक्य में (प्रातिषेधात्) अन्न नाम मैथुन का है उसका निषेध किये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धी होती है।

त्यत्र प्रतिषेधात्। अन्नं मैथुनं तस्य प्रतिषेधात्। कतौ तस्या प्रसक्तेः रागप्राप्तप्रतिषेध एव स वाच्यः। सह चरितत्वाद् अयमपि तथेति भावः। अभि अभिमुख्येन

ब्रह्मचर्य का विधान होने से यागानुष्ठान काल में उप गमन की प्राप्ती नहीं इसलिये राग प्राप्त ही का प्रतिषेध कहना चाहिये और राग प्राप्त उपगमन का निषेध पुरुष के लिये है। संभाषण निषेध को मैथुन प्रतिषेध का सहचारितत्व होने से (अयमपि) संवाद निषेध भी (तथा) पुरुषार्थ है यह भाव है। अभिमुख्य से = संमुखता से (अञ्जनम्) मेलन हो जिस व्यापार में इस व्युतपत्ति से अभ्यञ्जन नाम मैथुन का है "अभ्यंजनं वा स्त्रिया अन्नम्" इस वाक्य में अन्न शब्द के व्याख्यान से (उक्तार्थ) मैथुन रूप अर्थ का लाभ होता है। जैसे रजस्वला स्त्री के सम्भाषण का निषेध किया है वैसे ही 'रजस्वला स्त्री के अन्न को न खाय, स्त्री के सम्भोग का नाम 'अन्न' है, इस प्रकार उसके संभोग का भी निषेध किया है और निषेध प्राप्त का ही होता है अप्राप्त का नहीं, यह नियम है, रजस्वला स्त्री का संभोग केवल लोक में ही प्रमाद वश प्राप्त हो सक्ता है यज्ञ भूमि में नहीं, क्योंकि उसके अनुष्ठान में एक तो ब्रह्मचर्य्य का नियम है जिसका उल्लङ्घन भावी अनिष्ट की प्राप्ती तथा व्यर्थ द्रव्य व्यय के भय से कदापि नहीं हो सक्ता, दूसरे प्रतिक्षण ऋत्वजोंसे घिरे रहने के

अञ्जनं मेलनमिति व्युत्पत्त्या अभ्यञ्जनं मैथुनम् । अभ्यञ्जनं वा स्त्रिया अन्नमिति अन्नशब्दव्याख्यानादुक्तार्थलाभः ॥१९॥

सुवर्णधारणादीनां पुमर्थत्वम् । अधि ८ ।

अप्रकरणे तु तद्धर्मः ततो विशेषात् ॥ २० ॥

अनारभ्य श्रूयते, तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यं सुवर्ण एव भवतीति । अयं पुरुषार्थः क्रत्वर्थो वेति विचारे

कारण अवसर का मिलना भी दुर्लभ हैं परन्तु लोक में उसकी प्राप्ती के अनन्त उपाय हैं जिससे उसका प्राप्त होना संभव है और जहां उसका संभव हैं उसका निशेध भी वहां ही लग सक्ता है, इस प्रकार लोक सिद्ध रजस्वला स्त्री के सम्भोग का निषेध करने से अनुमान होता है कि संभोग के सहचारी संभाषग का निषेध भी यज्ञ संबंधी संभाषण का निषेध नहीं किन्तु लोक यज्ञ उभय संबंधी संभाषण मात्र का निषेध है । तात्पर्य्य यह है कि रजस्वला स्त्री का संभोग जैसे वर्जित है वैसे ही उसका संभाषण भी वर्जित है, इसलिये शुद्धि न होने से प्रथम उसके साथ संभोग की भांति संभाषण भी न करना चाहिये । ऐसी व्याख्या अन्य आचार्य करते हैं ॥ १९ ॥

अब सुवर्ण आदि के धारण को मनुष्य मात्र का धर्म कथन करते हैं अष्टम अधिकरण से । किसी याग विशेष का प्रकरण न

सिद्धान्तेनोपक्रमते । अपेति । अप्रकरणे पठितं सुवर्णधारणं तद्धर्मः पुरुषार्थः । ततः प्रकरणपठितेभ्यः विशेषाद् विलक्षणत्वात् ॥ २० ॥

चलाकर पुरुष को हस्त कर्णादिओं में कटक कुण्डल आदि रूप मे सुवर्ण धारण करना चाहिये, उसके धारण करने से मनुष्य दोनों लोकों में सुन्दर और उसके शत्रु असुन्दर हो जाते हैं, तै. ब्रा. २।२।४।६ "सुवाससा भवितव्यं रूपमेव बिभर्ति = अच्छे अच्छे वस्त्र पहरने चाहिये उनके पहरने से मनुष्य सुरूप हो जाता है, यह वाक्य पढा है । इस वाक्य में जो सुवर्ण आदि के धारण का विधान किया है वह मनुष्य मात्र का धर्म है किंवा किसी याग संबन्धी मनुष्य विशेष का धर्म है अर्थात् उक्त वाक्य में मनुष्य मात्र का सुवर्ण आदि के धारण करने की आज्ञा है किंवा याज्ञिक पुरुषों को इस विचार के होने पर सिद्धान्त से प्रारंभ करते हैं । अपेति । उक्त वाक्य उन वाक्यों की अपेक्षा विलक्षण है क्योंकि वह किसी मनुष्य विशेष के उद्देश से अथवा किसी याग विशेष के प्रकरण में नहीं पढा गया, इसके देखने से वह स्वयमेव बुद्धिस्थ हो जाता है कि मनुष्यमात्र के उद्देश से उक्त वाक्य की प्रवृत्ति हुई है और यह बात अनुभव सिद्ध है कि सुवर्ण आदि के धारण करने से मनुष्य मात्र सुन्दर प्रतीत होता है, और जो अनुभव सिद्ध है उसका किसी प्रमाण विशेष के विना

अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ॥ २१ ॥

पूर्वपक्षमाह। अद्रव्येति। शेषः स्यात् क्रतुशेषः स्यात्। अद्रव्यत्वात्। द्रव्यदेवतवाचकपदाभावत्। अयं भावः।

सङ्कोच करना भी ठीक नहीं, इसलिये सुवर्ण आदि को धारण करना मनुष्य मात्र का धर्म है, याज्ञिक मनुष्यों का ही धर्म नहीं, (अप्रकरणे)। किसी याग विशेष के प्रकरण में अपाठित सुवर्ण धारणादि (तद्धर्मः) मनुष्य मात्र को धर्म है, क्योंकि (ततः) प्रकरण पठित से (विशेषात्) वह विलक्षण है। २०।

अब उक्त अर्थ में पूर्व पक्ष को कहते हैं। अद्रव्येति। प्रत्येक क्रिया फल की कामना से की जाती है, जिस क्रिया का कोई फल नहीं उसके अनुष्ठान में किसी बुद्धिमान की प्रवृत्ति नहीं हो सक्ती, क्रिया का फलवती होना दो प्रकार से हो सक्ता है, एक अपने फल से, दूसरा फलवती क्रियान्तर के सम्बन्ध से, जो क्रिया अपने फल से फलवती है उसका 'प्रधान क्रिया' और जो फलवती क्रियान्तर के सम्बन्ध से फलवाली होती है उसको 'अङ्गक्रिया कहते हैं, स्वर्ण आदि को धारण रूप क्रिया भी स्वतः फलवाली नहीं, क्योंकि "स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्" वाक्य में दर्शपूर्णमास याग के स्वर्ग की भांति उक्त वाक्य में कोई फल नहीं सुना जाता और क्रिया का फलवती होना नियम है, जो क्रिया

यागस्यैव साक्षात्फलजनकत्वम् अत्र द्रव्यदेवताऽश्रवणेन फलसंबन्धासंभवादगत्या क्रत्वङ्गत्वमिति ॥ २१ ॥

वेदसंयोगात् ॥ २२ ॥

क्रत्वर्थत्वं गुणकर्मत्वेन न प्रधानकर्मत्वेनेत्याह ।

स्वतः फलवती नहीं है वह याग आदिरूप क्रियान्तर के सम्बन्ध से अवश्यमेव फलवती है और अफल क्रिया का फलवती क्रियान्तर के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध हो सक्ता है, दूसरा नहीं, इसलिये सिद्ध हुआ कि अप्रकरण पठित होने पर भी उक्त क्रिया प्रधान नहीं किन्तु याग क्रिया का शेष = अङ्ग है। सारांश यह है कि उक्त वाक्य में पुरुष मात्र के लिये सुवर्ण आदि का धारण करना विधान नहीं किया किन्तु यज्ञ सम्बन्धी पुरुषों के लिये विधान किया है। (शेषः) सुवर्ण आदि का धारण करना याग का शेष (स्यात्) है, क्योंकि (अद्रव्यत्वात्) द्रव्य देवता वाचक पद का अभाव है। यह भाव है कि याग को हीं साक्षात्फल जनकत्व है इस वाक्य मे द्रव्य देवता का श्रवण न होने से फल सम्बन्ध का असम्भव होने के कारण अगत्या सुवर्ण धारण याग का अङ्ग होगा ॥ २१ ॥

सुवर्ण धारण को याग का अङ्गत्व है सो गौण कर्म रूप से है प्रधान कर्मरूप से नहीं ऐसा कहते हैं । वेदेति । "आध्वर्यवम्"

वेदेति । आध्वर्यमितिमाख्यायुक्तयजुर्वेदसंयोगात् । अध्वर्युं सुवर्णधारणेन सस्कुर्यादिति तदर्थः ॥ २२ ॥

द्रव्यपरत्वाच्च ॥ २३ ॥

पक्षान्तरमाह । द्रव्येति । द्रव्यं क्रतुसंबद्धमात्रेयाय हिरण्यं

इस समाख्या से युक्त यजुर्वेद के साथ सम्बन्ध होने से सुवर्ण धारण अध्वर्यु का धर्म है पुरुष मात्र का नहीं । अध्वर्यु को सुवर्ण धारण से संस्कार करे, यह उक्त वाक्य का अर्थ है । अर्थात् जिस काण्ड में उक्त वाक्य का पाठ है उसकी समाख्या "आध्वर्यव" है, यजुर्वेदी ऋत्विक को 'अध्वर्यु' और अध्वर्यु सम्बन्धी को 'आध्वर्यव' कहते हैं 'आध्वर्यव' काण्ड में उक्त वाक्य का पाठ होने से धारण के साथ अध्वर्यु का सम्बन्ध स्पष्ट सिद्ध हो जाता है अर्थात् यदि सुवर्ण आदि का धारण करना मनुष्य मात्र का धर्म होता तो उसका उक्त काण्ड में पाठ न किया जाता परन्तु किया है, इसलिये सिद्ध होता है कि वह अध्वर्यु आदि याग सम्बन्धी मनुष्यों का ही धर्म है मनुष्य मात्र का नहीं ॥ २२ ॥

अब और पक्ष को कहते हैं । द्रव्येति । (द्रव्यं) "आत्रेयाय-हिरण्यं ददाति" इस वाक्य विहित हिरण्य क्रतु सम्बद्ध है,

ददातीति हिरण्यं तत्परत्वाच् श्रूयमाणहिरण्यपदस्यं । तथा च क्रतौ उपयोक्ष्यमाणसुवर्णं धारणेन संस्कुर्यादिति तदर्थ इति भावः ॥ २३ ॥

स्याद्वा संयोगवत्त्वफलेन सम्बन्धः तस्मात्कर्मैतिशायनः॥२४॥

"हिरण्यं भार्यं" = हिरण्य को धारण करना चाहिये, इस वाक्य में श्रूयमाण हिरण्य पद का (तत्परत्वात्) क्रतु संबंध हिरण्य का बोधकत्व होने से। 'तथा च' क्रतु संबंध हिरण्य का बोधक होने पर याग में उपयोक्षमाण सुवर्ण को धारण से संस्कार करे, ऐसा 'सुवर्णं हिरण्यं भार्यं' इस वाक्य का अर्थ है यह भाव है। सारांश यह निकला कि उक्त वाक्य में जो सूवर्ण आदि का धारण करना विधान किया है वह दक्षिणा मे दिये गये सुवर्ण आदि के धारण का है, सब सुवर्ण आदि के धारण का नहीं और दक्षिणा में सुवर्ण आदि का देना 'आत्रेयाय हिरण्य ददाति' = अत्रि गोत्रोत्पन्न ऋत्विजो को हिरण्य की दक्षिणा दे, इत्यादि वाक्य से सिद्ध है, और दक्षिणा याग संबंधी पुरुषों को ही दी जाती है, इसलिये उक्त वाक्य में जो सुवर्ण आदि का धारण करना विधान किया है वह याग संबंधी पुरुषों का धर्म है मनुष्य मात्र का धर्म नहीं ॥ २३ ॥

अत्र पूर्व पक्ष को दूषित करते हुए सिद्धान्त का उप संहार करते हैं। स्यादिति। प्रजापति देवता के उद्देश से जो व्रत किये

पूर्वपक्षान् दूषयन् सिद्धान्तमुपसंहरति । स्यादिति । फलेनैव साक्षात्संबंध इत्यैतिशायनाचार्यो मनुते । तस्मात् प्रकरण पाठाभावेन कर्तुर्वा द्रव्यस्य वा संस्कार द्वारा ऽसंभवेन संस्कृतस्य विनियोगाश्रवणात् पर्णमयीत्वे जुहूशब्द-

---

जाते है उनका नाम' प्राजापत्य व्रत है जैसे उक्त व्रतों के विधायक वाक्यों में " स्वर्ग कामो दर्शपूर्णमासाभ्यांयजेत " की भांति फल का कथन न होनेपर भी "एतावता हैनसाऽ युक्तो भवति"= इतने पापो से छूट जाता है, इस वाक्य शेष से पाप निवृत्ति रूप फल के साथ उनका सम्बन्ध होता है और फल सम्बन्ध होने से वह प्रधान कर्म माने जाते है, वैसे ही सुवर्ण आदि के विधायक वाक्य में फल का कथन न होनेपर भी "सुवर्ण एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृ व्यो भवति' सुवर्ण के धारण करने से आपसुन्दर और उसका शत्रु असुन्दर हो जाता है, इसवाक्य शेष से अपना सुन्दरता तथा शत्रु का असुन्दरता रूप फल के साथ धारण रूप क्रिया का सम्बन्ध हो सक्ता है और फलका सम्बन्ध होने से वह प्रधान कर्म भी होसक्ता है, और प्रधान कर्म होने से उसका मनुष्यमात्र का धर्म मानने में कोई दोष नहीं । (फलेन, सम्बन्धः) सुवर्ण धारण का फल के साथ ही साक्षात्सबन्ध है ऐसा ऐतिशायनाचार्य मानते है, क्योंकि (तस्मात्) कर्म के प्रकरण में पाठ का अभाव होने के कारण कर्ता का अथवा द्रव्य के संस्कार द्वारा सम्बन्ध

वद्व्याभिचारितक्रतुस्मारकपदाभावाच्च । संयोगवत् । प्राजापत्यव्रतानामेतावता हैनसा ऽयुक्तो भवतीति फल-संयोगवत् । कर्म स्यात् । पुरुषार्थरुपं कर्म स्यात् ॥२४॥

जयादीनां वैदिककर्माङ्गत्वम् । अधि० ९ ।

शेषो ऽप्रकरणे ऽविशेषात्सर्वकर्मणाम् ॥ २५ ॥

होना असम्भव है तथा उक्त वाक्य में संस्कृत के सम्बन्ध का श्रवण भी नहीं पाया जाता और पर्णमयीत्व में जैसे जुहु शब्द याग स्मारक पद है वैसा "सुवर्ण हिरण्यं" वाक्य मे अव्यभि चरित याग स्मारक पद का अभाव हैं (संयोगवत्)"प्राजापत्यव्र तोंका" एतावता हैन सा युतोभवति तै० सं० २ । ६ ।१०।२ वाक्य प्रतिपादित फल के साथ जैसे साक्षात सम्बन्ध है बैसे ही सुवर्ण धारण काभी है। (कर्म, स्यात्) धारण पुरुषमात्र का धर्म रुप कर्म है याग सम्बन्धी पुरुष का नहीं। (सयोगत्) जैसे वाक्य शेष से प्राजापयृ व्रतो का फल के साथ सभ्दन्ध होता है वैसे ही (फलेन सम्बन्धः सुवर्ण आदि धारण रुप कर्म का भी वाक्य शेष से फल के साथ सम्बन्ध (स्यात्) होता है (तस्मात्) इसलिये (कर्म) वह प्रधान कर्म है (ऐतिशायनः) यह ऐतिशायन ऋषि का मत हैं एसा सुत्रान्वय ही होसक्ता है । २४ ।

"जय" आदि संज्ञक होमों का वेदिक कर्मका अङ्ग कथन करते हैं नवम

अनारभ्य श्रूयते, येन कर्मणेर्त्सेत्तत्र जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृतो जुहोतीति। ईर्त्सेद् वृद्धिमिच्छेत्। जयादिसंज्ञका होमविशेषाः। इमे होमा लौकिके कृष्यादावपि उत वैदिक एवेति संशये पूर्वपक्षमाह। शेष इति। यः अप्रकरणे अधीत

अधिकरण से। जो किसी याग के प्रकरण में पठित नही है उस को 'अप्रकरण पठित' तथा 'अनारभ्याधीत' कहते हैं, जिस कर्म से अधिक फल की इच्छा करे उसमें 'जय' 'राष्ट्रभृत्' तथा 'अभ्यातान्' नामक होम करे, यह अनारभ्याधीत वाक्य इस अधिकरण का विषय है, 'चित्तंचस्वाहा' इत्यादि मन्त्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम 'जय' तथा ऋताषाड- इत्यादि मन्त्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम 'राष्ट्रभृत्' और 'अग्निभूतानां' इत्यादि मन्त्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम अभ्यातान है। उक्त वाक्य में जो अधिक फल प्राप्ती के लिये कर्म का अङ्ग 'जय' आदि नामक होम विधान किये हैं वह कृषि आदि लौकिक तथा अग्निहोत्रादि वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों का अङ्ग है किंवा अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का ही अंग है अर्थात् उक्त होम लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों में करे अथवा वैदिक कर्मों में ही करे, इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। शेष इति। जैसे वैदिक कर्म अधिक फल की इच्छा से किये जाते हैं वैसे ही कृषि आदि लौकिक कर्म भी

कर्मणः शेषः सः अविशेषाद् लौकिकानां वैदिकानां च सर्व कर्मणां शेषः स्यात् ॥ २५ ॥

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६ ॥

सिद्धान्तमाह । होमा इति । होमाः उक्तहोमाः श्रौतएव व्यवतिष्ठेरन् आहवनीयसंयोगात् होमत्वावच्छेदेन

उक्त इच्छा से किये जाते हैं फल समृद्धि की इच्छा लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों मे समान है, इसलिये उक्त होम लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों का अङ्ग हैं' केवल वैदिक कर्मों का ही नहीं सार यह निकला कि'जय' आदि होम लौकिक तथा वैदिक दोनों कर्मों में कर्तव्य हैं। (अप्रकरणे) अप्रकरण पठित जयः आदि होम (सर्व कर्मणां) लौकिक वैदिक संपूर्ण कर्म का (शेषः) अङ्ग है, क्योंकि (अविशेषात्) समान रूप से उनका पाठ किया गया है ॥ २५ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। होमा इति। यद्यपि लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों में फल वृद्धि की इच्छा समान रूप से की जाती हे तथापि उक्त होम कृषि आदि लौकिक कर्मों में नहीं हो सक्ते, क्योंकि उक्त लौकिक कर्म खेत में और होम आहवनीय अग्नि में किये जाते हैं, इस प्रकार दोनों का देश भेद

आहवनीय विधानात् । लोकिके तदभावादिति भावः । अङ्गविध्यनुसारेण प्रधानविधिसंकोचस्य तिर्यगधिकरणे षष्ठे वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ॥ २६ ॥

होने से परस्पर अङ्गाङ्गि भाव नहीं हो सक्ता, यदि होम भी खेत में किये जाते तो उनसे उक्त फल का प्राप्त होना असम्भव है, क्योंकि 'यदाहवनीय जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति = आहवनीय अग्नि में होम करने से यथेष्ट फल की प्राप्ती होती है, इत्यादि वाक्यों से यथेष्ट फल प्राप्ती के लिये आहवनीय अग्नि में ही सम्पूर्ण होमों का होना कथन किया है और अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म तथा उक्त होमों का 'आहवनीय' रूप अग्नि एक ही देश है, क्योंकि वह दोनों उक्त अग्नि में ही किये जाते हैं और देश के समान होने से उनका परस्पर अङ्गाङ्गि भाव रूप सम्बन्ध भी हो सक्ता है। इसलिये उक्त होम वैदिक कर्मों का ही अङ्ग है लौकिक वैदिक दोनों का नहीं। (होमाः) उक्त होम वैदिक कर्मों में ही (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्थित है, क्योंकि (आहवनीय संयोगात्) होमत्वावच्छेद से आहवनीय आग्नि का विधान है। लौकिक कर्म में आहवनीय अग्नि का अभाव है यह भाव है। अङ्ग विधि के अनुसार से प्रधान विधि के संकोच को षष्ठ अध्याय में तिर्यगधिकरण में वक्ष्यमाण होने से यह भाव हैं ॥ २६ ॥

शेषश्च समाख्यानात् ॥ २७ ॥

हेत्वन्तरमाह । शेष इति । शेषः अध्वर्युकर्तृककर्म शेषः । समाख्यानात् । उक्त वाक्यस्य आध्वर्यवमिति समाख्यानात् । यदि कृष्यादिशेषः तर्हि तत्राध्वर्योरभावात् समाख्या बाध्येतेति भावः ॥ २७ ॥

अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं । शेष इति । जिस काण्ड में उक्त होमों का विधायक वाक्य पढा गया है उस की समाख्या 'आध्वर्यव' है, इस काण्ड में पाठ होने से उक्त होमों का वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है यदि वह लौकिक कर्म का भी अंग होते तो उक्त वेद सम्बन्धी समाख्या वाले काण्ड में उनका पाठ न किया जाता, जिस प्रकार 'आध्वर्यव' वेद सम्बन्धी समाख्या है, उसका निरुपण पीछे किया गया है, उक्त समाख्यां वाले काण्ड में पाठ होने से सिद्ध होता है कि 'जय' आदि होम वैदिक कर्मों का ही अंग है लौकिक का नहीं । सार यह निकला कि उक्त होम वैदिक कर्मों में ही कर्त्तव्य है लौकिक कर्मों में नहीं । (च) और (शेषः) जयादि होमं अध्वर्यु कर्तृक कर्म का अंग है क्योंकि (समाख्यानात्) उक्त वाक्य का आध्वर्यवम् ऐसी समाख्या है । यदि कृषयादि का शेष हो तो तहां अध्वर्यु का अभाव होने से समाख्या बाधित हो जायगी

वैदिकाश्वप्रतिग्रहे: इष्टेः कर्तव्यत्वम् । अधि. १० ।

दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥

यावतो ऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेदिति विहितम् । अत्र प्रतिग्रहो दानमित्यग्रिमे अधिकरणे सेत्स्यति । इयमिष्टिर्लौकिकदाने उत वैदिकदानइति

यह भाव है ॥ २७ ॥

अत्र वैदिक अश्व प्रतिग्रहानिमित्तक वारुणी इष्टि की अङ्ग रूपता से कर्तव्यता कथन करते हैं दशम अधिकरण से । 'यावत्संख्याकानश्वान् दद्यात् तावत्संख्याका इष्टीः कुर्यात् । तेन तृप्तो वरुण एनं जलोदररोगान्मोचयेत' = यावत् संख्यावाले अश्वों को दे तावत् संख्यावाली इष्टिओं को करे । उससे तृप्त होकर वरुण इसको जलोदर रोग से मुक्त किया तै० सं० २।३।१२।१ इस प्रकार वारुणी इष्टि का विधान किया है, इस वाक्य में प्रतिग्रह नाम दान का यह अग्रिम अधिकरण में सिद्ध होगा । यह इष्टि लौकिक अश्वदान में कर्तव्य है किंवा वैदिक अश्वदान में इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । दोषादिति । 'वरुणोवा एतं गृह्णातियोऽश्वं प्रतिगृह्णाति' = अश्व का दाता जलोदर रोग से ग्रसित हो जाता है, इस वाक्य में अश्व के दान से जलोदर रोग का होना रूप दोष कथन किया है, वह लौकिक अश्वदान

संशये पूर्वपक्षमाह । दोषादिति । इयमिष्टिर्लौकिके स्वेच्छा निमित्तकदानेस्यात् । दोषात् । दानेन दोशश्रवणात्, स एवैनं वरुणपाशान्मुञ्चतीति । वरुणपाशाज्जलोदररोगात् । हि यतो वैदिके वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणेति शास्त्रात्प्राप्त दाने न दोशः स्याद्दोशप्रसक्तिर्न स्याच् शास्त्राच् शास्त्रप्रतिपादितत्वात् ॥ २८ ॥

में ही हो सक्ता है वैदिक अश्वदान में नहीं, क्योंकि वैदिक कर्म में अश्व की दक्षिणा देने का विधान पाया जाता है, जैसा कि 'ज्योतिष्टोमे गौर्वाऽश्वो वा दक्षिणा' = ज्योतिष्टोम याग में गौ अथवा अश्व दक्षिणा है, यदि वैदिक अश्व प्रतिग्रह में दोष होता तो ज्योतिष्टोम याग में अश्व की दाक्षिणा का विधान न पाया जाता, उसके पाये जाने से सिद्ध होता है कि वैदिक अश्व प्रतिग्रह में दोष नहीं किन्तु लौकिक अश्वदान में ही है, इसलिये उक्त दोष की निवृति के लिये जो वारुणी इष्टि विधान की है वह लौकिक अश्वदान में ही कर्तव्य है वैदिक अश्व प्रतिग्रह में नहीं । (इष्टिः) यह इष्टि (लौकिके) अपनी इच्छा निमित्तक अश्वदान में (स्यात्) होनी चाहिये । क्योंकि (दोषात्) उक्त दान में दोष का कथन किया है, 'वह वरुण ही इस प्रजापति का वरुण पाश से मुक्त किया' । वरुण पाश का अर्थ जलोदर रोग है । (हि) क्योंकि (वैदिके) वरुणदेवताकयवमय चरु और अश्व दक्षिणा है, इस

अर्थवादानुपपातात् तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ॥ २९ ॥

सिद्धान्तमाह । अर्थेति । वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णातीतिवाक्यरूपार्थवादस्य अनुपपातात् । सादृश्याद् । वरुणपाशेन गृहीतस्य पुरुषस्य मोचने यावच्छ्रेयः तावच्छ्रेयः अनेन कर्मणेति सादृश्यादर्थवान्सार्थकः । तस्माद्यज्ञे यज्ञसंबन्धिदानाङ्गं प्रतीयेत । यज्ञसंबंधीदानाङ्गत्वकल्पने

(शास्त्रात) शास्त्र सिद्ध अश्वदान में (न दोषः स्यात्) उक्त दोष प्राप्त नहीं हो सक्ता । शास्त्रात पद का अर्थ शास्त्र प्रतिपादितत्व है ॥ २८ ॥

अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं अर्थेति । "वरुणोवा एतं गृह्णाति योऽश्व प्रतिगृह्णाति" इस वाक्य रूप अर्थवाद का (अनुपपातात्) सादृश्य होने से । वरुणपाश से गृहीत पुरुष के रोग छोडाने में जितना श्रेय होता है उतना श्रेय इस वारुणी इष्टिरूप कर्म से होता है इस सादृश्य से यह इष्टि की विधि अर्थवान् है अर्थात् सार्थक है (तस्मात्यज्ञे) वाक्य शेष को फल परत्व का अभाव होने से ज्योतिष्टोम यज्ञ सबन्धी 'गौश्चाश्वश्च' इत्यादि वाक्य विहित अश्व दान में विहित यह इष्टि क्रत्वर्थरूप अङ्ग (प्रतीयेत) प्रतीत होती है । अर्थात् अश्व के प्रतिग्रह से जलोदररोग होता है और उस की निवृति के लिये उक्त इष्टि का विधान है, यह सब

परम्परया क्रत्वपूर्वप्रयोजकतया फलकल्पनाभाव इति लाघवमिति भावः ॥ २९ ॥

दातुर्वारुणेष्टिः । अधि० ११ ।

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥ ३० ॥

इयमिष्टिः दातुः प्रतिगृहीतुर्वेति संशये पूर्वपक्षमाह । अचोदितमिति । कर्मणोः ददातिप्रतिगृह्णात्यर्थयोर्भेदात्

अर्थवाद है । ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी अश्वदान में उक्त इष्टि को अंगत्व कल्पना करने पर परम्परा संबंध से क्रत्व पूर्व में प्रयोजक होने से फल की कल्पना नहीं करनी यह लाघव है यह भाव है ॥ २९ ॥

अब अश्व के दाता को वारुणेष्टि की कर्तव्यता कथन करते हैं एकादश अधिकरण से । उक्त वारुणी इष्टि दाता को कर्तव्य है किंवा प्रतिगृहीता को कर्तव्य है अर्थात् अश्व का देनेवाला यजमान उक्त इष्टि करे अथवा अश्व का दान लेनेवाले ऋत्विक वारुणी इष्टि करे इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष का कथन करते हैं अचोदितमिति । उक्त इष्टि के विधायक वाक्य में 'प्रतिगृह्णीयात्' पद का प्रयोग किया है जिसका प्रतिग्रहण करे यह अर्थ होता है, दान करे' यह अर्थ नहीं । यदि दाता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उक्त

प्रकृते प्रतिगृह्णीयादिति श्रवणेन दाने निमित्त अचोदितम-विहितमिदं कर्म अतः प्रतिग्रहीतुरिष्टिरिति भावः ३० ॥

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥ ३१ ॥

सिद्धान्तमाह । सेति । सा इष्ट्यधिकृतिः आर्त्विजे ऋत्विक्प्रेरके यजमाने दातरीति फलितं स्यात् । लिङ्गात्

वाक्य में 'दद्यात्' पद का प्रयोग होना चाहिये था 'प्रतिगृह्णीयात' का नहीं, और 'प्रतिगृह्णीयात्' तथा 'दद्यात्' इन दोनों पदों के अर्थ का परस्पर भेद है, भेद होने के कारण 'प्रतिगृह्णीयात्' से दद्यात् का ग्रहण भी नहीं हो सक्ता और उसके न होने से दाता को उक्त इष्टि का कर्तव्यता कदापि सिद्ध नहीं हो सक्ती और असिद्ध का ग्रहण अनुचित है इसलिये उक्त इष्टि प्रतिगृहीता को कर्तव्य है दाता को नहीं । सार यह निकला कि अश्व का दान लेनेवाले ऋत्विक् उक्त इष्टि करें देनेवाला यजमान नहीं । (च) और उक्त इष्टि प्रतिगृहीता को कर्तव्य है, क्योंकि यह (अचोदितं) प्रतिग्रह के निमित्त से विधान की गई है, दान के निमित्त से नहीं, और (कर्मभेदात्) ददाति तथा प्रतिगृह्णाति इन दोनों के अर्थों का परस्पर भेद है । प्रकृत में 'प्रतिगृह्णीयात्' इसका श्रवण पाये जाने से दान के निमित्त होने पर (अचोदितं) यह कर्म अविहित है इसलिये प्रतिगृहीता को इष्टि कर्तव्य है यह भाव है ॥३०॥

प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयदित्युपक्रमे दातुः पीडाश्रवणालिङ्गात्।

अत्र उक्त पक्ष का समाधान करते हैं। सेति। "प्रजापति र्वरुणायाश्वमनयत स स्वां देवतामार्च्छत् सपर्यदीर्यत स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत, तन्निरवपत् ततो वै सवरुण पाशाद मुच्यत्" तै० सं० २।३।१२।१ = प्रजापति ने वरुण को अश्व का दान दिया उसके देने से उसको जलोदर रोग हो गया, उसकी निवृति के लिये उक्त इष्टि को उचित समझा और उसके करने पर वह रोग से छूट गया, इस प्रकार उपक्रम करके उक्त इष्टि का विधान किया है उपक्रम वाक्य में जो प्रजापति का अश्व दान से रोगी होना तथा उक्त इष्टि के करने पर पुनः रोग से मुक्त हो जाना कथन किया है वह दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता में लिङ्ग है यदि प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उपक्रम वाक्य में अश्व के दाता प्रजापति का रोगी होना तथा इष्टि करने पर रोग से छूटना निरुपण न किया जाता, किन्तु प्रतिगृहीता वरुण का रोगी होना तथा इष्टि करने पर रोग से छूटना निरुपण किया जाता, परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि प्रति गृहीता को उक्त इष्टि कर्तव्य नहीं और जो यह कथन किया है इष्टि के विधायक वाक्य में 'प्रतिगृह्णयात्' पद का प्रयोग किया है यदि दाता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उसके स्थान में 'दद्यात्' पद का प्रयोग किया जाता सो ठीक नहीं, क्योंकि

उपक्रमानुसारेण यावतो ऽश्वान् प्रतिगृह्णीयादित्यस्य प्रति-

उपक्रम से विरुद्ध उप संहार कदापि नहीं हो सक्ता और उपक्रम वाक्य से दाता को उक्त इष्टि कर्तव्यता सिद्ध है जिसका अन्यथा भाव होना असंभव है, यदि उपसंहारस्थ "प्रतिगृह्णीयात्" पद का 'प्रतिग्रहण करे" यह अर्थ किया जाय तो उपक्रम उपसंहार का विरोध होना संभव है, सो ठीक नहीं, इसलिये प्रतिगृह्णीयात् पद का उक्त अर्थ नहीं किन्तु "प्रतिगृह्णीयात् = प्रतिग्राहयेत्" = प्रतिग्रहण करावे, यह अर्थ है, और यह हेतुवाची 'णी' प्रत्यय का उक्त पद में अन्तर्भाव मानन से हो सक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं, और इसके होने से उपक्रम तथा उपसंहार दोनों का विरोध भी नहीं होता, जिस अर्थ के ग्रहण होने में कोई दोष नहीं तथा जिसके होने से उपक्रम उपसंहार दोनों का विरोध भी नहीं होता वहीं अर्थ समीचीन तथा ग्रहणीय है, इसलिये उपसंहार वाक्य में "प्रतिगृह्णीयात्" पद का प्रयोग होने पर भी प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध नहीं होती, अतएव उसका मानया भी अनुचित है। तात्पर्य्य यह है कि "सञ्जाताऽसञ्जातविरोधिनोरसञ्जातविरोधी बलीयान्" = सञ्जात विरोधी = उत्पन्न हो गया है विरोधी जिसका तथा असञ्जात विरोधी = नहीं उत्पन्न हुआ है विरोधी जिसका इन दोनों के

ग्राहयेदित्यर्थकरणमावश्यकमिति भावः ॥ ३१ ॥

मध्य असञ्जात विरोधी प्रवल होता है, इस न्याय के अनुसार उपक्रम वाक्य प्रवल है, क्योंकि उसका विरोधी उपसंहार वाक्य उसके समय में अनुत्पन्न है, और उपसंहार वाक्य सञ्जात विरोधी होने के कारण उपक्रम वाक्य से निर्वल है और प्रवल तथा निर्वल वाक्यों के मध्य निर्वल वाक्य का ही प्रवल के अनुसार सर्वदा लापन किया जाता है उपक्रम वाक्य से दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध है जिसका अनुसरण उपसंहारस्थ प्रतिगृह्णीयात् पद का 'प्रतिग्राहयेत्' अर्थ किये बिना नहीं हो सक्ता, परन्तु अनुसरण होना आवश्यक है और उसके होने से "प्रतिगृह्णीयात्" पद का प्रतिग्राहयेत अर्थ करें तो प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध नहीं हो सक्ती, इस लिये अश्व के प्रतिगृहीता ऋत्विजों को उक्त इष्टि कर्तव्य नहीं किन्तु उसके दाता यजमान को ही याग की पूर्णता के लिये कर्तव्य है। (सा) अधिकृत इष्टि = प्रकृत इष्टि (आर्त्विजे) ऋत्विक का प्रेरक यजमान रूप दाता को (स्यात्) कर्तव्य है क्योंकि (लिङ्गात्) "प्रजापतिर्वरुणायाऽश्वमनयत्" इस उपक्रम वाक्य में दाता के पीडा का श्रवणरूप लिङ्ग से यही पाया जाता है। उपक्रम के अनुसार "यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्" इस वाक्य का "प्रतिपाहयेत्" यह अर्थ करना आवश्यक है यह भाव है ॥ ३१ ॥

वैदिकपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानम् । अधि० १२ ।

पानव्यापच्च तद्वत् ॥ ३२ ॥

यः सोमं वमति यः सोमवामी स्यात् तस्माएतं सौमेन्द्रं श्यामाकं चरुं निर्वपेदिति । इयमिष्टिः वैदिकसोमपानोत्तरवमने उत लौकिकोत्तर इति संशये पूर्वपक्षमाह ।

अब वैदिक सोमपान के वमन हो जाने पर सोमेन्द्रदेवताक चरु की अर्थात् सोमेन्द्र सम्बन्धी इष्टि की कर्तव्यता विधान करते हैं द्वादश अधिकरण से । किसी याग विशेष का प्रकरण न चलाकर जो सोम को पीकर वमन करता है और जो सोमका वमन करने वाला है उसकेलिये इस सोमेन्द्र के उद्देश्य से सांवां के चरु का निर्वाप करे, यंह वाक्य पढ़ा है । इस वाक्य में जो सोमवमन नेमित्तक सोमेन्द्र चरु का निर्वाप रूप इष्टि विधान का है वह लौकिक सोमपान के वमन होजाने पर कर्तव्य है किंवा वैदिक सोमपान के वमन हो जाने पर अर्थात् किसी रोग विशेष की निवृति के लिये पान किये सोम का वमन होजाने से उक्त इष्टि कर्तव्य है अथवा ज्योतिष्टोम याग में पान किये शेष सोम का ममन होजाने से कर्तव्य है इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते है । पानेति । इन्द्रियण वाएष वीर्येण व्यृध्येते यः सोमं वमति = उस पुरुष के

पानेति। पानस्य सोमपानस्य व्यापद् वमनम्। तद्वत्। अश्वप्रतिग्रहेष्टिपूर्वपक्षवत्। लौकिकपामवमनमित्यर्थः। तस्माद्विशेषस्तु तत्र दानं लौकिकं वैदिकं च संभवति अत्र वमनं लौकिकमेव न वैदिकमिति ॥ ३२ ॥

चक्षु इन्द्रिय शक्तिहीन हो जाते हैं जो सोम पीकर वमन कर देता है, इस उपक्रम वाक्य में सोम वमन के लोक सिद्ध दोष का उपन्यास करके पश्चात् उसकी शान्ति के लिये उक्त इष्टि विधान की है, यदि वैदिक सोमपान का वमन दोष का जनक होता तो उप क्रम वाक्य में किसी अलैकिक दोष का उपन्यास करके उस की शान्ति के लिये उक्त इष्टि विधान की जाती, लौकिक दोष का कथन करके उक्त इष्टि विधान करने से ज्ञात होता है कि वैदिक सोमपान के वमन होजाने पर उक्त इष्टि कर्तव्य नही किन्तु लौकिक सोमपान के वमन हो जाने पर कर्तव्य है। सार यह निकला कि उक्त वाक्य में जो इष्टि विधान की गई है वह किसी रोग विशेष की निवृत्ति के लिये पान किये सोमं का वमन हो जाने पर कर्तव्य है वैदिक सोमपान के वमन हो जाने पर नही। (च) और (तद्वत्) अश्व का प्रतिगह इष्टि का निमित्त है इस पूर्व पक्षके समान(पानव्यापत् सोमपान का वमन भी इष्टि का निमित्त है लौकिक सोमपान का नवम उक्त इष्टि मे निमित्त है यह अर्थ है। उससे विशेष तो तहां

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ॥३३॥

सिद्धान्तमाह । दोषादिति । वैदिके वमने दोषाद्दोष श्रवणात् । विवा एव इन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यते यः सोमं वमतीति । अर्थात् वमने धातुसाम्यमिति वैद्यशास्त्रप्रसिद्ध-फलाद् हि यतः लौकिके न दोषः स्यादतः इयमिष्टिर्वैदिक सोमपानएव ॥ ३३ ॥

अश्वदान लौकिक और वैदिक सम्भव है यहां वमन लौकिक ही संभव है वैदिक नहीं ॥ ३२ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। दोषादिति । (वैदिके) वैदिक सोमपान के वमन हो जाने पर (स्यात्) उक्त इष्टि कर्तव्य है, क्योंकि (दोषात्) "उस पुरुष के चक्षु इन्द्रीय शक्ति हीन हो जाते हैं जो सोम पी कर वमन कर देता है" इस उपक्रम वाक्य में चक्षु इन्द्रिय का बलहीन होना रूप दोष का श्रवण पाया जाता है । और (लौकिक) लौकिके सोमपान में (दोषः) वमन हो जाना कोई दोष (न स्यात्) नहीं हो सक्ता (हि) क्योंकि (अर्थात्) वमन होने पर धातुओं का साम्यता होती है यह वैद्यक शास्त्र प्रसिद्ध फल होने के कारण वह सोमपान वमन के लिये ही किया जाता है, और जिसके लिये जो किया जाता है उसके होने से कोई दोष नहीं

सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापाद्विषयत्वम् । अधि० १३ ।

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥ ३४ ॥

पूर्वोदाहृतवाक्ये वमनकर्तृविशेषाश्रवणाद् ऋत्विजां वमनेऽपि इयमिष्टिरिति पूर्वपक्षसूत्रमाह । तदिति । तद्

हो सक्ता ॥ ३३ ॥

अब सौमेन्द्र चरु को यजमान के सोमपान के वमन होने पर विषयत्व = कर्तव्यता कथन करते हैं अर्थात् उक्त इष्टि यजमान को कर्तव्य है यह कथन करते हैं । त्रयोदश अधिकरण से । सोम वमन निमित्तक जो इष्टि विधान की है वह ऋत्विक तथा यजमान सबको कर्तव्य है किंवा यजमान को ही कर्तव्य है अर्थात् ऋत्विक तथा यजमान इन सब के मध्य जो सोमपान करके वमन करदे उसको उक्त इष्टि करनी चाहिये अथवा केवल यजमान को ही वमन करने पर उक्त इष्टि करनी चाहिये इस संशय के होने पर पूर्व उदाहृत वाक्य में वमन कर्ता के विशेष के श्रवण पाये जाने से ऋत्विजो के बमन होने पर भी उक्त इष्टि कर्तव्य है अर्थात् उक्त इष्टि के विधायक वाक्य में "सोमवामी" पद का प्रयोग किया है जिसका "सोम पीकर वमन करने वाला', अर्थ है इससे ऋत्विक अथवा यजमान किसी व्यक्ति विशेष का लाभ नहीं होता अर्थात् "सोमवामी" यह सामान्य शब्द है ऋत्विक

वमनं सर्वेषामृत्विजां यजमानस्य च इष्टिनिमित्ताविशेषात् ॥ ३४ ॥

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ ३५ ॥

सिद्धान्तमाह । स्वामिन् इति । स्वामिनो वमने इयमिष्टिः क्रतोः तदर्थत्वात् क्रतुजन्मफलभोक्तृत्वस्य यजमान

हो अथवा यजमान कोई सोम पीकर वमन करदे उसको उक्त शब्द कह सक्ता है, यदि यजमान मात्र को इष्टि कर्तव्य होती तो 'सोमवामी' पद के साथ 'यजमानः' पद का अवश्यमेव प्रयोग किया जाता, क्योंकि उसके विना यजमान को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध नहीं हो सक्ती, और सामान्य वाची शब्द से विशेष का ग्रहण होना सर्वथा असंभव है, इसलिये उक्त इष्टि ऋत्विक यजमान सबको कर्तव्य है केवल यजमान को ही नहीं इस अभिप्राय से पूर्वपक्ष सूत्र को कहते हैं। तदिति । (तद्) उक्त सोम का वमन (सर्वत्र) सब ऋत्विजों को तथा यजमान को उक्त इष्टि की कर्तव्यता में निमित्त है, क्योंकि (अविशेषात्) वह सोमवामी समान रूप से सुना गया है ॥ ३४ ॥

अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं । स्वामिन इति । जिस ज्योतिष्टोम याग में शेष सोम का पान किया जाता है उसके फल का भोक्ता यजमान हैं ऋत्विक नहीं, और जो जिसके फल

एव सत्वात् । वमने क्रतुवैगुण्यमिष्ट्या तत्परिहार एव फलम् । यः वमति स स्वक्रतुवैगुण्यदोषपरिहारार्थं निर्वपेदिति वमनकर्तुः निर्वापकर्तृश्च ऐक्यं श्रूयते । अतो यष्टुरेवेति ॥३५॥

का भोक्ता नहीं उसके सोम वमन से वह विगुण नहीं हो सक्ता, और याग विगुणता की निवृत्ति के लिये ही उक्त इष्टि विधान की गई है इससे स्पष्ट होता है कि यजमान का सोम वमन ही उक्त याग की विगुणता का कारण है, उसी को उस की निवृती के लिये उक्त इष्टि कर्तव्य हो सक्ती है। तात्पर्य्य यह है कि ऋत्विज केवल याग के कर्ता हैं उसके फल के भोक्ता नहीं अतएव उनके वमन से याग की विगुण होने का संभव नहीं और यजमान उक्त याग के फल का भोक्ता है और अन्य अङ्गों की भांति सोमपान भी उक्त याग का अङ्ग है परन्तु यहां पान केवल पीने का ही नाम नहीं किन्तु पीकर पचाना अर्थ है, यदि यजमान सोम को पीकर न पचा सके और वमन करदे तो उक्त पान रूप अङ्ग के भंग हो जाने से याग का विगुण होना स्पष्ट है और यथेष्ट फल की प्राप्ती के लिये सांगोपांग याग का पूर्ण करना भी आवश्यक है, इसलिये उसकी विगुणता निवृति के लिये जो इष्टि विधान की है वह यजमान का यी कर्तव्य है ऋत्विजों का नहीं। (स्वामिनः) यजमान की यह इष्टि कर्तव्य है, क्योंकि (क्रतोः तदर्थत्वात्) याग

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥

सोमपानेनात्मनः संस्कारो भवति। स च यजमानस्यैव न ऋत्विजाम् क्रयक्रीतत्वात्तेषां संस्कारो वमने जाते

जन्य फल भोक्तृत्व यजमान में ही है। सोम के वमन हो जाने पर याग में विगुनता आति है उसकी निवृत्ति ही इष्टि का फल है जो वमन करता है वही अपने याग के विगुणता रूप दोष के निवृत्ति के लिए चरु का निर्वाप करे, इस वाक्य में वमन कर्ता का ऐक्य श्रुत है। इसलिये उक्त इष्टि यजमान को ही कर्तव्य है। ३५।

अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं। "लिङ्गेति। " सोमपीथेन व्यृध्यते यः सोमंवमति "= सोमपान करने से उसका कर्म विगुण हो जाता है जो पीकर वमन कर देता है इस वाक्य शेषमें जो सोम के वमन से कर्म का विगुण होना कथन किया है वह यजमान को उक्त इष्टि की कर्तव्यता में लिङ्ग है, यदि ऋत्विजों को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो सोमपान करना याग का एक संस्कार विशेष और उसको पीकर वमन करने से उसका विगुण अर्थात् असंस्कृत होना कथन न किया जाता, क्योंकि यजमान क्रीत होने के कारण ऋत्विजों का याग के साथ स्व स्वामिभाव सम्बन्ध नहीं और जिनका जिस के साथ उक्त सम्बन्ध नहीं है उनके वमन से वह विगुण नहीं हो सक्ता और विगुण

न भवतीति कथ्यते, सोमपीथेन व्यृध्यते यः सोमं वमतीति वाक्येन । इदं लिङ्गं यजमानवमनएवेत्याह । लिङ्गेति ॥३६॥

न होने से उसके पुनः संस्कारार्थ उक्त इष्टि का विधान भी नहीं बन सक्ता, परन्तु " योवमति सानिर्वपति " = जो वमन करे वह चरू निर्वाप रुप इष्टि करे, इस प्रकार वमन कर्ता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता कथन की है, इससे स्पष्ट होता है कि जिसका याग के साथ स्वस्वामि भाव सम्बन्ध है उसी के सोम वमन से याग विगुण होता और उसी को विगुणता निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि कर्तव्य है याग के साथ केवल यजमान का ही स्वस्वामि भाव सम्बन्ध है, इसलिये सिद्ध हुआ कि सोम वमन निमित्तक उक्त इष्टि भी यजमान को कर्तव्य है ऋत्विजो कों नही । सोमपान से आत्मा का संस्कार होता है । और वह संस्कार यजमान को ही होता है ऋत्विजों को नही । क्योंकि तेषां ऋत्विज क्रय से क्रीत हैं । और उक्त संस्कार वमन हो जाने पर नही रह सक्ता ऐसा " सोमपीथेन " इत्यादि वाक्य से कहा गया है । यह लिङ्ग यजमान के वमन में ही हो सक्ता है ऋत्विजों के नही ऐसा कहते हैं। लिङ्गेति । लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थकी सिद्धि होती है। ३६ । आग्नेयअष्टा कपाल चरु के द्वयवदान मात्रको होतव्य त्व कथन करते हैं चर्तुदश अधिकरण से । " दर्शपूर्णमास " याग

आग्नेयाष्टाकपालचरोर्न्नवदानमात्रस्य होतव्यत्वम् ।अधि.१४।

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥ ३७ ॥

यदाग्नेय इत्यनेन विहितः पुरोडाशः कृत्स्नः अग्नये

के प्रकरण में "यदाग्नेयोष्टाकपाल :" = अग्निदेवता के उद्देश से आठ कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य से जो पुरोडाश प्रदान विहित है वह कृत्स्न पुरोडाश अग्नि के उद्देश से देना चाहिये किंवा उसका भाग विशेष इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। सर्वेति। उक्त वाक्य में अग्निदेवताके उद्देशसे पुरोडाशका प्रदान कथन किया है उसके किसी भाग विशेष का नहीं, और जिसका कथन नहीं किया उसका अनुष्ठान में लाना अनुचित है और अग्निदेवता के उद्देश से प्रदान भी तभी समझा जा सक्ता है जब कृत्स्न पुरो-डाश का अग्नि में हवन कर दिया जाय अन्यथा नहीं, इसलिये कृत्स्न पुरोडाश का हवन होना चाहिये भाग विशेष नहीं। तात्पर्य यह है कि उक्त वाक्यसे पुरोडाश का अग्नि में त्याग पाया जाता है उसके भाग विशेष का नहीं, और जिसका उक्त वाक्य से त्याग नहीं पाया जाता उसका प्रमाणिक न होने के कारण अनुष्ठान भी नहीं हो सक्ता, इस पुरोडाश मे से कुछ भाग काट कर हवन करना ठीक नहीं किन्तु कृत्स्न पुरोडाश का हवन करना

देय उतैकदेश इति संशये पूर्वपक्षमाह । सर्वेति सर्वस्य पुरोडाशस्य प्रदानम् अग्नये जुष्टं निर्वपामीति ग्रहणेन निखिलस्य तदर्थत्वात् ।। ३७ ।।

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ।। ३८ ।।

सिद्धान्तमाह । निरिति । निष्कृष्य अवदानं निरवदानम् ।

ठीक है । (सर्वस्य, हविषः) सब पुरोडाश का (प्रदानं) प्रदान होना चाहिये " अग्नयेजुष्टं निर्वपामि " इस वाक्य में निखिल पुरोडाश का ग्रहण होने से (तदर्थत्वात) वह पुरोडाश उसके लिये ही है ।। ३७ ।।

अब सिद्धान्त को कहते हैं निरिति । यद्यपि उक्त वाक्य से पुरोडाश का ही अग्नि में त्याग पाया जाता है उसके भाग विशेष का नहीं तथापि उक्त वाक्य से पुरोडाश के साथ कृत्स्न शब्द का प्रयोग न होने के कारण सम्पूर्ण पुरोडाश के त्याग की कल्पना नहीं कर सकते । और एक देश के त्याग से भी पुरोडाश का त्याग कहा जा सकता है । और " द्विर्हविषोऽवद्यति " =हवि में से त्याग के लिए अंगुष्ठ पर्व परिमाण टुकड़े काटे, इस वाक्य विशेष से पुरोडाश के भाग विशेष का त्याग पाया जाता है जिसका उल्लङ्घन नहीं होसकता अर्थात् "आग्नेयोऽष्टाकपाल " ये सामान्य वाक्य और " द्विर्हविषोऽवद्यति " यह विशेष वाक्य है

द्विर्हविषो ऽवद्यतीति विधानाद् न सर्वहोमः किं तु शेषः स्यात् ॥ ३८ ॥

विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का सङ्कोच हो जाता है, सामान्य वाक्य से विशेष वाक्य का नहीं, यह नियम है, विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का सङ्काच करने से कृत्स्न पुरोडाश का त्याग नहीं पाया जाता। इसलिये अग्नि देवता के उद्दश से प्रदेय पुरोडाश के अंगुष्ठ पर्व परिमाण दो टुकड़ों का अग्नि में त्याग करना चाहिये, कृत्स्न का नही। सार यह निकला कि" द्विर्हविषोऽवद्यति, वाक्यानुसार अग्नि में हवनार्थ पुरोडाश के दो अवदान करें, अगूठे के पर्व समान काटने का नाम, एक अवदान है अर्थात् अंगुष्ट के पर्व के समान पुरोडाश के दो टुकड़े काटकर हवन करना चाहिये और शेषास्विष्ट कृत आदि कार्यों के लिये रखना चाहिये, कृत्स्न का हवन करना ठीक नहीं। (निरवदानात्) द्विर्हविषोऽवद्यति आदि वाक्यों से कृत्स्न पुरोडाश रुप हवि में से अंगुष्ठ पर्व परिमाण दो टुकड़े काटकर हवन करना विधान किया है इसलिये सब पुरोडाश का हवन नहीं होना चाहिये किंतु स्विष्टकृदादि अन्य कार्यों के लिये (शेषाः) शेष भी (स्यात्) रखना चाहिये। ३८। अब पूर्वपक्षीशङ्का करते हैं। उपाय इति। द्विर्हविषोऽवद्यति वाक्य से जो अंगुष्ट

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥ ३९ ॥

पूर्वपक्ष्याशङ्कते । उपाय इति । द्विरवदानमुपायः हविषः संस्कारः कल्प्यते । तथा च कृत्स्नहोमः कृत्स्न तदर्थत्वात् । अग्न्यर्थत्वात् । अयं भावः अनेकवारं द्विर्द्विरव-

---

पर्व प्रमाण दो टुकडे काटने का विधान किये है, उसका यह तात्पर्य नही कि कृत्स्न पुराडाश में से केवल अंगुष्ठ पर्व परिमाण दो टुकडे काटकर हवन करने तथा शेष पुराडाश अन्य कार्यों के लिये रखना किन्तु उक्त परिमाण के दो टुकडे करके हवन करना चाहिये यह तात्पर्य है अर्थात् उक्त वाक्य हवन का उपाय कथन करते है पुराडाश के भाग विशेष के हवन का नहीं, अतएव उसको विशेष वाक्य मानकर " आग्नेय: " वाक्य का संङ्कोच भी नही हो सक्ता । तात्पर्य्य यह है कि " आग्नेय:" वाक्य से कृत्स्न पुरोडाश का हवन पाया जाता है उसके भाग विशेष का हवन करने से वह चरितार्थ नही हो सक्ता, और द्विर्हविष: वाक्य को उपाय का विधायक होने से उसका सङ्कोच भी नहीं मान सक्ते क्योंकि सामान्य विशेष भाव के होने पर ही परस्पर सङ्कोच्य सङ्कोचकभाव हो सक्ता है और उक्त वाक्य को उपाय का विधायक होने से यावत्पर्य्यन्त पूरोडाश विद्यमान है तावत्पर्य्यन्त होने में कोइ बाधक नहीं, क्योंकि वह हवन क्रिया का

दाय होतव्यं कृतस्नं, तावता न कस्यापि वाक्यस्य विरोध इति ॥ ३९ ॥

कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

सिद्धान्ती स्वमतं व्यवस्थापयति । कृतत्वादिति । कर्मणः होमस्य सकृत् कृतत्वाद नावृत्तिः स्यात्। ननु

प्रयोजक हैं, इस प्रकार कृत्स्नपुरोडाश का हवन होने से उसका विधायक वाक्य भी चरितार्थ हो जाता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि कृत्स्नपुरोडाश का हवन होना चाहिये भाग विशेष का नहीं दो अवदान (उपायः) पुरोडाश रुप हविका संस्कार विहित है तथाच = संस्कार का विधान होने से सब पुरोडाश का होम होना चाहिये, क्योंकि सब पुरोडाश का (तदर्थ त्वात्) अग्नि में हवन के लिये है। यह भाव है कि अनेकवार दो २ टुकडे करके सब पुरोडाश का हवन करना चाहिये, ऐसा अर्थ करने से किसी भी वाक्य का विरोध नहीं आता ॥ ३९ ॥

अब सिद्धान्ती अपने मत को व्यवस्थित करता है। आग्नेयः वाक्य से पुरोडाश का हवन पाया जाता है, कृत्स्न पुरोडाश नहीं और जो वाक्य से पाया नहीं जाता उसकी किसी परीणाम विना कल्पना करना अनुचित है और द्विर्हविषः " वाक्य को उपाय का निरुपक होने पर भी पुरोडाश की स्थिति पर्य्यन्त हवन क्रिया

द्रव्यस्य शिष्टत्वात् तदनुसारेण यागाभ्यास इत्यत्राह। द्रव्यस्य यागं प्रति गुणभूतत्वाद न गुणानुसारेण प्रधानावृत्तिरिति भावः ॥ ४० ॥

आवृत्ति भी नहीं हो सक्ती, क्योंकि एक तो आग्नेय वाक्य से अनेक बार हवन का होना नहीं पाया जाता और एक बार के हवन से ही चरितार्थ हो जाने के कारण वह अनेक बार हवन की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सक्ता और पुरोडाश द्रव्य हवन क्रिया का साधन होने से गौण उसका उक्त क्रिया की आवृत्ति में प्रयोजक असम्भव है अर्थात् प्रधान के अनुसार गौण की आवृत्ति हो सक्ती है गौणके अनुसार प्रधाण की नहीं तात्पर्य यह है कि द्विर्हविषः वाक्य के अनुसार अंगुष्ठपर्व समान पुरोडाश के दो टुकड़ों का हवन कर देने से आग्नेय वाक्य चरितार्थ हो जाता है और शेष पूरोडाश गुण भुत होने के कारण हवन क्रिया की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि कृत्स्न पुरोडाश का हवन कर्तव्य नहीं किन्तु उसके भाग विशेष का कर्तव्य है। (कर्मणः) हवन के (सकृत) एक बार (कृतत्वात्) कर देने से (स्यात्) हवन विधायक वाक्य चरितार्थ हो जाता है इसलिये आवृत्तिका प्रयोजक नही हो सक्ता। ननु, द्रव्य का शेष रहने से उसके अनुसार याग की आवृत्ति होनी चाहिये इस पर कहते हैं।

शेषदर्शनाच्च ॥ ४१ ॥

साधकान्तरमाह । शेषदर्शनादिति । शेषकार्यस्य शेषात्स्विष्टकृते ऽ वद्यतीति विधिदर्शनाच्छेष आवश्यकः ॥४१ ॥

(द्रव्यस्य) शेष पुरोडाश रुप द्रव्य (गुणभुतत्वात) याग के प्रति गौण है इसलिये गुण के अनुसारसे प्रधान की आवृत्ति नहीं हो सक्ती यह भाव है ॥ ४० ॥

अब उक्त अर्थ में साधकान्तर को कहेत है । शेष दर्शनदिति शेषात्स्वष्ट कृते समवद्यति = शेष पुरोडाश से स्विष्टकृत् कर्म के लिये अगुष्ठ के पर्व समान काट, इसवाक्य में स्विष्टकृत् कर्म के लिये शेष पुरोडाश से अंगूष्ठपर्व समान काटनेका विधान किया है यदि कृत्स्न पुरोडाश का हवन होता तो उक्त वाक्य में शेष से स्विष्ठ कृत् के लिये अवदान का विधान न किया जाता, क्योंकि कृत्स्न का हवन हो जानेसे शेष का हवन असम्भव है। और शेष न रहने के कारण स्विष्ठ कृत् कर्म के लिये अवदान का विधान भी नहीं हो सक्ता । परन्तु विधान किया गया है इससे स्पष्ट होता है कि कृत्स्न पुरोडाश का हवन कर्तव्य नहीं किन्तु उसके भाग विशेष का कर्तव्य है । (च) और (शेष दर्शनात) शेष पुरोडाश से अन्य कार्य्यों को करने का "शेषात्स्विष्टकृतेऽ वद्यति" वाक्य से विधान पाये जाने से भी अगुष्ट पर्व समान पुरोडाश के दो टुकडे हवन करने चाहिये, और शेष स्विष्ट कृदादि कार्यों के लिये रखना आवश्यक है ॥ ४१ ॥

सर्वशेषेण स्विष्टकृदनुष्ठानम् । अधि० १५ ।

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरञ्शेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥

दर्शपूर्णमासे शेषकार्याणि स्विष्टकृदिडाप्राशित्रावदानरूपाणि । तानि यावद्धविषः कार्याणि किं वैकस्मादिति संशये पूर्वपक्षमाह । अप्रयोजकत्वादिति । अप्रयोजकत्वाच्छेषकार्यं प्रति हविषो ऽप्रयोजकत्वात् । प्रधानयागप्रयुक्त-

---

अब सब हवियों के शेष से स्विष्टकृत आदि शेष कर्मों की कर्तव्यता कथन करते है पंचदश अधिकरण से दर्श पूर्णमास में स्विष्ठकृत याग, इडा भक्षण तथा अवदान रुप शेष कार्य कहे हैं। वे कार्य = स्विष्ठकृत" आदि सम्पूर्ण शेष कर्म यावत् हवियों से कर्तव्य हैं किंवा एक हवि शेष से अर्थात् प्रधान हवन के अनन्तर जो शेष हवियें विद्यमान हैं, उनके मध्य किसी एक शेष हवि से उक्त कर्म करने चाहिये अथवा तीनों हवियो के शेष से इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। अप्रयोजक कत्वादिति । (एकस्मात्) एक ही हवि शेष"से स्विष्ट कृत् आदि कार्य (क्रियेरन करने चाहिये, क्योंकि (अप्रयोजकत्वात्) प्रतिहविशेष " स्विष्ट कृत आदि कार्यों के आवृत्ति का प्रयोजक नहीं । क्योंकि तीन हवियें प्रधान याग प्रयुक्त हैं इसलिये एक ही हवि से अवदान करने पर भी " शेषात्स्विष्ट कृतेऽवद्यति " यहशास्त्र चरितार्थ

त्वाद्धविषः शेषात्स्विष्टकृते ऽवद्यतीति शास्त्रमेकस्मादवदाने ऽपि चरितार्थमत एकस्मादवदानम्। यदि शेषकार्याणां हविः प्रधानं स्यात् तदा प्रतिप्रधानामितिन्यायप्राप्तिः।

हो सक्ता है इसलिये एक ही हवि शेष से अवदान करना चाहिये यदि शेष स्विष्टकृत आदि कार्यों का हवि प्रधान होता तो प्रतिप्रधान मङ्गा वृतिः न्याय की प्राप्ति होती । परंतु हवि प्रधान नहीं । किन्तु शेष कार्य के प्रति अङ्ग है। इसलिये एक ही हवि शेष से अवदान करने पर भी शास्त्र कृतार्थ हो जाता है ऐसा कहते है शेष स्यगुण भूतत्वात् इस ग्रन्थ से। अर्थात् " शेषात्स्विष्ट कृते वद्यति " वाक्य " स्विष्ट कृत् " आदि कर्मों के लिये शेष हविः से अवदान कथन करता है और वह उक्त तीनों शेष हवियों के मध्य किसी एक शेष हवि से अवदान करने पर भी चरितार्थ हो सक्ता है उसकी चरितार्थता के लिये तीनों शेष हवियों से अवदान की कल्पना करना ठीक नहीं, और एक हवि अवदान करने पर बाकी दोनों शेष हवियें स्विष्ट आदि कर्मों के लिये अवदान का प्रयोजक भी नहीं हो सक्तीं। भाव यह है कि शेष हवियें साधन होने के कारण कर्म का अङ्ग है और जो अङ्ग होता है वह गौण होने के कारण कर्म की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सक्ता अर्थात् उसके कारण कर्म का पुनः अनुष्ठान न होने से " शेषा

तदेव न । शेषकार्यं प्रत्यङ्गं हवि । अतः एकस्मादवदानेऽपि कृतार्थमित्याह । शेषस्य गुणभूतत्वात् ॥ ४२ ॥

संस्कृतत्वाच्च ॥ ४३ ॥

सकृच्चैवञ्जातीयकेन शेषकार्येण संस्कृतं प्रधानमिति नापरस्मादपि कर्तव्यमित्याह । समिति ॥ ४३ ॥

स्विष्ठ कृत् वाक्य के साथ भी कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि वह शेष हवि से स्विष्ठ कृत आदि कर्मों के लिये अवदान विधान करता है और वह एक शेष हवि से करने पर भी उत्पन्न हो सक्ता है, इसलिये तीनों शेष हवियों से स्विष्ठ कृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं किन्तु तीनों के मध्य किसी एक से कर्तव्य है ॥ ४२ ॥

एक वार एवं जातियक शेष कार्य के होने से भी प्रधान हवि संस्कृत हो जाति है इसलिये अपर हवि से उक्त कर्म कर्तव्य नहीं ऐसा कहते हैं । समिति । (च) और (संस्कृतत्वात्) एक वार उक्त कर्म होने से भी प्रधान हवि संस्कृत हो जाति है तात्पर्य यह है कि स्विष्टकृत आदि कर्म द्वारा हवि शेषों में अदृष्ट ही संस्कार उत्पन्न होता है और वह अदृष्ट संस्कार एक द्रव्य रुप हवि से निष्पन्न स्विष्ट कृदादि कर्मों द्वारा सब हवि शेषा में सिद्ध हो जाता है । इसलिये भी एक ही हवि शेष से स्विष्टकृदादि शेष कर्म कर्तव्य है ॥ ४३ ॥

सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४४ ॥

स्विष्टकृदाद्यवदानं हविषः प्रतिपत्तिसंस्कार इति चतुर्थे वक्ष्यमाणमर्थं सिद्धवत्कृत्य सिद्धान्तमाह । सर्वेभ्य इति । संस्कारस्य संस्काररूपस्य स्विष्टकृदवदानस्य तदर्थत्वाद्

चतुर्थ अध्याय में वक्ष्यमान प्रति पत्ति कर्मत्वका कारण कृत कार्यकृत्वरुप अर्थ को हवि शेषों में सिद्धवत् करके स्विष्ट कृदादि देवता के उद्देश से जो अवदान होता है वह हवियों का प्रति पत्ति संकार है इस सिद्धान्त को कहते है । सर्वेभ्य इति । (सर्वेभ्यः) सब शेष हवियों से उक्त कर्म होने चाहिये, क्योंकि (कारणा विशेषात्) उन कर्मों के होने में संस्कार रूप कारण समान है और (संस्कारस्य) वह संस्कार रुप स्विष्टकृत् अवदान (तदर्थत्वात्) हविमात्र के लिये होने से प्रति हवि हो सक्ता है। तथाच = अवदान को हवि मात्र के लिये होने से हवियें प्रधान हैं और संस्कार रूप कारण समान है इसलिये सब हवियों से अवदान होना चाहिये क्योंकि प्रति प्रधान अङ्ग की आवृत्ति होती है यह न्याय है । अर्थात् " स्विष्ट कृत् आदि संस्कार कर्म होने से गौण और हवि प्रधान है और प्रति प्रधान गौण की आवृत्ति सर्व सम्मत है उसमें अधिक वक्तव्य की आवश्यकता नहीं । और एक हवि की भांति सब हवियों का संस्कार भी अपेक्षित है और

हविरर्थत्वात् । तथा च हविषः प्रधानत्वेन सस्काररूपकारण स्य अविशेषात्सर्वेभ्योऽवदानं प्रतिप्रधानमङ्गावृत्तिरिति न्यायात् ॥ ४४ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४५ ॥

सकृत्सकृदवद्यतीति वीप्सा सर्वेभ्यः अवदाने लिङ्गमित्याह । लिङ्गेति ॥ ४५ ॥

वह हवियों के परस्पर भिन्न होने के कारण एक हवि से उक्त कर्मों के होने पर अन्य हवियों में नहीं हो सक्ता । इसलिये तीनों हवियों से उक्त कर्म कर्तव्य हैं किसी एक से नहीं ॥ ४४ ॥

एक २ हवि से एक २ बार अवदान करें, इस वाक्य में जो वीप्सा कथन किया है वह सब हवियों से अवदान करने में लिङ्ग है ऐसा कहते हैं लिङ्गेति । (च) और (लिङ्ग दर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी सब हवियों से उक्त कर्म की सिद्धि होती है । यदि आग्नेय आदि तीनों हवियों के मध्य किसी एक हवि से स्विष्टकृत आदि कर्म कर्तव्य अभिप्रेत होते तो दो बार सकृत् शब्द का प्रयोग न किया जाता, क्योंकि एक संस्कृत् शब्द के प्रयोग से भी उक्त अर्थ का लाभ हो सक्ता है, परन्तु ऐसा न करके सकृत्, सकृत् इस प्रकार दो बार प्रयोग किया है, इससे सिद्ध होता है कि एक हवि से ही उक्त कर्म कर्तव्य नहीं किन्तु उक्त तीनों हवियो से कर्तव्य है ॥ ४५ ॥

प्राथमिकशेषात्स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानम् । अधि. १६ ।

एकस्माच्चेद् याथाकाम्यविशेषात् ॥ ४६ ॥

एकस्मादवदानामिति कृत्वाचिन्तयेदमधिकरणम् । एकस्मादवदानपक्षं इच्छैव नियामिका उत अन्यात्किंचन

अब प्राथमिक हवि शेष से स्विष्ट कृदादि कर्म कर्तव्य हैं ऐसा कथन करते हैं षोडश अधिक कारण से । आग्नेय आदि तीन हवियों के मध्य किसी एक हविसे स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य हैं प्रत्येक हवि से नहीं इस पुर्व पक्ष को स्वीकार करके अब उक्त तीनों हवियों के मध्य वह एक हवि कौन है (चिन्त्या) इसके निर्णयार्थ यह अधिकरण किया जाता है (विषयो विशयश्चैव पूर्व पक्ष स्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पंचाङ्ग शास्त्रे ऽधिकरणं स्मृतम् ॥ जिसमें विषय, संशय, पुर्व पक्ष, उत्तर पक्ष और सङ्गति ये पांच हों, उस वाक्य को शास्त्र में अधिकरण कहते है) एक हवि शेष से अवदान पक्ष में इच्छा ही नियामिका किंवा भिन्न कोई नियामिक है अर्थात् क्या जिस किसी एक हवि शेष से अथवा प्रथम आग्नेय हवि शेष से अवदान करना । इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । एकस्मादिति । (चेत्) यदि (एकस्मात्) एक हवि पक्ष है तो (यथाकामी) अपनी इच्छा के अनुसार जिस किसी एक हवि से उक्त कर्मों के लिये अवदान करें, क्योंकि

नियामकमस्तीति संशये पूर्वपक्षमाह । एकस्मादिति । स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ॥ ४७ ॥

सिद्धान्तमाह । मुख्यादिति । मुख्यात्प्रथमाद् अवदानं

(अविशेषात्) उक्त तीनों हवियें परस्पर समान हैं । अर्थात् आग्नेय आदि तीनों हवियें प्रधान होने के कारण परस्पर समान हैं उनके मध्य किसी को उत्कृष्ट तथा किसी को निःकृष्ट अथवा किसी को संस्कर्तव्य तथा किसी को असंस्कर्तव्य नहीं कह सक्ते और " स्विष्टकृत् " आदि कर्मों के लिये अवदान के विधायक शेषात्स्विष्टकृते ऽ वद्यति वाक्य से भी किसी एक विशेष हवि का निश्चय नहीं हो सक्ता कि उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ जिसका अवदान किया जाय, क्योंकि उसमें शेषात् एक ऐसे पद का प्रयोग किया है जिसका सब हवियों के साथ सम्बन्ध हो सक्ता है । और ऐसी अवस्था में किसी दृढनियामकके विना एक का निर्धारण न होने से नियम होना भी असंभव है इस लिये उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ अपनी इच्छा अनुसार जिस किसी एक हवि से अवदान करना उचित है । उसमें नियम की आवश्यकता नहीं ॥ ४६ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । मुख्यादिति । (मुख्यात्) जिस हवि का देवता के उद्देश से प्रथम त्याग किया जाता है,

प्रथमोपस्थितेः सर्वपूर्वकालत्वात् । प्रथमोपस्थितपरित्यागे मानाभावादिति भावः ॥ ४७ ॥

उस मुख्य हवि से उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ अवदान होना चाहिये क्योंकि (पूर्वकालत्वात्) वह सब से प्रथम त्याज्य होने के कारण प्रथम उपस्थित है। यद्यपि उक्त तीनों हवियें प्रधान होने के कारण परस्पर समान है तथापि देवता के उद्देश से जो उनका त्याग होता है उसके यथाक्रम होने से उनमें परस्पर उपस्थिति कृत भेद अवश्य है अर्थात् जिस हवि का प्रथम देवता के उद्देश से त्याग होता है उसकी प्रथमा जिसका पश्चात् होता है उसकी पश्चात् उपस्थिति होती है। और पूर्वोत्तर उपस्थिति के भेद से हवियों का परस्पर भेद होना भी आवश्यक हैं और भिन्न २ काल में उपस्थित हवियों के मध्य प्रथमोपस्थित का त्याग करके पश्चात उपस्थित का ग्रहण भी नहीं हो सक्ता जैसा कि कहा है कि "प्रथमोपस्थित के परित्याग में कोई प्रमाण नहीं। और उक्त तीनों हवियों के मध्य प्रथम अग्नि देवता के उद्देश से त्याग होने के कारण आग्नेय पुरोडाश रूप हवि प्रथम उपस्थित है। इसलिये उनके मध्य उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ प्रथम उपस्थित एक आग्नेय हवि से ही अवदान होना चाहिये, किसी एक से नहीं यह भाव है ॥ ४७ ॥

पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थत्वन । अधि० १७ ।

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥ ४८ ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते चतुर्धाकरणे, इदं ब्रह्मण इदं होतुरिदमध्वर्योरिदमग्नीध इति । इदं दानमृत्विक्परिक्रया-

---

अत्र चतुर्द्धाकृत आग्नेय पुरोडाश का विभाग पूर्वक भक्षणार्थ ऋत्विजों को दिया जाना कथन करते हैं सप्तदश अधिकरण से । दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में चतुर्द्धाकृत पुरोडाश का यह ब्रह्मा का, यह होता का, यह अध्वर्यु का तथा यह अग्नीध का भाग है तै. ब्रा. ३।३।८।८ इस प्रकार यजमान कर्तृक ऋत्विजों को देना कथन किया है । वह दान ऋत्विजों के परिक्रयार्थ है किंवा भक्षणार्थ है अर्थात हवन के अनन्तर शेष बचे पुरोडाश के चार टुकडे करके जो एक २ टुकडा एक २ ऋत्विक को देना कथन किया है वह भृती के अभिप्राय से समझना चाहिये ऊत भक्षण के अभिप्राय से इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कथन करते हैं । भक्षेति । (भक्षाश्रवणात्) दान के विधायक "अग्नीधेप्रथमायादधाति" तै. ब्रा. ३।३।८।८ "वेदेन ब्रह्मणे ब्रह्मभागं परिहरति" तै. ब्रा. ३।३।८।९ "ततो होत्रे" अथाध्वर्यवे तै.ब्रा. ३।३।८।१० इत्यादि वाक्य में भक्षण शब्द का श्रवण न होने से (दान शब्दः)

र्थमुत भक्षार्थमिति संशये पुर्वपक्षमाह। भक्षेति। वाक्ये भक्षपदाश्रवणाद्दानशब्दः चतुर्थ्यन्तदानशब्देन निर्देशः परिक्रयार्थः ॥ ४८ ॥

तत्संस्तवाच्च ॥ ४९ ॥

उक्तार्थे साधकान्तरमाह। तदिति। तस्य चतुर्थी निर्देशस्य संस्तवात्। एषा वै दर्शपुर्णमासस्य दक्षिणेति

चतुर्थ्यन्त संप्रदान पद से चतुर्द्धाकृत पुरोडाश का जो विभाग पूर्वक ऋत्विजों को देना कथन किया है (परिक्रये) वह उनके परिक्रयार्थ जानना चाहिये भक्षणार्थ नहीं। यद्यपि परिक्रय का भी श्रवण नहीं है तो भी द्रव्यों का कर्म का शेष होने से और कर्म युक्त ऋत्विजों के लिये देने से परिक्रय श्रवण के बिना भी दक्षिणा दान की भांति भाग दान भी परिक्रयार्थ है ॥४८॥

अत्र उक्त अर्थ में हेत्वन्तर को कहते हैं। तदिति। तस्य चतुर्थ्यन्त संप्रदान शब्द से निर्दिष्ट पुरोडाश दान की (संस्तवात्) "पुरोडाश का देना दर्शपूर्णमास याग की दक्षिणा है, इस प्रकार पुरोडाश के दान की दक्षिणा नाम से स्तुति की है, इससे स्पष्ट होता है कि जैसे याग की समाप्ति पर दक्षिणा नौकरी में दी जाती है वैसे ही पुरोडाश का देना भी नौकरी में ही समझना चाहिये। यदि पुरोडाश का देना भक्षणार्थ होता तो

दक्षिणात्वेन स्तुतेः दक्षिणायाः परिक्रयार्थत्वं सिद्धं तथाऽस्यापीति भावः ॥ ४९ ॥

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥ ५० ॥

सिद्धान्तमाह । भक्षेति । भक्षार्थ एष विभागः । द्रव्ये इत्यनन्तरं स्वत्वाभावस्य द्वयोरिति शेषः । समत्वात् तुल्यत्वात् । अयं भावः देवतार्थं परिगृहीतद्रव्यस्य देवतायै निवेदितत्वेन स्वत्वाभावस्य द्रव्ये ऋत्विग्यजमानयोः तुल्यत्वात् । न च स्वत्वाभावे निर्देशोऽपि न संभवतीति शक्यते

उसकी दक्षिणा के नाम से स्तुति की जाती । दक्षिणा परिक्रयार्थ होना सर्व सिद्ध है इसलिये दक्षिणा की भांति पुरोडाश का दान भी क्रयार्थ है भक्षणार्थ नहीं ॥ ४९ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । भक्षेति । (भक्षार्थः) पुरोडाश का विभाग पूर्वक देना भक्षणार्थ है । परिक्रयार्थ नहीं । द्रव्ये इसके अनन्तर "स्वत्वाभावस्य और द्वयोः" इन दोनों पदों का शेष है । उक्त पुरोडाश द्रव्य में यजमान तथा ऋत्विज दोनों का स्वत्वाभाव (समत्वात्) तुल्य है । यह भाव है कि देवता के लिये परिगृहीत द्रव्य का अग्निदेवता के उद्देश से निवेदित कर देने के कारण स्वत्वाभाव द्रव्य में ऋत्विज तथा यजमान दोनो में समान है । अर्थात् जिस वस्तु में यजमान

वक्तुम् । तुलापुरुषदानादौ त्यक्तस्यापि द्रव्यस्य परस्परं कलहानिवृत्त्यर्थं यजमानकर्तृकविभागस्य दृष्टत्वेन तथाऽत्रापि संभवादिति ॥ ५० ॥

का स्वत्व है उसी वस्तु को वह ऋत्विजों के परिक्रियार्थ दे सक्ता है दूसरी को नहीं । जिस पुरोडाश के चार भाग करके ब्रह्माऽदि ऋत्विजोंको देना उक्त वाक्य में कथन किया है उसमें अग्नि देवता के उद्देश से प्रथम ही त्याग कर देने के कारण यजमान का स्वत्व नहीं । और स्वत्व के न होने से वह ऋत्विजों तथा यजमान दोनो के समान है । स्वत्व का अभाव होने पर पुरोडाश के चार भाग करके ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को देना उक्त वाक्य में कथन किया है वह भी सम्भव नहीं हो सक्ता ऐसा कहने को शक्य नहीं । तुला पुरुष दानादिओं में त्याग हुए द्रव्य का भी लेनेवालों में परस्पर विवाद निवृत्ति के लिये यजमान कर्तृक विभाग पूर्वक देना देखा जाता है वैसे ही उक्त वाक्य में भी यजमान के स्वत्व से रहित पुरोडाश का चार भाग करके ब्रह्मादि ऋत्विजों को यजमान कर्तृक देना कथन किया हैं वह सम्भव है । और ऐसा कथन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह ऋत्विजों को परिक्रियार्थ नहीं दिया गया किन्तु भक्षणार्थ दिया गया है ॥ ५० ॥

व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥ ५१ ॥

दक्षिणात्वेन संस्तवादिति हेतुं निरस्यति । व्यादेशादिति । व्यादेशाच्चतुर्थ्या संप्रदाननिर्देशसाम्याद् निर्देशस्य दक्षिणात्वेन स्तुतिः । एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथ इतिवत् नैतावता परिक्रयः सिध्यतीति भावः ॥ ५१ ॥

इति जैमिनिसूत्रवृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

अब पुरोडाश दान की दक्षिणा के नाम से की गई स्तुति का समाधान करते हैं । व्यादेशादिति । (व्यादेशात्) चतुर्थी विभक्ति से संप्रदान का कथन साम्य = एक होने से अर्थात् जिन ब्रह्माआदि ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है उन्हीं को पुरोडाश देना कथन किया है । इस प्रकार दक्षिणा तथा पुरोडाश दान के पात्र की एकता होने के कारण निर्दिष्ट पुरोडाश दान की दक्षिणा के नाम से स्तुति हो सक्ती है "एषवैदर्शपूर्णमासयोरवभृथः" इसके समान (एतावता) दक्षिणा दान की भांति पुरोडाश के दान से परिक्रय सिद्ध नहीं हो सक्ता । क्योंकि दक्षिणा द्रव्य में ऋत्विजों को देने से प्रथम यजमान का स्वत्व ज्यों का त्यों है । इसलिये दक्षिणा दान से परिक्रय होता है । और पुरोडाश में

ध्रुवाज्यादिभिः शेषकार्याननुष्ठानम् । अधि०।१।

आज्य च सर्वसंयोगात् ॥ १ ॥

"ध्रौवादाज्यादुपांशुयाजार्थमव दानेकृते तच्छेषेण ध्रौवेण द्रव्येण स्विष्टकृदादिकं शेष कार्यं कर्तव्यमुतनेति संशये, स्विष्टकृदवदानं सर्वेभ्यो हविर्भ्य इति पूर्वं सिद्ध

स्वत्व नहीं है इसलिये परिक्रय नहीं हो सक्ता यह भाव है ॥ ५१ ॥

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्दकृत तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद के जैमिनि सूत्रवृत्ति का अनुवाद समाप्त ॥४॥

अब "उपांशुयाज" के अनन्तर "ध्रुवा" नाम पात्र में स्थित शेष आज्यादिओं से "स्विष्टकृत" आदि शेष कर्मों की अकर्तव्यता कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से । ध्रौव आज्य से उपांशु याज के लिये अवदान करने पर उससे बचा ध्रौव घृतरूप द्रव्य से "स्विष्टकृत्" आदि शेष कर्म कर्तव्य है किंवा नहीं इस संशय के होने पर, "स्विष्टकृत" कर्म के लिये अवदान सब हवियों से करना चाहिये ऐसा पूर्वपाद में सिद्ध होने से आज्य को सब हवियों के अन्तः पातित्व होने से उपांशुयाग का शेष

त्वादाज्यस्यापि सर्वहविरन्तः पातित्वादुपांशुयागशेषाद् ध्रुवा ऽऽज्यादप्यवदेयमित्याह पूर्वपक्षम् । आज्यादिति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

कारणाच्च ॥ २ ॥

हेत्वन्तरमाह । कारणादिति । देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन् हव्यं नो वह सो ऽब्रवीद् वरं वृणै भागो मे ऽस्त्विति वृणीष्वेत्यब्रुवन् सो ऽब्रवीद् उत्तरार्धादेव मह्यं सकृद् अवद्यादिति । यद्देवतासंबन्धिहविः शेषो वृतः उपांशुयाग हविरपि वहतीति कारणात् तस्याप्यवदानम् ॥ २ ॥

ध्रुवा पात्रस्थ आज्य से भी स्विष्टकृत कर्म के अवदान = टुकडा करना चाहिये इस पूर्व पक्ष को कहते हैं । आज्यादिति । (आज्यात्) उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौवआज्य से ("ध्रुवा" नामक पात्र में स्थित का नाम "ध्रौव" तथा घृत का नाम आज्य है) (च) भी "स्विष्टकृत" आदि कर्म करने चाहिये, क्योंकि (सर्व संयोगात् (उक्त कर्मों के लिये सब हवियों के अवदान का विधान पाया जाता है ॥ १ ॥

अब उक्त अर्थ में अन्य हेतु कथन करते हैं । कारणादिति । (च) और (कारणात्) "स्विष्टकृत्" आदि कर्म सब शेष हवियों के संस्कार का कारण होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

इम सबों के हव्य को तु धारण कर ऐसा देवोंने स्विष्टकृत् को कहा, तब स्विष्टकृत् कहा ठीक है मैं स्वीकार करताहूं पर मेरा भाग होना चाहिये तब देवतों ने कहा भाग = प्रार्थनाकर तब स्विष्टकृत् ने मांगा = प्रार्थना किया उत्तरार्ध से ही मेरे लिये एक २ बार अवदान होना चाहिये, इत्यादि कारण का श्रवण पाया जाता है। यद्देवता संबंधिहविरसौ वहती तस्य तेनशेषो = भागो वृतः प्रार्थितः, उपांशुयाग देवता सम्बन्धि हविरप्य सौ वह तीतिकारणत् तस्य शेषो ऽप्यवदानं कर्तव्यम्। जिस कारण देवता सम्बन्धी हवी को वहन = धारण करने वाले स्विष्टकृत् से हवि का शेष = भागवृत प्रार्थित है, तथा उपांशुयाग देवता सम्बन्धी हवी को भी स्विष्टकृत् धारण करता है इस कारण उक्त आज्य शेष का भी अवदान करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि "स्विष्टकृत" आदि कर्म शेष हवियों के संस्कारार्थ किये जाते हैं, उपांशुयाज के अनन्तर ध्रौव आज्यरूप हवी का संस्कार भी आवश्यक है, इसलिये आग्नेय पुरोडाश आदि की भांति उक्त घृत से भी "स्विष्टकृत्" आदि कर्म कर्तव्य है ॥ २ ॥

अब उक्त अर्थ में और हेतु कहते हैं। एकस्मिन्निति। उपांशुयाज की विकृति "प्रायणीय" नामक इष्टि के (एकस्मिन्) **आदित्यचरु** रूप एक हवि में (समवत्त शब्दात्) "समवद्यति" **शब्द का प्रयोग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है यह भाव है कि एक हवि में केवल " अवद्यति " शब्द का**

एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥ ३ ॥

हेत्वन्तरमाह । एकस्मिन्निति । प्रायणीयेष्टया एकस्मिन् आदित्यचरुरूपैकहविषि समवत्तशब्दात् समवत्तशब्दश्रवणात् अयं भावः एकस्मिन् हविषि केवलमवद्यतीति प्रयोगः । अनेकेभ्योऽवदाने समवद्यतीति प्रयोगः । प्रायणीये यद्येकस्यैव हविषः अवदानं तदा प्रायणीयेष्टीसमीपे अग्नये स्विष्टकृते समवद्यतीति न स्यात् । केवलमवद्यतीत्येव स्यात् । समवद्यतीति श्रवणाद् ध्रुवाज्यस्यापि अवदानं सिध्यतीति ॥ ३ ॥

प्रयोग किया जाता है "समवद्यति" शब्द का नहीं । अनेक हविशेषों से अवदान करने में "समवद्यति" का प्रयोग किया जाता है, अवद्यति का नहीं । प्रायणीय इष्टि में यदि एक ही हवि का अवदान होता तो प्रायणीय इष्टि के समीप में "अग्नयस्विष्टकृते समवद्यति" वाक्य पढ़ा है इसमें "समवद्यति" का प्रयोग नहीं होना चाहिये । केवल अवद्यति का ही प्रयोग होना चाहिये । "समवद्यति" शब्द का श्रवण पाये जाने से अनुमान होता है कि चरु की भांति ध्रुवास्थ आज्य का भी अवदान होता है । इसलिये सिद्ध हुआ कि उपांशु याज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से भी उक्त कर्म कर्तव्य है अकर्तव्य नहीं ॥ ३ ॥

आज्ये च दर्शनात्स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥ ४ ॥

साधकान्तरमाह । आज्यइति । आज्ये ध्रुवाज्ये च स्विष्टकृदवदानं कार्यमर्थवादस्य दर्शनात् । अयं भावः । अवदायावदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति स्विष्टकृते ऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति न हि ततः परमाहुतिं यक्ष्यन् भवतीति अर्थवादेन ध्रुवायां स्विष्टकृदवदानात् प्राक् प्रत्यभिघारणानि स्विष्टकृदर्थानीति ज्ञायते । अतो ऽवदानं ध्रुवाज्यस्य ॥ ४ ॥

अब उक्त अर्थ की सिद्धि में अन्य हेतु कहते हैं । आज्य इति । (च) और (आज्ये) ध्रुवास्थ आज्य में भी (स्विष्टकृत्) स्विष्टकृत आदि कर्म के लिये हवि शेष से अवदान कर्तव्य है (अर्थवादस्य) उसका साधक अर्थवाद वाक्य (दर्शनात्) पाया जाता है । आहुति के लिये काट २ कर घृत लेते समय " जुहू पात्र से " ध्रुवा पात्र में कुछ वापिस डालता जाय परन्तु " स्विष्टकृत् " के लिये लेते समय पुनः " जुहू " से "ध्रुवा" में वापिस न डाले क्योंकि उसके पीछे कोई आहुति नहीं दी जाती, इस अर्थवाद वाक्य से जो स्विष्टकृत् अवदान से प्रथम ध्रुवापात्र में " प्रत्याभिघारण = जुहू से कुछ वापिस डालना कथन किये गये हैं वे उपांशुयाज के अनन्तर ध्रुवा पात्रस्थ शेष आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता के साधक हैं ऐसा ज्ञात

अशेषत्वात्तु नैवं स्यात् सर्वदानादशेषता ॥ ५ ॥

सिद्धान्तमाह । अशेषत्वादिति । नैवं स्याद् उपांशु यागशेषस्यावदानं न स्यात् । अशेषत्वाद् उपांशुयागशेष स्याभावात् । ननु ध्रुवायामाज्यशेषो ऽस्त्यत आह । सर्व दानाद् उपांशुयागार्थं चतुरवत्तं जुहोतीत्यनेन प्राप्त चतुर वत्तस्य सर्वस्य हवनादशेषता सिद्धा । ध्रुवायां शेषस्तु अन्ययागार्थ इति भावः ॥ ५ ॥

होता है । तात्पर्य्य यह है कि प्रधान आहुति के अनन्तर स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य होने पर प्रत्याभिघारण की आवश्यकता है, न होने पर नहीं, परन्तु प्रत्यभिघारण कथन किया है, इस-लिये सिद्ध होता है कि स्विष्टकृत् आदि कर्म के लिये ध्रुवास्थ आज्य का अवदान कर्तव्य है ॥ ४ ॥

जब सिद्धान्त को कहते हैं । अशेषत्वादिति । (नैवस्यात्) स्विष्टकृत् आदि कर्मों के लिये उपांशु याग के शेष का अवदान नहीं हो सक्ता क्योंकि (अशेषत्वात्) ध्रुवा में उपांशु याग के शेषका अभाव है । ननु, धुवामें आज्यशेष है इस पर कहते हैं । (सर्व प्रदानात) उपांशुयाग के लिये " उपांशुयाग में ध्रुवापात्र से चार अवदान घृत लेकर हवन करें " इस वाक्य से प्राप्त चतुर

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥ ६ ॥

अशेषत्वमेव पुनरुपपादयति । साधारण्यादिति । यथा ऽऽग्नेयपुरोडाशो ऽग्नेरेव नान्यस्य तथा ध्रुवायामाज्यं विष्णोरेव न स्यात्। सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवाया-माज्यमिति सर्वसाधारण्यात्। यथा यत्रैकस्यां स्थाल्यां

अवत्त सब का हवन होजाने से (अशेषता) उपांशुयाग के घृत का शेष न रहना सिद्ध है। ध्रुवा में जो शेष है वह तो और याग के लिये है यह भाव है ॥ ५ ॥

ध्रुवास्थ आज्य में अशेषत्व ही फिर उपपादन करते हैं। साधारण्यादित्यादि सूत्र से। जैसे आग्नेय पुरोडाश अग्नि देवता सम्बन्धी ही है अन्य सम्बन्धी नहीं ऐसा नियम है वैसा (ध्रुवायां) ध्रुवा में आज्य है वह विष्णु सम्बन्धी ही है (नस्यात्) अन्य सम्बन्धी नहीं ऐसा नियम नहीं होसक्ता। क्योंकि ध्रुवापात्र में जो आज्य है वह सब कर्मों के लिये है जो सब कर्मों के लिये है वह उपांशुयाग के लिये ही नहीं होसक्ता, और उसके लिये न होने से उक्त याग के अनन्तर शेष पात्रस्थ घृतको उसका शेष भी नहीं कहसक्ते अर्थात् ध्रुवापात्र में जितना घृत है वह सब का सब यदि उपांशुयाग के लिये ही होता तो उक्त पात्रस्थ घृत उसका शेष कहा जासक्ता परन्तु उक्त पात्रस्थ घृत उसके लिये ही नहीं किन्तु (सर्व साधारण्यात्) सब

बहूनामोदनः श्रुतः तत्रैकस्मिन् भुक्ते अन्येष्वभुक्तेषु स्थालीस्थशेषं न स्वदासाय दातुमर्हति तथेति भावः ॥ ६ ॥

अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥ ७ ॥

ननु जुह्वामस्तु शेषः तत्राह । अवत्तत्वादिति । देवतो

कर्मों के लिये है। जैसे जहां एक बटलोही में बहुतों का ओदन "श्रृत" पकाया गया है वहां एक के भोजन होने पर अन्योंका भोजन न होने पर बटलोहीस्थ शेषको अपने अनुचर के लिये देने को योग्य नहीं होसक्ता वैसेही ध्रुवा में बहुत देवतों का आज्य है उस में से एक विष्णु के उद्देश से त्याग होने पर अन्य देवतों के उद्देश से याग न होने पर ध्रुवास्थ शेष विष्णु अपने दास=स्विष्टकृत् के लिये देने को योग्य नहीं हो सक्ता यह भाव है ॥ ६ ॥

ननु, उपांशुयाग के लिये जो ध्रुवापात्र से जुहू में आज्य लिया गया है उसके शेष से उक्त कर्म क्यों न किये जायं इस शंका के होने पर उत्तर को कहते हैं। अवतत्वादिति। देवता के उद्देश से (जुह्वां) जुहू में जितना घृत हैं (अवत्तत्वात्) वह सब हवन के लिये अवदान किया गया है (च) और (तस्य) उस सब का चार अवदान करके हवन करें, इस विधि वाक्य के अनुसार प्रधान हवन के साथ सम्बन्ध है इसलिये जुहू में भी शेष

देशेन जुह्वामवत्तत्वात् तस्य सर्वस्य चतुरवत्तं जुहोतीति होमसंयोगात् तत्रापि न शेषसंभवः ॥ ७ ॥

चमसवदिति चेत् ॥ ८ ॥

ननु ऐन्द्रवायवं गृह्णातीत्यादिविधिनाचमसादौ एक देवतोद्देशेन ग्रहणे ऽपि चमसस्थद्रव्येण अनुवषट्कारे अग्नये हूयते तद्वद्विष्ण्वाद्यर्थमवत्तेन जुहूस्थेन स्विष्टकृद्धोमो ऽस्त्विति शङ्कते । चमसवदिति ॥ ८ ॥

न चोदनाविरोधाद्धविष्प्रकल्पनत्वाच्च ॥ ९ ॥

चमसदृष्टान्तं परिहरति । नेति । चमसे चोदनाविरो

संम्भव नहीं । इसलिये सिद्धहुआ कि उपांशुयाग के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से उक्त कर्म कर्तव्य नहीं ॥ ७ ॥

ननु, जैसे " ऐन्द्रवायवं गृह्णाति " इत्यादि विधिवाक्यों के अनुसार चमसादिओं में एक देवता के उद्देश से सोमका ग्रहण करने पर भी अनुवषट्कार करने पर अनुवषट्कार के देवता अग्नि के लिये हवन किया जाता है वैसे ही उपांशुयाग देवता विष्णु के उद्देश से अवदान किया गया जुहुस्थ आज्य से स्विष्टकृत् होम होना चाहिये ऐसी शंका करते हैं । चमसवदिति ॥ ८ ॥

अब चमस दृष्टान्त का परिहार करते हैं अर्थात् चमस

धात् सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्करोतीतिचोदनाविरोधादन्यो द्देशेनावत्तद्रव्येणान्यस्मै होमः। उपांशुयागे तथा न वचनम्। अपि च ऐन्द्रवायवं गृह्णातीति, आग्नेयः पुरोडाश इतिवत्केवल हविष्प्रकल्पनमात्रपरः। न ह्यखिलद्रव्यं होमसंयुक्तम्। अल्पं जुहोतीति वचनेन शेषसद्भावात्। ऊपांशुयाजे च चतुरवत्तं जुहोतीति होम संयुक्तमतोऽपि वैषम्यम् ॥ ९ ॥

दृष्टान्त नहीं होसक्ता ऐसा कहते हैं। नेति (न) उक्त चमस दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि (चोदनाविरोधात्) "सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति" ऐ० ब्रा० ३।५ इस विधिवाक्य के साथ विरोध आता है इसलिये अन्यइन्द्रवायु के उद्देशसे ऐन्द्र वायव चमस में ग्रहणकिये अवत्तद्रव्य सोमशेष से अन्य=अग्नि के उद्देश से होम होता है। उपांशुयाग में वैसा वचन नहीं है इसलिये दृष्टान्त दार्ष्टान्तिका वैषम्य है। किंच "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" वाक्य से, आग्नेय पुरोडाश के भांति केवल हवि की कल्पना पाई जाती है। सब सोम द्रव्य का हवन के साथ संयोग नहीं पाया जाता। क्योंकि "ऐन्द्रवायवयाग में "अल्पंजुहोति" इस वचनसे शेषका सद्भाव रहना आवश्यक है। और उपांशुयागमें "चतुरवत्तं जुहोति" वाक्य से स्पष्ट पाया जाता है कि जितना घृत जुहूपात्र में ध्रुवा पात्र से लिया गया है वह सबका सब होतव्य है इसलिये भी दृष्टान्त दार्ष्टान्त का वैषम्य है, और वैषम्य होने से सिद्ध होता

उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ॥ १० ॥

ननु सर्वेषां हविषां स्विष्टकृदवद्यतीति सर्वपदस्य का गतिरत्राह । उत्पन्नेति । उत्पन्नं शेषमधिकृत्य पाठात् सति शेषवति सर्वत्र वचनम् । सशेषेभ्यः सर्वेभ्यो हविर्भ्य इत्यर्थः॥१०॥

है कि चमसस्थसोम की भांति जुहूस्थ घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं ॥ ९ ॥

ननु, "सब हवियों के स्विष्टकृत् कर्म के लिए अवदान करें" वाक्य में सब हवियों से अवदान कथन किया है उसका समाधान क्या है इस पर कहते हैं। उत्पन्नेति । (उत्पन्न) शेषको (अधिकारात्) अधिकार करके उक्त वाक्य का पाठ होने के कारण (सति) सशेष हवियों के रहने पर (सर्व वचनम्) सर्वेभ्यो हविर्भ्य वाक्य की प्रवृत्ति जाननी चाहिये। सशेष सब हवियों से अवदान करें, यह अर्थ है। अर्थात् सर्वेभ्य हविर्भ्यः इस वाक्य की प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं होती किन्तु जहां जिसके उद्देश से जितनी हवि होतव्य है उसमें से उसके उद्देश से हवन करने के अनन्तर जो हवि शेष बच जाती है वहां उसकी प्रवृत्ति होती है जैसा कि अग्नि देवता के उद्देशसे पुरोडाश होतव्य है उसमें से उसके उद्देश से हवन करने के अनन्तर जो पुरोडाश शेष बच जाता है उसमें उक्त वाक्य की प्रवृत्ति होती है ऐसे ही अन्यत्र भी जहां २ हवि शेष बच जाय वहां भी उसकी प्रवृत्ति जाननी चाहिये, परन्तु

जातिविशेषात्परम् ॥ ११ ॥

अथ प्रायणीये चरौ समवत्तशब्दप्रयोगो हेतुरुक्तः तदुपपत्तिं दर्शयति । परमिति । परमुक्तालिङ्गम् । आज्यशेषाच्छेषकार्येऽसिद्धे जातिविशेषाद् ओदनजातिमाज्यजातिं

उपांशुयाग के लिये जो ध्रुवा पात्र से घृत लिया जाता है वह केवल चार अवदान परिमाण है अधिक नहीं, और बाकी जो उक्त पात्र में घृत है वह कार्यान्तर के लिये है, उपांशु याग में उसकी होतव्यता का सङ्कल्प नहीं हुआ और होतव्यता के सकल्प बिना उक्त पात्रस्थ घृत उपांशु याग का नहीं कहा जा सक्ता और जो चार अवदान परिमाण उपांशु याग का घृत है उसका हवन हो जाने से शेष कुछ बचता नहीं। और उसके न बचने से उक्त वाक्य की प्रवृत्ति होना असंभव है ॥ १० ॥

अब प्रायणीय चरु में "समवद्यति" शब्द का प्रयोग ध्रुवाज्य के अवदान में भी हेतु कहा गया है उसकी उपपत्ति देखाते हैं। परमिति। (परं) उक्तलिङ्ग। ध्रुवा आज्य शेष से "स्विष्टकृत्" आदि शेष कार्य के असिद्ध होनेपर [जाति विशेषात्] ओदनत्व तथा आज्यत्व जातिविशेषके अपेक्ष्य=अभिप्रायसे प्रकृतिस्थशब्देन= प्रकृति यागमें समवद्यनिशब्द है उससे ही यहां भी अनुवाद किया-गया है। प्रकृति यागमें प्रयुक्त शब्दहीं अत्र विकृतिमें प्रयुक्त हुआ है यह भाव है। अर्थात् प्रायणी इष्टि दर्शपूर्णमास याग की विकृति

च अपेक्ष्य प्रकृतिस्थशब्देन अनुवादः । प्रकृतौ प्रयुक्तशब्द एवात्र प्रयुक्त इति भावः ॥ ११ ॥

अन्त्यमरेकार्थे ॥ १२ ॥

अन्त्यं हेतुं निरस्यति । अन्त्यमिति । अन्त्यमुक्तार्थवादरूपं लिङ्गमरेकार्थे ध्रुवायाः अरिक्तत्वार्थम् ।

तथा दर्शपूर्ण मासयाग उस की प्रकृति है । और प्रकृति में जो कार्य होता है उसका प्रकृतिवद विकृतिः कर्तव्या के अनुसार विकृतिमें अतिदेश होता हैं उक्त प्रकृति यागमें अनेक हवियें प्रधान आहुति के अनन्तर स्विष्टकृत् आदि कर्मों से संस्करणीय हैं उनके लिये समवद्यति क्रिया का प्रयोग होना आवश्यक है । और प्रकृति प्रयुक्त क्रियाका विकृति में अतिदेशके अभिप्राय से प्रयोग किया गया है वह ध्रौव आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता में लिङ्ग नहीं होसक्ता । इसलिये उक्त लिङ्ग के आधार पर उपांशु यागके अनन्तर शेष ध्रौव आज्यसे उक्त कर्मों की कर्तव्यता मानना समीचीन नहीं ॥ ११ ॥

अब अन्त्य हेतु अर्थात् चौथे सूत्र में कथन किये हेतु का खण्डन करते हैं । अन्त्यमिति । (अन्त्यं) उक्त अर्थवाद रूपलिङ्ग [रेकार्थे] ध्रुवा के अरिक्तत्व के लिये है अर्थात् ध्रौव आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता का साधक जो प्रत्यर्थधारण

अयं भावः स्विष्टकृदुपस्तरणाभिघारणपर्यन्तं ध्रुवाज्यस्य कार्यमस्ति। यदि ध्रुवायाः प्रत्यभिघारणं न कुर्यात्तर्हि ध्रुवा आज्यहीना स्याद् उत्तरकार्यं न भवेत्। स्विष्टकृदवदानोत्तरमंग्र कार्यं नास्त्यतो न पूरणमित्यर्थवादतात्पर्यमिति॥१२॥

साकंप्रस्थायीये स्विष्टकृदननुष्ठानम्। अधि० २॥

साकंप्रस्थायीये स्विष्टकृदिडं च तद्वत्॥ १३॥

कथन किया है वह ध्रुवा पात्र के खाली न होने के अभिप्राय से है। यह भाव है कि स्विष्टकृत्, उपस्तरण, तथा अभिघारण पर्यन्त ध्रुवा आज्य का कार्य है। यदि ध्रुवा पात्र से घृत लेकर पुनः प्रत्याभिघारण न किया जाय तो वह ध्रुवा पात्र आज्य से रहित = खाली हो जायगा और उसके खाली हो जाने से जो उत्तर शेष कर्म कर्तव्य है वे न हो सकेंगे और उनका होना आवश्यक है इसी अभिप्राय से "अवदायावदाय" इत्यादि से प्रत्यभिघारणविधान किया है उपांशुयाग के अनन्तर ध्रौव आज्यसे स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता के अभिप्राय से नहीं। स्विष्टकृत् के बाद आगे कार्य नहीं होता इसलिये पूर्ण कर्तव्य नहीं यह अर्थ वादका तात्पर्य है। सम्पूर्ण अधिकरण का सार यह निकलाकि उपांशुयाग के अनन्तर शेष ध्रौवा आज्य से स्विष्टकृत आदि कर्मकर्तव्य नहीं॥ १२॥

साकं प्रस्थायीयेनयजेत पशुकामः इति विहिते कर्मणिश्रूयते सहकुम्भीभिरभिक्रामन्नाह इति। तत्रशेष कार्याणि कर्यव्यान्युतनेति।

साकंप्रस्थायीययागे स्विष्टकृदिडाद्यवदानं तद्वत् ।

तदर्थं चक्रि कुम्भीषु शेषो विद्यते उतनेति संशये । तत्रचतसृभिर्दधि पयः कुम्भीभिः सह्वा ऽऽ हवनीयोद्देशे ऽ भिक्रमण मात्र श्रुतम् । ननु तत्र कुम्भीभि होमः श्रुतः । तथासत्यस्य कर्मणाः सान्ना य्यविकृतित्वा ज्जुह्वा कुम्भीभ्या ऽ वदाय होतव्यम् । हुतशेषेण च स्वि ष्टकृदादिकं मान्नाय्य शेषेणं व कर्तव्य मिति पूर्व पक्षे, साकम्प्रस्थायी ययागे स्विष्टकृदिड द्यव दानं तद्वत् । उपांशुयागवच्छेषाभावाद् लुप्यते इति सिद्धान्त सूत्रम् । अव " साकं प्रस्थायीय " नामक याग में स्विष्टकृत् आदि कर्मो की अकर्तव्यता कथन करते हैं द्वितीय अधिकरण से । पशु की कामना वाला पुरुष " साकम्प्रस्थायीय " नामक याग करे, इस वाक्य से विहितकर्म में " सहकुम्भीभिरभि-क्रामन्नाह " यह वाक्य पठित है । " तत्र " वाक्य में चार दधि-पय कुम्भीयों के साथ आहवनीय अग्नि के देश में गमन मात्र का श्रवण है । परन्तु उक्त वाक्य में कुम्भीयों से होम करना श्रुत नहीं है । " तथासति=अभिक्रमण मात्र के श्रवण होने पर इस कर्म को सान्नाय्य याग की विकृति होने से कुम्भीयों से अवदान करके जुहू से होम कर्तव्य है । और हुत शेष से स्विष्टकृदादिक कर्म सान्नाय्य शेष की भांति कर्तव्य है इस पूर्व पक्ष के होने पर । (साकंप्रस्थायीये) साकम्प्रस्थायीय नामक याग में भी (स्विष्टकृदिड) स्विष्टकृत् तथा इडावदान कर्म (तद्वत्) उपांशुयाग के समान

उपांशुयागवच्छेषाभावाद् लुप्यते इति सिद्धान्त सूत्रम् ॥१३॥

नहीं होता, अर्थात् उपांशु याग की भांति शेष हवि का अभाव होने से लोप होता है यह सिद्धान्त का प्रति पादक सूत्र है।

अयं भावः। नात्र कुम्भीषु हुत शेषः सिद्ध्यति, सान्नाय्यवज्जुह्वा तदवदाना भावात्। "अग्निधे स्रुचौ प्रदाय हस कुम्भीभिरभि क्रामं जुहोति"= अध्वर्युः (अग्नीधे) अग्नीध्रसंज्ञक ऋत्विज (स्रुचौ) स्वहस्त स्थिते जुहूपभृतौदत्वाऽऽहवनीयमभिक्रामं चतसृभिकुम्भीभिः जुहोति आप० श्रौ० ३।१६।१७ इत्युक्त्या जुहूपभृतोः प्रदत्तत्वाद भिक्रमणस्य होमार्थत्वाच्च कुम्भीभिरेवदधिपयसोर्होमे सति कुम्भीमात्र-मवशिष्यते। नतु हविश्शेषः। तत्र कुतः शेषकार्यम्॥ १३॥

यह भाव है कि यहां कुम्भीयों में हुत शेष सिद्ध नहीं हो सक्ता, क्योंकि सान्नाय्य के समान उसके अवदान का अभाव है। अध्वर्यु अग्नीध्र संज्ञक ऋत्विज के लिये अपने हाथ में स्थित 'जुहू" तथा उपभृत नामके दोनों स्रुवा को देकर आहवनीय अग्नि के चारों ओर घूमता हुआ उक्त चारों घडियों से हवन करे, इस वाक्य से जुहू और उपभृत दोनों का देना पाये जाने से और अभिक्रमण को होमार्थ होने से घडियों से ही दधि तथा पय का होम होने पर कुम्भीमात्र अवशिष्ट रहता है। हविशेषतो नहीं रहता। तहां शेषकार्य कैसे हो सक्ता है। सार यह निकला कि जैसे स्रुवा से हवन करने पर केवल स्रुवा ही शेष रह जाता है हवि नहीं, क्योंकि उसका आहवनीय अग्नि में

सौत्रामण्यां शेषाननुष्ठानम् । अधि० ३ ।

सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ॥ १४ ॥

प्रक्षेप किया गया है वैसे ही स्रुवा स्थानापन्न घड़ियों से हवन होने पर भी घड़ियें ही शेष रह जाती हैं दधि तथा दूध रूप हवि नहीं, क्योंकि उसका अग्नि में प्रक्षेप हो जाता है। और स्विष्टकृत् आदि कर्म शेष हवि के संस्कारार्थ ही किये जाते हैं पात्रों के संस्कारार्थ नहीं और नाहीं शिष्ट पात्रों से उक्त कर्म हो सक्ते हैं। इसलिये सिद्ध हुआ कि "उपांशुयाग की भांति" साकं प्रस्थायीय नामक याग में भी उक्त कर्म कर्तव्य नहीं ॥ १३ ॥

अब "सौत्रामणी" नामक याग में उक्त शेष की अकर्तव्यता कथन करते हैं तृतीय अधिकरण से। सौत्रामणी नामक याग में उत्तर अग्नि में पयो ग्रहों का तथा दक्षिणाग्नि में सोम ग्रहों का हवन करें, ऐसा कथन किया है। दर्श पूर्ण मास तथा सोम याग की विकृति "सौत्रामणी" नामक याग में क्या स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य हैं किंवा नहीं इस संशय के होने पर। यदि स्विष्टकृदादि कर्म न किये जांय तो प्रकृति व द्विकृतिः कर्तव्या इस चोदक वाक्य के साथ विरोध आता है अतः अविरोध के लिये कर्तव्य हैं इस पूर्व पक्ष के होने पर। उक्त याग में सब पय तथा सोम का होम के साथ सम्बन्ध होने से स्विष्टकृत् तथा इडा अवदान रूप कर्म नहीं हो सक्ते इस सिद्धान्त को कहते हैं। सौत्रामण्या-

सौत्रामण्याश्रूयतेमुत्तरेऽग्नौ पयोग्रहाञ्जुहोति दाक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहानिति। दर्शपूर्णमासयोः सोमयागस्य च विकृतो

मिति। (च) और (सौत्रामण्यां) सौत्रामणी नामक याग में (ग्रहेषु) ग्रहों से ही हवन विधान करने के कारण उक्त कर्मों की अकर्तव्यता सिद्ध है। अर्थात् जैसे साकं प्रस्थायीय नामक याग, में स्रुवों को छोडकर कुम्भियों से हवन करना विधान किया है वैसे ही सौत्रामणी याग में भी उत्तरेऽग्नौपयोग्रहान् जुह्वति दक्षिणेऽग्नौ सोमग्रहान् इत्यादि वाक्यों से स्रुवों को छोडकर केवल ग्रहों द्वारा हवन करना विधान किया है और उनके द्वारा हवन विधान करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साकंप्रस्थायी' की भांति सौत्रामणी में भी केवल ग्रह ही शेष रह जाते हैं पय तथा सोम नहीं। दूध का नाम "पय" पात्र का नाम "ग्रह" तथा दूध भरे पात्रों का नाम "पयोग्रह" और सोम भरे पात्रोंका नाम सोम ग्रह है। इस प्रकार पात्रों के शेष रहने पर भी पय तथा सोमके शेष न रहने से स्विष्टकृत् आदि कर्मों का होना असम्भव है। तात्पर्य्य यह की सौत्रामणी याग में दो प्रकार के ग्रह होते हैं। एक पयोग्रह " दुसरे सोमग्रह " इन दोनों प्रकार के ग्रहो का उक्त यागमें इन्द्र देवता के उद्देशसे हवन किया जाता है। परन्तु हवन उक्त ग्रहों से ही होता है स्रुवोंसे नहीं। यदि स्रुवोंसे होता तो पय तथा सोम रुप हवि के शेष का रहना हो सक्ता परन्तु ग्रहो से ही होने के कारण

निते सिद्धान्तमाह । सौत्रामण्यामिति । स्पष्टम् ॥ १४ ॥

तद्वच्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥

उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोतीति निषेधपूर्वकशेषवचनम् तद्वत् कुम्भीवत् सर्वहोमं गमयति । सर्वहोमप्राप्तावेव शेष-

---

उक्त हवि का शेन नहीं रह सक्ता। और शेष के न रहने से स्विष्टकृत आदि कर्म भी नहीं हो सक्ते। क्योंकि वह शेष हवि के संस्कारार्थ ही किये जाते हैं अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं। और असम्भव होने के कारण केवल ग्रहों का संस्कार अनपेक्षित हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उक्त याग में स्विष्टकृत आदि कर्म कर्तव्य नहीं॥ १४ ॥

अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं। तदिति। "कुछ शेष रखें सब का हवन न करें" ग्रहों द्वारा होम के विधायक "उत्तरेऽग्नौ" इत्यादि वाक्यों के इस शेष वाक्य में निषेध पूर्वक जो (शेष वचनम्) शेष का विधान किया गया है वह (तद्वत्) कुम्भी की भांति उक्त याग में सब हवि का होम ज्ञापन करता हैं। क्योंकि सब हवियों के हवन प्राप्त होने ही पर शेष का विधान सार्थक होता है। उक्त याग में पय तथा सोम दोनों प्रकार की हवियों में से कुछ शेष रखना विधान किया है वह भी स्विष्टकृत आदि के लिये नहीं किन्तु कार्यान्तर के

वचनस्यसार्थक्यात् । शेषवचनमपि न स्विष्टकृदाद्यर्थं, ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारमिति कार्यान्तर श्रवणादिति भावः ॥ १५ ॥

लिये है जैसा कि कहा है कि -

" ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम् " इति श्रूयते । " यदि ब्राह्मणं न विन्देत " " वल्मीकवपायामवनयेत् " इतिच । शतातृण्यामवनयेत् "इति च" । = हुतहविश्शेष भक्षणस्याऽऽवश्य-कत्वात् तत्स्वयमकृत्वातत्करणार्थं ब्राह्मणं कञ्चन द्रव्यदानेनाऽऽनमयेत् सएवसुराया हुतायाश्शेषं पिबेत् । यदितादृशो ब्राह्मणो नोपलभ्येत तर्हिवल्मीकच्छिद्रे समवनयेत् । शतातृण्णा शतच्छिद्रा कुम्भी । तां दक्षिणाग्नेरुपरिधारयन् तत्रहुत शेषां सुरांनिक्षिपेत यथासा दक्षिणा-ग्नौनिपतेत् ।

हुत हवि शेष का भक्षण आवश्यक है उसको स्वयं नकरके उक्त भक्षण के लिये किसी ब्राह्मण को द्रव्य देकर पिलावे । वही हुतसुरा के शेष को पान करे । यदि तादृश ब्राह्मण नमिले तो वामीके किसी बिलमें डाल दे । शतातृण्णा नाम सौछिद्रों वाली हांडी का है । उक्त हांडी का दक्षिणाग्निके उपर रखकर उसमें हुत शेष सुराको डाल दे जिस प्रकार उक्त सुरा दक्षिणाग्निमें गिरे इस प्रकार उक्त शेष हवि का कार्यान्तर में उपयोग कथन करनेसे सिद्ध होता है कि उक्त यागमें स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं ॥ १५ ॥

सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदादीनां सकृदनुष्ठानम् । अधि० ४ ।

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियरन् ॥ १६ ॥

इन्द्राय राथन्तरायेन्द्राय वैरूपोयत्यादिषड्देवताका सर्वपृष्ठेष्टिराम्नाता । तस्या निर्वापकाले षण्णां पृथग निर्वापं कृत्वा श्रपणं कृत्वा द्वादशकपालमेकपुरोडाशं कृत्वा होमसमये समं तं पृथक् पृथग् अवदाय प्रधानयागाः षट्

अब "सर्वपृष्ठ" नामक इष्टि में स्विष्टकृत् आदि कर्मों का सकृत्=एकबार अनुष्ठान कथन करते हैं चतुर्थ अधिकरण से । द्रव्ये "यइन्द्रियकामो वीर्य कामः स्यात्, तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत्" तै. सं० २।३।७।१=जिसको इन्द्रिय बल तथा शारीरिक बल की कामना हो वह सर्वपृष्ठा नामक इष्टि करे; ऐसा विधान करके इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्कराय, इन्द्राय रैवताय" इत्यादि वाक्यों से छे देवता वाली सर्वपृष्ठ इष्टि कथन की गई है। निर्वापकाल में=विभाग समय में उक्त इष्टि के छे आहुतियों के लिये चार २ मुष्टि आटे का पृथक् २ निर्वाप=विभाग करके और पृथक् २ श्रपण न करके "द्वादश कपालः पुरोडाशो भवति" तै० सं० २।६।७।३ इस वचन के अनुसार द्वादश कपालों में सबों का एक पुरोडाश पका करके होम के समय में "समन्तपर्यवद्यति" तै० सं० २।३।७।४

क्रियन्ते । ततः स्विष्टकृदवदानं षड्वारमुत सकृदिति संशये देशभेदात् षड्वारमिति पूर्वपक्षमाह । द्रव्येति । द्रव्यस्य पुरोडाशस्य एकत्वेऽपि कर्मभेदात् प्रधानयागभेदात् प्रतिकर्म प्रतिप्रधानकर्म स्विष्टकृदवदानं क्रियरन् ॥ १६ ॥

अविभागात्तु शेषस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ १७ ॥

सिद्धान्तमाह । अवीति । अविभागाच्च शेषस्य पुरोडाश

इस वचन के अनुसार उक्त पुरोडाश को बराबर पृथक २ टुकडे करके प्रधान याग छ किये जाते हैं । उक्त याग के अनन्तर स्विष्टकृत आदि कर्म के लिये अवशिष्ट पुरोडाशों से छ बार अवदान कर्तव्य है किंवा एक बार अर्थात् प्रधान आहुतिरूप छ प्रधान कर्म हैं उनके मध्य प्रत्येक कर्म में अविशिष्ट पुरोडाश से छ बार उक्त कर्म करने चाहिये अथवा उक्त छ आहुतियों को एक कर्म मान कर अवशिष्टयावत पुरोडाश से एक ही बार उक्त कर्म करने चाहिये इस संशय के होने पर देश के भेद होनेसे छ बार उक्त कर्म करने चाहिये इस पूर्वपक्ष को कहते हैं । द्रव्येति । (द्रव्यैकत्वे) पुरोडाश रूप द्रव्य के एक होने पर भी (कर्मभेदात्) प्रधान याग का भेद होनेसे (प्रतिकर्म) प्रति प्रधान कर्म (क्रियरन्) स्विष्टकृत कर्म के लिये अवदान करना चाहिये ॥ १६ ॥

अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं । अवीति ।

स्यैक्यात् । सर्वान् प्रति सर्वप्रधानानि प्रति अविशिष्टत्वाद् एकत्वात् । अयं भावः प्रकृतौ हविषः उत्तरर्धः स्विष्टकृदवदानदेशः क्लृप्तः इहापि हविष ऐक्याद् अवदानं सकृदिति ॥ १७ ॥

ऐन्द्रवायवग्रहे द्विः शेषभक्षणम् ॥ अधि० ५ ॥

ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ॥ १८ ॥

(शेषस्य) हविस्त्याग के अनन्तर जो शेषभाग बचगया है उसका (अविभागात्) परस्पर कुछ भेद नहीं । क्योंकि (सर्वान्, प्रति) उक्त सब प्रधान कर्मों में (अविशिष्टत्वात्) पुरोडाशरूप हवि एक है । इहापि षट्प्रधानेषु कृतेष्वविशिष्टस्यकृतकरस्य हविषऐक्यात्तदुत्तरार्धमप्येकं सर्वसाधारणं चेत्यगृह्यमाण विशेषत्वादवदानसकृदिति । यह भाव है कि प्रकृतिमें हविका उत्तरार्ध स्विष्टकृदवदान का देश निश्चित है विकृति में भी छ प्रधान अवदान के करने पर अविशिष्ट कृतकर हवि को एक होने से उत्तरार्धभी एक है और सब का साधारण है भेद का ज्ञान न होने से अवदान एक बार कर्तव्य है ॥ १७ ॥

ऐन्द्रवायव ग्रह में आहुति देने के अनन्तर बचे सोमका दो बार भक्षण कथन करते हैं पञ्चम अधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग में " ऐन्द्रवायव नामका एक सोमपात्र है । पात्र

ज्योतिष्टोमे ऐन्द्रवायवग्रहहोमोत्तरं सोमरसस्य एकत्वात् सकृदेव भक्षणमिति वहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। ऐन्द्रेति। ऐन्द्रवायवे प्रतिकर्म प्रतिवषट्कारं भक्षः वचनाद् द्विः ऐन्द्रवायवं भक्षयतीति वचनात् ॥ १८ ॥

तथा ग्रह दोनों पर्य्याय शब्द हैं। उसमें से इन्द्र तथा वायुरूप देवता के लिये दो बार आहूति दी जाती हैं। आहूति देने के अनन्तर जो उक्त पात्रस्थ शेष सोमरस है उसका भक्षण एक बार होना चाहिये किंवा दो बार अर्थात् दोनों आहूतियों के अनन्तर सकृत भक्षण कर्तव्य है किंवा असकृत इस संशयके होने पर ऐन्द्रवायवग्रह में से होम के अनन्तर शेष बचा सोमरस एक है और एक होनेके कारण उसका पूर्वाधिकरणानूसार एकही बार भक्षण होना चाहिये ऐसा बाहरसे पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्तको कहते हैं। ऐन्द्रेति। (ऐन्द्रवायवे) ऐन्द्रवायव नामक ग्रहमें (प्रतिकर्म) प्रतिवषट्कार (भक्षः) भक्षण (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (वचनात्) द्विरैन्द्रवायवं भक्षयति वाक्यविशेषसे ऐसाही पाया जाता है। यह भाव है कि उक्त वाक्यविशेषसे उसका दो बार भक्षणसिद्ध है। और आहुति का भेद होने से भक्षण का भेद होना भी उचित है। और वाक्यसिद्ध का बिना किसी प्रबल प्रमाण के बाध नहीं होसक्ता। अतः उक्त वाक्य विशेषके बलसे

सोमे शेषभक्षास्तित्वम् । अधि० ६ ।

सोमे अवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥

पुरोडाशवत् सोमद्रव्यस्य भक्षणमस्ति न वेति संशये पूर्वपक्षमाह । सोमइति । सोमे भक्षो न विद्यते अवचनात् ॥ १९ ॥

स्याद्वा ऽन्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥

ऐन्द्रवायव नामक ग्रहमें सकृत भक्षण कर्तव्य नहीं किन्तु असकृत् कर्तव्य है ॥ १८ ॥

अब सोमयाग में शेषसोम का भक्षण होता है ऐसा कथन करते हैं षष्ठम अधिकरण मे । पुरोडाश की भांति सम्पूर्ण शेषसोम द्रव्यका भक्षण होता है किंवा नहीं इस संशयके होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । सोम इति । (सोम) ज्योतिष्टोमयाग मे (भक्षः) शेषसोमका भक्षण (न, विद्यते) नहीं होता, क्योंकि (अवचनात्) जिस हविशेषके भक्षण का विधायकवाक्य पाया जाता है उसका भक्षण हासक्ता है दूसरे का नहीं, उक्त यागमे जो सोम है उसके शेषके भक्षण का विधायक कोई वाक्य नहीं मिलता अतः उक्तयाग मे होतव्य सोमोका शेषभक्ष्य नहीं किन्तु अभक्ष्य हैं ॥ १९ ॥

सिद्धान्तमाह । स्याद्वेति । भक्षणं स्याद् अन्यार्थस्य भक्षणार्थस्य भक्षाङ्गस्येति यावत् । दर्शनात् । विधानात् । अयं भावः आश्विनग्रहभक्षमनूद्य सर्वतः परिहारमाश्विनमिति भ्रमणं विधियते । यदि भक्षणं न स्यात् तर्हि भ्रमणविधानमनर्थकं स्यात् ॥ २० ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । स्याद्वेति । उक्त सोमों के शेष का भक्षण [स्यात्] होना चाहिये, क्योंकि [अन्यार्थस्य] भक्षण सम्बन्धी अर्थ अर्थात् भक्षाङ्ग का [दर्शनात्] विधान पाया जाता है । यह भाव है कि आश्विन ग्रह भक्षण का अनुवाद करके "सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति, भक्षिताप्यायितांश्चमसान् दक्षिणस्यानसोऽवलम्बेसादयति" = चारों ओर भ्रमण करके "आश्विन" सोम का भक्षण तथा भक्षण से तृप्त होकर महा वेदि के मध्यवर्ती पृष्ठ्या नामक रेखा की दक्षिण दिशा में स्थित शकट पर " चमसा " को स्थापन करे, इत्यादि वाक्यों में जो सोम भक्षण के अङ्ग भ्रमण तथा भक्षण के अनन्तर चमस पात्रों को शकट पर रखना विधान किया है वह उक्त याग सम्बन्धी सब सोमों के भक्षण में लिङ्ग हैं । यदि ज्योतिष्टोम याग में सब शेष सोमों का भक्षण न होतो भ्रमण आदि के विधान पूर्वक पात्र विशेष के भक्षण का विधान अनर्थक होजायगा अतः ज्योतिष्टोम याग मे सब शेष सोम भक्ष्य हैं अभक्ष्य नहीं ॥ २० ॥

वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद्यथोपदेशं स्युः ॥ २१ ॥

ननु गुणविधानानुमेयो विधिर्न प्रत्यक्षो भक्षणविधिरित्यत्राह । वचनानीति । पुरस्तादैन्द्रवायवं भक्षयति पुरस्तान्मैत्रावरुणं सर्वतः परिहारमाश्विनमिति वचनानि तत्तद्गुणविशिष्टभक्षविधायकानि । अपूर्वत्वाद् भक्षणस्य त्वपूर्वत्वात् । अप्राप्तत्वात् । तस्माद्यतो विशिष्टभक्षणं विहितमतः यथोपदेशं यथा विहितं भक्षणं तथा विधेयम् ॥ २१ ॥

चमसिनां शेषभक्षणम् । अधि० ७ ।

चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २२ ॥

ननु, "सर्वत परिहारं" आदिवाक्यों में "भ्रमण" आदि रूपगुण के विधान से अनुमेय विधि है प्रत्यक्ष भक्षण का विधान नहीं इस शंका के होने पर कहते है । वचनानीति । (वचनानि) पुरस्तादैन्द्र वायवं भक्षयति आदि वाक्य भ्रमणादि गुण विशिष्ट भक्षणके विधायक होसक्ते हैं । क्योंकि (अपूर्वत्वात्) भक्षण अपूर्व अर्थ है । किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं । (तस्मात्) जिस कारण भ्रमणादिगुण विशिष्ट भक्षण का विधान है इसलिये (यथोपदेशं) जिस क्रमसे भक्षण विहित है उसी क्रम अर्थात् उक्त वाक्यों के अनुसार (स्युः) सम्पूर्ण शेष सोमोंका होना चाहिये ॥ २१ ॥

ज्योतिष्टोमे होतृचमसादिसंज्ञका दश चमसाः सन्ति। तेषु चमसिनां भक्षणं नास्ति प्रमाणाभावादिति बहिः पूर्व-पक्षे सिद्धान्तमाह । चमसेष्विति। चमसेषु भक्षणमस्ति होतृचमस इति समाख्यानात् संज्ञावत्त्वात्। संयोगस्य होतृ चमस इतिसंज्ञासम्बन्धस्य निमित्तत्वात्। चमसभक्षणनिमि-त्तत्वात्। होत्रा अनेन पात्रेण चम्यते भक्ष्यतइति होतृचमस

अब "चमस" नामक सोमपात्रों में होता आदि ऋत्विजों को शेष सोमका भक्षण कथन करते हैं सप्तम अधिकरण से। ज्योतिष्टोम यागमें "होतृचमस" आदि नामक दश सोमपात्र हैं! इनपात्रों में होता आदि चमसी कर्तृक शेष सोमका भक्षण होता है किंवा नहीं इस संशय के होनेपर उक्तपात्रों में उक्त चमसी कर्तृक भक्षण नहीं होता क्योंकि उन पात्रोंमें शेषसोम के भक्षण का विधायक कोइ वाक्य विशेष प्रमाण नहीं पाया जाता ऐसा सूत्रसे बाहर पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्तको कहते हैं। चमसेष्विति। (चमसेषु) "चमस" नामक सोमपात्रों में (समाख्यानात्) "होतृचमसः" इत्यादि समाख्याके बलसे ऋत्विज कर्तृक शेष सोमका भक्षण सिद्ध है। क्योंकि (संयोगस्य) "होतृचमसः" इत्यादि संज्ञाके सम्बन्ध का (तन्निमित्तत्वात्) चमस भक्षण निमित्तक होना स्पष्ट है। होत्रा अनेन पात्रेण, ब्रह्मणा अनेन पात्रेण, उद्गात्रा अनेन पात्रेण चम्यते भक्ष्यतेः इति होतृचमसः,

इति योगात् । भक्षणे ऽसति उक्तयोगानुपपत्तेरिति भावः ॥ २२ ॥

तस्माच्चाब्राह्मणस्य सोमं प्रतिषेधति ॥ २३ ॥

साधकान्तरमाह तस्मादिति । तस्मात् समाख्यया भक्षणस्य सिद्धत्वादेव अब्राह्मणस्य क्षत्रियादेः सोम सोम भक्षं प्रतिषेधति निषेधति । अय भावः यजमानचमस इति समाख्यया यजमानस्य क्षत्रियादेः सोमभक्षणप्राप्तौ, यदि

ब्रह्म चमसः, उद्गातृ चमसः, एवं यजमान चमसः । होता जिसपात्र विशेषमें शेषसोम का भक्षण करे उसका होतृचमस, ब्रह्मा जिस पात्रमें भक्षण करे उसका नाम ब्रह्मचमस, उद्गाता जिसपात्र में भक्षण करे उसका नाम उद्गातृचमस, एवं यजमान चमस इत्यादि यौगिक सञ्ज्ञा उक्तपात्रों की तभी होसक्ती है जब उनमें होता आदि ऋत्विजकर्तृक शेषका भक्षण माना जाय । क्योंकि शेषसोम का भक्षण स्वीकार न करने पर उक्त पात्रों में इस प्रकार की यौगिक संज्ञाका सम्बन्ध नहीं होसक्ता यह भाव है ॥ २२ ॥

अब इसमें और साधक युक्ति कहते हैं । तस्मादिति । (तस्मात्) समाख्यासे भक्षण सिद्ध होनेसेही (अब्राह्मणस्य) क्षत्रिय आदि कर्तृक (सोमं) सोमभक्षण शास्त्र (प्रतिषेधति) निषेधकरता है । यह भाव है कि यजमान चमस इस समाख्या से

राजन्यं वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं बिभक्षयिषद् न्यग्रोधस्तिमिनीराहृत्य ताः संपिष्य दधन्युपमृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेद् न सोममिति सोमभक्षणनिषेधः संगच्छते । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वादिति ॥ २३ ॥

उद्गातॄणां सुब्रह्मण्येन सह भक्षणम् । अधि० ८ ।

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥ २४ ॥

ज्योतिष्टोमे प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणामिति

क्षत्रिय आदि यजमान कर्तृक सोम भक्षण की प्राप्ति होनेपर, यदि राजन्य किंवा वैश्यको सोमयाग करावे यदि उक्त जयमान सोम भक्षण करना चाहे तोन्यग्रोध स्तिमिनी*को लाकर और उसको पीसकर दधिमें उपमार्जन करके उक्त यजमान के लिये उस भक्षका प्रदान करे सोमको न दे इस वाक्यमें जो सोमका निषेध किया गया है वह संगत होता है। क्योंकि प्राप्ति पूर्वक निषेध होता है ॥ २३ ॥

अब "होतृचमस" आदि दश पात्रों के मध्य "उद्गातृ चमस" नामक पात्र विशेष में सुब्रह्मण्य सहित उद्गाता आदि चार ऋत्विज कतृक शेष सोम का भक्षण कथन करते हैं अष्टम अधि-

---

* स्तिमिनी नाम वटजटा का है ।

मन्त्रे उद्गातृणां चमस इति समाख्यासिद्धम् उद्गातृचमस पानमेकस्य बहूनां वेति संशये पूर्वपक्षमाह। उद्गात्रिति। उद्गातृचमसमेकः उद्गातैव भक्षयेत्। श्रुतिसंयोगात्। उद्गातृशब्दस्य उद्गातृव्यक्त्यैव शक्तिसंयोगात्। बहुवचनं तु प्रयोगभेदेन उद्गातृभेदाद् उद्गातृव्यक्तिबहुत्वपरतया नेयमिति भावः ॥ २४ ॥

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥ २५ ॥

कारण मे। ज्योतिष्टोम याग में " होता, ब्रह्मा, उद्गाता भागों को चमस प्राप्त हो " इस मन्त्र में उद्गाताओं का चमस भक्षण है इस समाख्या से " उद्गातृचमस " संज्ञक पात्र में पान = भक्षण सिद्ध है उस पात्र में केवल एक उद्गाता को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये किंवा होता आदि सब ऋत्विजों को इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं उद्गात्रिति। (उद्गातृचमसमेकः) "उद्गातृचमस" नामक पात्रस्थ शेष सोम का एक उद्गाता को ही भक्षण करना चाहिये। क्योंकि (श्रुति संयोगात्) उद्गातृ शब्द की शक्ति का उद्गातृ व्यक्ति में ही सम्बन्ध हैं। " उद्गातृणां " यह बहुवचन तो " प्रयोग " = अनुष्ठान के भेद होने के कारण उद्गाता का भेद होता हैं और उसके भेद से उद्गातृ व्यक्ति को बहुत्वपरता होने कारण नेय हैं यह भाव है ॥ २४ ॥

व्यक्तिबहुत्वमादाय बहुवचनस्य अप्रयोजकत्वाद् बहुवचन श्रुतेः उद्गातृशब्दस्य तत्प्रभृतिषु लक्षणां स्वीकृत्य सर्वेषामृत्विजां पानमिति पक्षान्तरमाह । सर्वइति । सर्वसंयोगात् । सर्वान्वययोग्यबहुवचनसम्बन्धाद्वाक्यस्य ॥ २५ ॥

स्तोत्रकारिणो वा तत्संयोगाद् बहुत्वश्रुतेः ॥ २६ ॥

उत्पूर्वकगायतिधातोः स्तोत्रसम्बन्धिगानकर्तार इति

व्यक्ति बहुत्व को लेकर " उद्गातृणां " इस बहुवचन का समर्थन किया गया है वह असङ्गत है क्योंकि उक्त व्यक्ति बहुत्व उक्त बहुवचन में प्रयोजक नहीं हो सक्ता । भाव यह है कि अनुष्ठान भेद की कल्पना कर के उक्त बहुवचन के समर्थन में क्लिष्टकल्पना करनी पडती है जिसका आश्रयण अनुचित है, परन्तु बहुवचन का श्रवण होने से उद्गातशब्द का उद्गातृ प्रभृति ऋत्विजों में लक्षणा स्वीकार करके उद्गाता आदि सब ऋत्विजों को शेष सोम का पान=भक्षण करना चाहिये इस पर द्वितीय पक्ष को कहते हैं । सर्व इति । (सर्वे) उक्त उद्गातृचमस=उद्गातृपात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोमका भक्षण करना चाहिये । क्योंकि (सर्वसंयोगात्) सब के साथ अन्वय के योग्य अर्थात् सब ऋत्विजों के वाचक जो वाक्य निष्ठबहुवचन है उसका उक्त पात्र के साथ सम्बन्ध है ॥ २५ ॥

क्रियानिमित्तं त्रिषु संभवति । त्रयश्च उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्तेति भयाणां ग्रहणं प्रातिपदिकार्थः प्रत्ययार्थश्चेति शक्त्यैव संभवतीति पक्षान्तरमाह । स्तोत्रकारिण इति । तत्संयोगाद् उक्तत्रितयसंयोगात् ॥ २६ ॥

सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥ २७ ॥

सिद्धान्तमाह । सर्वइति । सर्वे तु सुब्रह्मण्येन सह चत्वारः भक्षयेयुः । वेदसंयोगात् सामवेदप्रतिपादितकर्मणा

उद्गातृशब्द जैसे रूढ नहीं वैसे ही "लाक्षणिक" भीनहीं किंतु "उत्" उपसर्गपूर्वक "गायति" धातु से निष्पन्न होनेके कारण यौगिक है, जिसका अर्थ स्तोत्र सम्बन्धी उच्चस्वर से गान करने वाला होता हैं उद्गातृ शब्द के प्रवृत्ति में यह उद्गान क्रिया रूप निमित्त तीन ऋत्विजों में ही सम्भव है अन्य ऋत्विजों में नहीं। उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता ये तीन हैं इन तीनों के ग्रहण में प्रातिपदिक उद्गातृशब्द का अर्थ और बहुवचन आम् प्रत्यय का अर्थ शक्ति वृत्ति से ही सम्भव है इस पक्षान्तर को कहते हैं। स्तोत्र कारिण इति (स्तोत्रकारिणः) उक्त पात्र में उद्गाता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता, इन तीनों को भक्षण करना चाहिये, क्योंकि (तत्संयोगात्) उक्त तीन के सम्बन्ध से ही (बहुत्वश्रुतेः) बहुवचन का प्रयोग किया गया है ॥ २६ ॥

साकं सम्बन्धात् । अयं भावः उतपूर्वकगायतिधातोर्न स्तोत्र गाने शक्तिः किं तु साम्नो द्वितीयभक्तिगाने तत्रैवोद्गीथ शब्दव्यवहारात् । तत्कर्त्तात्वेक एव तत्र बहुत्वान्वयानुपपत्ते र्न योगो रूढिर्वा प्रकृतार्थे संभवति । अतो ऽगत्या लक्षणैव योज्या । तस्यां योज्यायां वेदोक्तकर्मकतृत्वरूपशक्यसम्बन्धस्य कर्मकतृत्वापेक्षया ऽन्तरङ्गत्वात् तेनैव संग्रद्धाश्चत्वारः पूर्वोक्ता इति । उद्गातृशब्दस्य केवलोद्गातरि प्रयोगस्तु योगेनत्याह । एकदेश केवलोद्गातरी कारणाद् उद्गीथरुपभक्ति गानकतृत्वाद् व्यवहारः स्यात् ॥ २७ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । सर्व इति । (सर्वेतु) यज्ञ में सामगान करने वाले सुब्रह्मण्य के सहित चारों ऋत्विजों को उक्त पात्र में सोम भक्षण करना चाहिये । क्योंकि (वेदसंयोगात्) उक्त चारों का सामवेद प्रति पादित कर्म के साथ सम्बन्ध है । भाव यह कि उत्पूर्वक गायति धातु का स्तोत्र गान में शक्ति नहीं किन्तु साम के द्वितीय भक्ति के गान में है क्योंकि उसमें ही उद्गीथ शब्द का व्यवहार है । उद्गीथ नामक साम भक्ति के गान कर्ता उद्गता तो एक ही है इसलिये उक्त उद्गाता में बहुत्व के अन्वय की अनुपपत्ति होने से और प्रकृत अर्थचार ऋत्विजों में योग तथा रूढि सम्भव नहीं । इसलिये गत्यंतर का अभाव होने से लक्षणा ही योजनीय होगी । और उक्त लक्षणा के योजनीय

ग्रावस्तुतो ऽपि सोमभक्षणम् । अधि० ९ ।

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यत अनाम्नानात् ॥ २८ ॥

होने पर वेदोक्त कर्म कर्तृत्वरूप शक्य सम्बन्ध को केवल कर्म कर्तृत्व की अपेक्षा अन्तरङ्गत्व है अतः उक्त वेदोक्त कर्म कर्तृत्वरूप सम्बन्ध से पूर्वोक्त चारों ऋत्विज सम्बद्ध हैं । उद्गातृशब्द का तीनों ऋत्विजों को छोड के केवल उद्गाता में प्रयोग तो योग से है ऐसा कहते हैं । एक देश इति । (एकदेशे) केवल उद्गाता नामक ऋत्विक् में (कारणात) उद्गीथरूप साम भक्ति विशेष के गान का कर्तृत्व होने से उद्गातृ शब्द का "व्यवहार" = प्रयोग (स्यात्) है ॥ २७ ॥

अत्र हारि योजन नामक पात्र में ग्रावस्तुत् नामक ऋत्विक कर्तृक शेष सोम भक्षण का कथन करते हैं नवम अधिकरण से । ज्योतिष्टोम हरिरसि हारियोजनाः तै० सं० १।४।२९।१ इत्यनेन मन्त्रेण गृह्यमाणोग्रहो हारि योजनः । ग्रावस्तुन्नामहोतृ पुरुषः । किं स सोम भक्षयेन्नवेति संशये । होतृगण मध्ये चतुर्थस्य ग्राव स्तुतः भक्षणं नास्तीति पूर्वपक्ष माह । व स्तुति इति । स्पष्टम् ।

ज्योतिष्टोम याग में "हरिरसि हारियोजनः" इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक आहुति देने के लिये जिस "ग्रह" पात्र विशेष का ग्रहण किया जाता हैं उसका नाम हारि योजन । और होता

होतृगणमध्ये चतुर्थस्य ग्रावस्तुतः भक्षणं नास्तीति पूर्वपक्षमाह । ग्रावस्तुत इति । स्पष्टम् ॥ २८ ॥

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥ २९ ॥

सिद्धान्तमाह । हारीति । हारियोजनग्रहे भक्षोऽस्तिचनसाञ्चमसिनो भक्षयन्ति यथैतस्य हारियोजनस्य सर्वएव लिप्सन्तीति वाक्ये सर्वशब्दसंयोगात् ॥ २९ ॥

के सहकारी ऋत्विक विशेष का नाम ग्रावस्तुत् है । वह सोम का भक्षण करे किंवा न करे अर्थात् हारि योजन ग्रह में ग्रावस्तुत को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये किंवा नहीं इस संशय के होने पर । होतृगण के मध्य चौथे ग्रावस्तुत् का उक्त पात्र में भक्षण नहीं होता इस पूर्वपक्ष को कहते हैं । ग्रावस्तुत इति । (ग्रावस्तुतः) ग्रावस्तुत् नामक ऋत्विक कर्तृक (भक्षः) हारियोजन नामक पात्र में शेष सोम का भक्षण (नविद्यते) नहीं होता क्योंकि (अनाम्नात्) उक्त पात्र में उसके भक्षण का विधान नहीं मिलता ॥ २८ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । हारीति । (हारियोजने) "हारियोजन" नामक पात्र में ग्रावस्तुत् को भी शेष सोम का भक्षण है क्योंकि होतृ मैत्रा वरुणादि चमसी सब चमसों का भक्षण करें, हारियोजन पात्रस्थ शेष सोम के लाभ की सब इच्छा करते हैं,

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥ ३० ॥

सिद्धान्तमाक्षिपति । चमसिनामिति । सर्वपदेन चमसिनामेव ग्रहणम् उक्तवाक्ये चमसपदसन्निधानात् ॥ ३० ॥

सर्वेषां तु विधित्वात् तदर्था चमसश्रुतिः ॥ ३१ ॥

इमं पक्षं दूषयति । सर्वेषां त्विति । सर्वेषां प्रकृतयाग-

इस वाक्य में सर्व शब्द का सम्बन्ध है ॥ २९ ॥

अब उक्त सिद्धान्त में आशङ्का करते हैं । चमसिना मिति। (चमसिनां) उक्त वाक्य में सर्व शब्द से चमसियों का ही ग्रहण है, क्योंकि (सन्निधानात्) चमसि पद के सान्निधि में उक्त सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है । भाव यह है कि "अथैतस्य" वाक्य में जो सर्व शब्द का प्रयोग किया हैं उससे चमसी अचमसी ऋत्विक मात्र का ग्रहण नहीं कर सक्ते, सर्व शब्द सर्व नाम है और उसका सर्वदा सन्निहित वाची होना स्वभाव है । उक्त वाक्य के उपक्रम में चमसियों का उपन्यास होने से चमसी ही सन्निहित हैं उनको छोडकर उपसंहार वाक्य में प्रयुक्त हुआ सर्व शब्द अन्य का वाची नहीं हो सक्ता अतः सिद्ध हुआ कि अचमसी होने से हारियोजन पात्र में भा वस्तुव् को सोम का भक्षण नहीं हो सक्ता ॥ ३० ॥

संबन्ध्यृत्विङ्मात्रस्य सर्वशब्देन ग्रहणम् । विधित्वात् सर्वकर्तृकभक्षणस्य विधित्वात् । अयं भावः । भक्षणमपूर्वं विधियते तत्र कर्त्राकाङ्क्षायां प्रकरनादरे प्रकृतपुरुषणैव निराकाङ्क्षत्वे ऽप्रकृतचमसिपुरुषांशविधिकल्पने वाक्यं भिद्येत प्रकृतपुरुषाः पानं कुर्युःते चमसिन इति अतो भक्षणप्रकृतसर्वर्त्विक्कर्तृकमिति । ननु चमसाञ् चमसिनो भक्षयन्तीति तत्सन्निधौ पाठः किमर्थमत्राह । तदर्था हारियोजनभक्षस्तु-

---

अब इस शङ्कापक्ष को दूषित करते हैं। सर्वेषांत्विति (सर्वेषां) चमसी, अचमसी प्रकृतयाग सम्बन्धी सब ऋत्विजों का सर्व शब्द से ग्रहण है क्योंकि (विधित्वात्) हारियोजन पात्र मे सब के भक्षण का विधान पाया जाता है। यह भाव है कि अपूर्व भक्षण का विधान हैं भक्षण क्रिया में कर्ता की आकाङ्क्षा होनेपर और प्रकरण का आदर करने पर प्रकृत पुरुष ही से भक्षण क्रिया को निराकांक्षता होने पर अप्रकृत चमसि पुरुष अंशों का विधान मानने में प्रकृत पुरुष " हारियोजन पात्र में शेष सोम का पान = भक्षण करें और वे चमसी हों ऐसा वाक्य का भेद हो जायगा, इसलिये भक्षण सर्व ऋत्विक् कर्तृक होना चाहिये। ननु, चमसाङ् चमसिनो भक्षयन्ति" इस वाक्य का " अथैतस्य इस वाक्य के सन्निधि में पाठ किसलिये किया गया इस पर कहते हैं। (तदर्था) हारियोजन भक्षण की स्तुति

त्यर्थां चमसश्रुतिः चमसघटितवाक्यश्रुतिः । स्तुतिरित्थं चमसांश्चमसिन एव भक्षयन्ति हारियोजनं सर्वे भक्षयन्त्यतः श्रेष्ठमिति ॥ ३१ ॥

वषट्कारस्य भक्षनिमित्तत्वम् । अधि० १० ।

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

के लिये (चमसश्रुतिः) चमस घटित वाक्य का पाठ है स्तुति इस प्रकार है चमसो को चमसि ऋत्विक यथा चमस भक्षण करते हैं और हारियोजन को चमसी, अचमसी सब भक्षण करते हैं इसलिये सुभग तथा प्रशंसनीय श्रेष्ठ पात्र हैं ॥ ३१ ॥

"वषटकर्तुः प्रथमभक्षः" इत्येवंश्रूयते । " तत्किं वषट्कारं निमित्तीकृत्य प्राथम्य विशिष्ट भक्षणं विधते उत भक्षणमनुद्य प्राथम्य मात्रं विधत्ते" "इति संशये । वषट्कर्ता होता । तस्य भक्षणं " होतृ चमसः " इति समाख्यया प्राप्तम् । प्राथम्यं त्व प्राप्तमिति तदेवाऽत्र विधीयते इति पूर्वपक्षे । समाख्यैव भक्षणनिमित्तं न किन्तु वषट्कार कर्तृत्वमपीति सिद्धान्तमाह । वषडिति । वषटकर्तुः प्रथम भक्ष इति वाक्येन बषट्कार कर्तारमुद्दिश्य प्रथमत्व विशिष्ट भक्षण विधानादिति भावः

अब "वषटकार" को भक्षण का निमित्त कथन करते हैं दशम अधिकरण से । वषट् कर्ता को प्रथम भक्षण करना चाहिये ।

समाख्यैव भक्षणे निमत्तं न, किंतु वषट्कारकर्तृत्वमपीति । सिद्धान्तमाह । वषडिति । वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इति वाक्येन वषट्कारकर्तारमुद्दिश्य प्रथमत्वविशिष्टभक्षणविधानादिति भावः ॥ ३२ ॥

होमाभिषवयोरपि तन्निमित्तत्वम् । अधि० ११ ।

होमाभिषवाभ्यां च ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रुत है । वह क्या वषट्कार को निमित्त करके प्राथम्य विशिष्ट भक्षण विधान करता है किंवा भक्षण का अनुवाद करके प्राथम्य मात्र का विधान करता है इस संशय के होने पर । वषट्कार करने वाला होता है । उसको भक्षण "होतृचमस" इस समाख्या से प्राप्त है और प्राप्त का विधान होता नहीं । प्राथम्य तो अप्राप्त है इसलिये उसका ही विधान होगा इस पूर्वपक्ष के होने पर । समाख्या ही भक्षण का निमित्त नहीं है किन्तु वषट्कार कर्तृत्व भी है अर्थात् जैसे समाख्या तथा वाक्य यह दोनों सोम भक्षण में निमित्त है वैसे ही वषट्कार भी सोम भक्षण में निमित्त है इस सिद्धान्त को कहते हैं । वषडिति । (च) और (वषटकारात्) वषटकार करने से (भक्षयेत्) होता शेष सोम का भक्षण करे । वषट कर्तुः प्रथम भक्षः" इस वाक्य से वषटकार कर्ता को उद्देश करके प्रथमत्व विशिष्ट भक्षण का विधान होने से यह भाव है ॥ ३२ ॥

समाख्यावाक्यवषट्कारेभ्यो ऽन्यद्भक्षकारणं दर्शयति। होमेति। होमाभिषवाभ्याम्। पञ्चमी हेतौ। उभयहेतुकमपि भक्षणम् अयं भावः ग्रावभिरभिषुत्य आहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्यसदसि भक्षयन्तीति। अत्राभिषवहोमयोः वचनान्तरेण

समाख्या वचो वषट्कारा एव किं भक्षहेतवः। किंवाऽभिषवहोमौचेतिसंशये। "प्रेतु होतुश्चमसः" इत्यत्र समाख्या भक्षहेतुः हारियोजने वाक्यम्, वषट्कर्तुः प्रथम भक्षः इत्यत्र वषट्कार इत्येव मुक्तत्वा त्रय एव भक्षहेतवः" इति पूर्वपक्षे। समाख्या वाक्य वषट्कारेभ्योऽन्यद्भक्षकारणं सिद्धान्ती दर्शयति। होमेति। होमाभिषवाभ्याम्। पञ्चमी हेतौ। उभय हेतुकमपि भक्षणम्। अयं भावः ग्रावभिरभिषुत्य आहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि (भक्षान्) भक्षयन्ति, इति। अत्राभिषव होम योः वचनाभारेण प्राप्तत्वानिमित्तत्वेन असुवयः अभिषव होम कर्ता सभक्षयेदित्य पूर्व भक्षण मात्रं विधीयत इति।

समाख्या, वाक्य, वषट्कार यह तीन ही सोम भक्षण के निमित्त है किंवा इन से अन्य अभिषव तथा होम भी उसका निमित्त है इस संशय के होने पर। "प्रेतुहोतुः" यहां समाख्या भक्ष का हेतु, हारियोजन में वाक्य, और "वषट्कर्तुः" प्रथमभक्ष" इस स्थल में वषट्कार है इस प्रकार तीन हेतु कहे गये हैं अतः भक्ष का निमित्त तीनही हैं। अन्य नहीं इस पूर्वपक्ष के होने पर समाख्या, वाक्य, तथा वषट्कार से भिन्न भक्ष का निमित्त सिद्धान्ती

प्राप्तत्वान्निमित्तत्वेन अनूद्य यः अभिषवहोमकर्ता स भक्षये-दित्यपूर्वं भक्षणमात्रं विधीयतइति ॥ ३३ ॥

वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्ष । अधि० १२ ।

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥ ३४ ॥

चमसेषु चमसिनामेव भक्ष उत होमाभिषवकर्तुरपीति संशये पूर्वपक्षमाह । प्रतीति । चमसानां भक्षणस्य चमसान्

दिखाता है । होमेति । (होमाभिषवाभ्याम्) पञ्चमी हेतु अर्थ में है । होम तथा अभिषव यह दोनों भक्षण में निमित्त हैं । यह भाव है कि "ऋत्विज हाविर्धान" नामक मण्डप में शिला वट्ट से साम को कूट रस निकाल करके और आहवनीय अग्नि में हवन करके पश्चात् पश्चिम के दरवाजे से घुसकर "सदो" नामक मण्डप में शेष सोम का भक्षण करें । तै० सं० ६।३।११।४ इसवाक्य में अभिषव तथा होम वचनान्तरसे प्राप्त होने के कारण निमित्तत्व रूप से अनुवाद करके जो अभिषव तथा होम का कर्ता वह भक्षण करे इस प्रकार भक्षण मात्र का विधान किया गया है । इसलिये सिद्ध होता है कि जैसे समाख्या, वाक्य, तथा वषट्कार ये तीनों भक्षमें निमित्त है वैसे ही सोमाभिषव तथा होम यह दोनों भी निमित्त हैं ॥ ३३ ॥

अब वषट्कर्ता आदिकोंका वषट्कारादि निमित्तक चमसों में सोम

चमसिनो भक्षयन्तीति प्रत्यक्षोपदेशाद्भक्षणकर्तुः, शेषे ग्रहादौ अव्यक्तः भक्षयन्तीति सामान्यतो यत्र कर्ता तत्राभिषवादि कर्ता योज्याः ॥ ३४ ॥

स्याद्वा कारणभावाद् अनिर्देशश्चमसानां

कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥ ३५ ॥

भक्षण कथन करते हैं द्वादश अधिकरण से। चमसों में चमासियों का ही भक्षण होता है किंवा होमाभिषव तथा वषटकार के कर्ता का भी भक्षण होता है इस संशय के होनेपर पूर्वपक्ष को कहते हैं। प्रतीति। (चमसानां) चमसों के भक्षण का और चमसी रूप भक्षण कर्ता का "चमसाञ् चमसिनो भक्षयन्ति" इस वाक्य से (प्रत्यक्षोपदेशात्) साक्षात् विधान होने के कारण चमसों में चमासियों का ही भक्षण होना चाहिये अन्यों का नहीं। (अव्यक्त) वषट्कर्ता तथा होमा भिषव कर्ता (शेष) चमस भिन्न ग्रहों के भक्षणं में चरितार्थ हैं अर्थात् "सदसि भक्षन्ति" इस वाक्य से "यत्र" जिस ग्रह के भक्षण में सामान्य रूप से कर्ता का उपदेश है उसी ग्रह के भक्षण में अभिषवादि कर्तों की योजना करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। स्याद्वेति। (स्यात्) चमसोंमें चमसियों से भिन्न वट्ष कर्ता तथा होमाभिषवादि कर्तों का भी

सिद्धान्तमाह । स्याद्वेति । चमसेष्वितरेषां भक्षः स्यात् । कारणस्य भक्षकारणस्य समवधानात् । प्राप्तत्वात् । ननूक्तं सामान्यबाधकं विशेषशास्त्रमत्राह । आनर्देश इति । समाख्याकल्पितचमसिकर्तृकभक्षणशास्त्रेण कर्तुश्चमसिनः अनिर्देशः प्रापणमात्रम् अयोगव्यवच्छेदमात्रमिति फलितम् । तद्वचनत्वात् तावन्मात्रबोधकत्वाच्च चमसिनां विधिमात्रम् न त्वन्येषां निवर्तकमिति भावः ॥ ३५ ॥

भक्षण होता है। क्योंकि (कारणभावाद्) भक्षण के कारण का समवधान=प्राप्त है अर्थात् जैसे यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति वाक्य से चमसियों के भक्षण मे चमसी होना निमित्त पाया जाता है वैसे ही वषट् कर्तुः प्रथम भक्षः आदि वाक्यों से भी वषट्कार आदिनिमित्त पाये जाते हैं । ननु, वषट्कर्तुः प्रथम भक्षः आदि सामान्य शास्त्र का "चमसांश्चमसिनोभक्षन्ति" आदि विषेश शास्त्र बाधक होता है यह कहा गया है इस पर कहते हैं । अनिर्देश इति । चमसी इस यौगिक नाम से कल्पित चमसि कर्तृक भक्षण विधायक "यथा चमसान्" आदि शास्त्र से (चमसानां कर्तुः) चमसियों का (अनिर्देशः) निमित्त रूप से कथन नहीं पाया जाता किंतु प्रापण मात्र पाया जाता है अर्थात् योगाभाव का निषेध मात्र पाया है । क्योंकि (तद्वचनत्वात्) यथा चमसान् वाक्य चमसियों के भक्षण मात्र का बोधक है । चम-

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ३६ ॥

हेत्वन्तरमाह । चमसइति । चमसे अध्वर्युचमसे अन्यस्य वषट्कर्तुः दानदर्शनात् । चमसाञ्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति तान् सवषट्कर्त्रे प्रयच्छतीति दानश्रवणात् । दानस्य भक्षार्थत्वात् ॥ ३६ ॥

एकपात्रे होतुः प्रथमभक्षः । अधि० १३ ।

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥ ३७ ॥

सियों के भक्षण मात्र का विधायक है परन्तु अन्यों का निवर्तक नहीं यह भाव है ॥ ३५ ॥

अब उक्त अर्थ में हेत्वन्तर को कहते हैं । चमस इति । (चमसे) अध्वर्यु चमस में (अन्यदर्शनात) चम साध्वर्यु द्वारा वषट्कर्ता के प्रति चमसों का दान पाये जाने से वषट्कर्ता आदि का वषट्कार आदि निमित्तक चमसों में सोम भक्षण सिद्ध होता है । " चमसों को प्रथम " चमसाध्वर्यु को देवे और वह उनोंको वषट्कर्ताको दे इस वाक्य में जो चमसों का प्रथम साध्वर्यु को देना और पश्चात उसका वषट् कर्ता को देना विधान किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में हेतु है । शेष सोम का दान भक्षण के लिये है रक्षण के लिये नहीं ॥ ३६ ॥

अब एक पात्र में अनेक ऋत्विजों के भक्षण की प्राप्ति होने

एकस्मिन्पात्रे बहवो भक्षयन्ति कस्तत्र क्रम इति विचारे पूर्वपक्षमाह। एकपात्रइति। एकपात्रे बहूनां पानप्रसक्तौ अध्वर्युः पूर्वं भक्षयेत्। क्रमाद् होम द्रव्यस्य अध्वर्यु सन्निधानात्। सन्निधिस्थानक्रमाणां पर्यायत्वात्॥३७॥

होता वा मन्त्रवर्णात्॥ ३८॥

सिद्धान्तमाह। होतेति मन्त्रवर्णाद् होतुश्चित्पूर्वे

पर "होता" का प्रथम भक्षण कथन करते हैं त्रयोदश अधिकरण से। "एकास्मिन्पात्रे बहवो भक्षयन्ति" इस वाक्य से एक पात्र में बहुत ऋत्विजों का भक्षण विहित है उक्त भक्षण में क्रम कैसा रहेगा अर्थात् अध्वर्यु को प्रथम भक्षण करा कर होता को कराना चाहिये किंवा होता को करा कर अध्वर्यु को इस विचारके होनेपर पूर्व पक्ष को कहते हैं। एक पात्र इति। (एक पात्रे) एक पात्र में होता, अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के भक्षण की युगपत प्राप्ति होने पर (अध्वर्युः) अध्वर्यु नामक ऋत्विक् (पूर्वः) प्रथम (भक्षयेत्) भक्षण करे, क्योंकि (क्रमात्) भक्षणीय होम शेष द्रव्य अध्वर्यु के अत्यन्त सन्निहित है। सन्निधि, स्थान तथा क्रम ये पर्याय वाचक पद हैं॥ ३७॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। होतेति। (होता) होता को ही प्रथम भक्षण करना चाहिये। क्योंकि (मन्त्रवर्णात्) वेद मन्त्र

हविरग्रमाशत इति मन्त्रलिङ्गात् ॥ ३८ ॥

वचनाच्च ॥ ३९ ॥

वचनाद् वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इति वचनाच्च होतुः प्राथम्यम् ॥ ३९ ॥

कारणानुपूर्व्याच्च ॥ ४० ॥

हेत्वन्तरमाह । कारणेति । प्रथमं वषट्कारः पश्चाद्धोम

से ऐसा ही पाया जाता है । "होतुश्चित्पूर्वे हविरग्रमाशत" = होतुर्यत्प्रथममदनीयं तदाशत भुक्तवन्त इति ब्रुवन वषट् कर्तुः प्रथम भक्ष इति दर्शयति । ऋ० सं० ८।४।२९ होता को जो प्रथम अदनीय हवि शेष है उसका भक्षण करने वाले "इस मन्त्र लिङ्ग से" वषट् कर्ता को प्रथम भक्षण पाया जाता है ॥ ३८ ॥

(च) और (वचनात्) सबके मध्य वषट् कार कर्ता का प्रथम भक्ष है इस वाक्य से वषट् कर्ता होता का प्राथम्य विशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है । इसलिये सिद्ध होता है कि एक पात्र में अनेक ऋत्विजों को सोम भक्षण प्राप्त होने पर प्रथम होता को ही सोम भक्षण कर्तव्य है । अध्वर्यु को नहीं ॥ ३९ ॥

अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं । कारण इत्यादि ग्रन्थ से । प्रथम वषट् कार होता है पश्चात् होम यह भक्षण के

इति कारणक्रमः । यथा कारणक्रमः तथैव भक्षणक्रम इति भावः ॥ ४० ॥

भक्षणस्यानुज्ञापूर्वकत्वम् । अधि० १४ ।

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४१ ॥

नानूपहूतेन सोमः पातव्य इति वचनादनुज्ञातस्यैव

कारण का क्रम है । जैसा कारण का क्रम है वैसे ही भक्षण का क्रम होना चाहिये अर्थात् होता के भक्षण का निमित्त वषट् कार शब्द प्रथम भावी और अध्वर्यु के भक्षण का निमित्त होम पश्चात् भावी है और निमित्त के क्रम से नैमित्तिक का क्रम होना भी उचित है, इसलिये एक पात्र में अनेक ऋत्विज कर्तृक भक्षण प्राप्त होने पर प्रथम होता को ही भक्षण करना चाहिये, अध्वर्यु को नहीं यह भाव है ॥ ४० ॥

एक पात्रेऽनैकस्य भक्षणेसति यः प्रथमं भक्षयति स किं पश्चाद्भक्षयित्रा ननुज्ञातो भक्षयेदुता नुज्ञात इति संशसे प्रयोग प्राशु भात्रायानुज्ञात इति पूर्व पक्षे " नानुपहूतेन सोमः पातव्यः " का० सं० १।२९ । यस्मिन् ग्रहे चमसे वा यस्याधिकारो भक्षणेऽस्ति, तेनाऽननु ज्ञातो न पातव्यः भक्षयीयः सोमः, इति वचनादनुज्ञातस्यैव भक्षणमिति सिद्धान्तमाह । वचनादिति । स्पष्टम्

भक्षणमिति सिद्धान्तमाह । वचनादिति । स्पष्टम् ॥ ४१ ॥

वैदिकवचनेनानुज्ञापनम् । अधि० १५ ।

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥ ४२ ॥

अत्र भक्षण को अनुज्ञापूर्वक कथन करते हैं चतुर्दश अधिकरण से । एक पात्र मे अनेक के भक्षण में जो प्रथम भक्षण का कर्ता है वह पश्चात् भक्षण करने वाले दूसरे से विना बुलाये आप जाकर सोम का भक्षण करे किंवा बुलाया हुआ भक्षण करे इस संशय के होने पर प्रयोग के शीघ्रता के लिये विना बुलाये ही भक्षण करे ऐसा पूर्व पक्ष के होने पर "जिस ग्रह में अथवा चमस में जिसका अधिकार भक्षण में है उससे बिना बुलायें भक्षणीय सोम का पान न करे, इस वाक्य से बुलाये हुए को ही भक्षण होना चाहिये । तात्पर्य्य यह है कि बिना बुलाये सोम भक्षण करने में कदाचित् तिरस्कार आदि का होना सम्भव है, जैसाकि लोक में प्रायः देखा जाता है, इसलिये अनुज्ञापूर्वक ही सोम का भक्षण करना चाहिये अनुज्ञा के बिना नहीं ॥ ४१ ॥

अनुज्ञाप्य भक्षयितव्यं वचनादिति स्थितम् । किं तल्लौकिकशब्देन वैदिक शब्देन वा इति संशयेन के नाऽनुज्ञाकर्तव्येति पूर्वपक्षे । तत् = सोम भक्षणस्य, उपहूत उपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेत् उक्त

उपहूत उपह्वयस्वेतितत्तल्लिङ्गकमन्त्रसत्त्वान्न लौकिक

मन्त्रे अनुज्ञापन लिङ्ग सत्वान्न लौकिक वाक्येनेति सिद्धान्तमाह। तदिति

अब वैदिक वचन द्वारा अनुज्ञा का होना कथन करते हैं पञ्चदश अधिकरण से। अनुज्ञा को प्राप्त होकर सोम भक्षण करना चाहिये वचन होने से ऐसा सिद्धान्त किया गया है। क्या अनुज्ञा लौकिक वाक्य से होनी चाहिये किंवा वैदिक वाक्य से अर्थात् प्रतिदिन बोल चाल में प्रचलित लोक भाषा से सोम भक्षण के लिये बुलाना चाहिये अथवा वेद मन्त्र से इस संशय के होने पर लौकिक वैदिक जिस किसी वाक्य से अनुज्ञा कर्तव्य है ऐसा पूर्व पक्ष होने पर (तत्) सोम भक्षण का (उपहूत उपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेत्) "उपहूत उपह्वयस्व" इस मन्त्र से अनुज्ञापन करे, क्योंकि (लिङ्गात्) उक्त मन्त्र में अनुज्ञापन की सामर्थ्य पाई जाती है और जब वैदिक वाक्य से अनुज्ञापन सिद्ध होता है तब उसको छोडकर लौकिक वाक्य से नहीं करना चाहिये इस सिद्धान्त को कहते हैं। तदिति। उपहूत उपह्वयस्वेति तत्तल्लिङ्गक मन्त्र सत्वान्न लौकिक वाक्य नेति सिद्धान्तमाह। तदिति। अब वैदिक वचन द्वारा अनुज्ञा का होना कथन करते हैं पञ्चदश अधिकरण से। अनुज्ञा को प्राप्त होकर सोम भक्षण करना चाहिये वचन होने से ऐसा सिद्धान्त

वाक्येनेति सिद्धान्तमाह । तदिति ॥ ४२ ॥

वैदिकवचनेन आर्थक्रमानुसारेण प्रतिवचनम् । अधि० १६ ।

तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ॥ ४३ ॥

उपहूत उपह्वयस्वेत्यत्रोत्तररूपस्य पूर्वपाठेऽपि अग्नि

किया गया है । क्या अनुज्ञा लौकिक वाक्य से होनी चाहिये किंवा वैदिक वाक्य से अर्थात् प्रतिदिन बोल चाल में प्रचलित लोक भाषा से सोम भक्षण के लिये बुलाना चाहिये अथवा वेदमन्त्र से इस संशय के होने पर लौकिक वैदिक जिस किसी वाक्य से अनुज्ञा कर लेना चाहिये ऐसा पूर्व पक्ष होने पर । " उपहूत उपह्वयस्व " वाक्य में तत्तत् = अनुज्ञा और अनुज्ञा के प्रति वचन बोधक मन्त्रों के होने से वैदिक वाक्य से ही अनुज्ञा होगी लौकिक वाक्य से नहीं इस सिद्धान्त को कहते हैं । तदिति । (तत्) सोम भक्षण का (उपहूत उपह्वयस्वेत्य नुज्ञापयेत्) "उपहूतउपह्वयस्व " इस मन्त्र से अनुज्ञापन करे, क्योंकि (लिङ्गात्) उक्त मन्त्र में अनुज्ञा की शक्ति है । प्रवर्तना, प्रेरणा यह दोनों तथा अनुज्ञा, अनुज्ञापन, उपह्वान तथा बुलाना, यह चारों और अनुज्ञात, उपहूत तथा बुलाया गया यह तीनों पर्याय शब्द हैं।४२।

अब अर्थ क्रम के अनुसार वैदिक वाक्य से प्रति वचन कथन करते हैं उपहूत उपह्वयस्व इस वाक्य में प्रति वचन रूप

होत्रं जुहोति यवागूं पचतीत्यत्रेव अर्थक्रमेण उत्तरपठितं प्रश्नवाक्यं, पूर्वमुत्तरवाक्यमिति सिद्धान्तमाह । यत्रेति ॥४३॥

एकपात्राणामेवानुज्ञापनम् । अधि० १७ ।

तदेकपात्राणां समवायात् ॥ ४४ ॥

मन्त्र का प्रथम पाठ होने पर भी अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति इस वाक्य के भांति उत्तर पठित वाक्य को अर्थ क्रम से अनुज्ञा वाक्य समझना चाहिये और पूर्व पठित वाक्य को प्रति वचन समझना चाहिये इस सिद्धान्त को कहते हैं । तत्रेति । (तत्र) उपहूत उपह्वयस्व इस वाक्य में (अर्थात्) सामर्थ्यानुसार "उपह्वयस्व' मन्त्र से अनुज्ञापन (प्रतिवचनम्) उसका प्रति वचन उपहूत मन्त्र से सिद्ध होता है । अयंभाव: उपह्वयस्व इति मन्त्रेण आगच्छ सोम भक्षण कुरु, इति अनुज्ञा " उपहूत: " इति मन्त्रेण तथास्तु, आगच्छामि, इति प्रति वचनम् ।

यह भाव है कि " उपह्वयस्व " इस मन्त्र से आ ओ सोम भक्षण करो इस प्रकार अनुज्ञा होती है और " उपहूत: " इस मन्त्र से बहुत अच्छा मैं आया इस प्रकार उक्त अनुज्ञा का प्रति वचन होता है । क्योंकि उक्त मन्त्र के वह दोनों अंश उक्त अर्थ के स्पष्ट रूप से बोधक हैं ॥ ४३ ॥

सा ऽनुज्ञा एकपात्राणामेव नान्येषां तेषामेव परस्परं कलहप्रसक्तौ तत्परिहारार्थत्वादस्या इति सिद्धान्तमाह। तदिति। तद् अभ्यनुज्ञानं समवायाद् एकत्र भक्षस्य प्राप्तत्वात्।

एक पात्राणामेव नुज्ञापनम्। अधि० १७। तदेक पात्रणां समवायात्। तदनुज्ञा किं सर्व पुरुषाणामुतैक पात्राणामेव स्यादिदि संशये। अनुज्ञायाः अदृष्टं प्रयोजनम्। तस्यविभिन्न पात्रेष्वप्य विशषात्सर्वेषा मितिपूर्वपक्षे। साऽनुज्ञा एक पात्राणामेव नान्येषांतेषामेव परस्पर कलह प्रसक्तौ तत्परिहारार्थत्वादस्या नतु अदृष्टार्थत्व मिति सिद्धान्त माह। तदिति। (तत्) सोम भक्षणार्थ मभ्यनुज्ञापनं (एकपात्राणां) एकपात्रे भक्षण कर्तृणामेवस्यात् (समवायात्) तत्रैवैकत्रीभूत्वा भक्षणस्यो चितत्वात्। अभ्युनुज्ञया सर्वेषामैकमत्यै न्यूनाधिक लाभ प्रयुक्तो न कलह इति भावः

अत्र एक पात्र में अनेक ऋत्विज कर्तृक भक्षण में ही अनुज्ञापन होना कथन करते हैं सप्त दश अधिकरण से। सब पुरुषों के भक्षण के समय उक्त प्रकार की अनुज्ञा होनी चाहिये किंवा एक पात्र में भक्षण करने वालोंके ही भक्षण के समय इस संशय के होने पर। अनुज्ञा का फल अदृष्ट है। और उक्त अदृष्ट को विभिन्न पात्रों में भी समान होने के कारण सबों के भक्षण समय अनुज्ञा होनी चाहिये ऐसा पूर्व पक्ष के होने पर। वह अनुज्ञा

अभ्यनुज्ञया सर्वेषामैकमत्ये न्यूनाधिकलाभप्रयुक्तो न कलह इति भावः ॥ ४४ ॥

एक पात्र में भक्षण करने वालों को ही होगी भिन्न २ पात्रों में भक्षण करने वालों को नहीं क्योंकि उनमें ही परस्पर कलह प्राप्त होने पर उक्त कलह के परिहारार्थ अनुज्ञा होनी चाहिये अदृष्टार्थ नहीं । अर्थात् अपने २ पात्र में भक्षण के लिये अनुज्ञा की आवश्यकता नहीं क्योंकि पात्र नियत होने से यथा समय ऋत्विज अपने आप उसका भक्षण कर सकें हैं और उस पात्र में अन्य किसी का भक्ष न होने से कलह की सम्भावना भी नहीं है । परन्तु एक पात्र में अनेक ऋत्विज कर्तृक भक्षण होने पर आगे पीछे आकर भक्षण करने में "इसने पहिले आकर अधिक भोजन कर लिया होगा" इस प्रकार संशय होने से परस्पर कलह का होना सम्भव है उसकी निवृत्ति के लिये सत्र का बुलाना उचित है, जब वह यजमान के बुलाने पर इकट्ठे हो कर एक पात्र में भक्षण करेंगे तो फिर उनमें कदापि कलह न होगी, इसलिये उक्त प्रकार की अनुज्ञा एक पात्र के भक्षण समय में ही होनी चाहिये अपने २ पात्र के भक्षणं समय नहीं इस सिद्धान्त को कहते हैं । तदिति । (तत्) सोम भक्षण के लिये अनुज्ञापन (एक पात्राणां) एक पात्र में भक्षण करने वालों का ही होना चाहिये । क्योंकि (समवायात्) उसमें इकट्ठे होकर ही भक्षण करना उचित है ॥ ४४ ॥

याज्यापनये भक्षस्याप्यपनयः । अधि० १८ ।

याज्यापनये न अपनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥ ४५ ॥

ज्योतिष्टोमे ऋतुग्रहप्रचारे यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद् यजेति स्वयं वा निषद्य यजतीति । अत्र होतुर्याज्यापनये यदा स्वयं यजति तदा यजमानस्य भक्षोऽस्ति न वेति तत्र पूर्वपक्षमाह । याज्येति । वचनेन होतुः

अब याज्या का अपनय होने पर भक्षण का भी अपनय होता है ऐसा कथन करते हैं अष्टादश अधिकरण से । ज्योतिष्टोम यागान्तर्गत ऋतु याज नामक यागों के प्रकरण में "ऋतुयाज" यागों में यजमान याज्या का पाठ करे और होता को आज्ञा दे कि तू यजन कर अथवा आपही बैठकर याग करे यह वाक्य पढा है । इस वाक्य में "होता" से "याज्या" के छुडा लेने का विधान होने पर जब स्वयं याग करता है तब यजमान को भक्षण होना चाहिये किंवा नहीं अर्थात् उक्त वाक्य में याज्या का अपनयन करके यजमान को उसका पढना विधान किया है इससे यह संदेह होता है कि जैसे "होता" नामक ऋत्विक से याज्या का अपनयन होता है वैसे ही याज्या निमित्तक भक्षण का भी अपनयन होता किंवा नहीं तहां पूर्व पक्ष को कहते हैं । याज्येति । वचन द्वारा होता से (याज्यापनये) याज्या का अपनयन होने पर भी

याज्यापनये ऽपि भक्षो नापनीतः प्रवरवत् । यथा होतारम् त्वा वृणे इति ऋतुयाजार्थवरणं याज्यापनये ऽपि नापैति तद्वत् ॥ ४५ ॥

यष्टुर्वा कारणागमात् ॥ ४६ ॥

(भक्षः) भक्षण का न अपनीतः अपनयन नहीं होता (प्रवरवत्) जैसे होतारत्वावृणे इस वाक्य से याग की याज्या के लिये होता कावरण विधान किया है वह याज्या के अपनयन होने पर भी दूर नहीं होता तद्वत वैसे ही भक्षण भी अपनीत नहीं होता अर्थात् याज्या के अपनयन होने पर भी सोम भक्षण होता संज्ञक ऋत्विक को ही होता है यजमान को नहीं ॥ ४५ ॥

सिद्धान्त माह । यष्टुरिति । यष्टुरेव भक्षःस्यात् । कुतः । कारणा गमात् । यजमानें याज्या कर्तृत्वऽऽगमेन भक्ष कारणस्य व षट्कार कर्तृत्व रूपस्याऽप्याऽऽगमात् नच याज्यापनेय वषट्कार कर्तृत्वं होतुः संभवति । अनवानं यजतीत्य नेन याज्या वषट्कारयो र्मध्ये श्वासनिषेधेन तयोरेक कर्तृकत्वावगमात । इत्थंच भक्षोऽपियज मानस्यैवेतिसिद्धम् ।

अब सिद्धान्त को कहते हैं । यष्टुरिति । (यष्टुः) याग कर्ता यजमान को ही भक्षण होना चाहिये क्योंकि (कारणागमात) यजमान में याज्या कर्तृत्व के आगम से वषट्कार कर्तृत्व रूप

सिद्धान्तमाह । यष्टुरिति यष्टुर्वा कारणस्य वषट्कार-कर्तृत्वरूपस्यागमात् ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ॥ ४७ ॥

प्रवरदृष्टान्तो विषम इत्याह । प्रवृत्तत्वादिति । प्रवरस्य

भक्षण के कारण का भी आगम पाया जाता है। और होता से याज्या का अपनयन होने पर वषटकार कर्तृत्व होता को सम्भव नहीं। "क्योंकि" अनवानं यजति = एक श्वास में याज्या पाठ तथा वषट्कार करे इस वाक्य से याज्या तथा वषट्कार दोनों के मध्यश्वास का निषेध होने से उक्त दोनों का समान कर्तृकत्व होना सिद्ध होता है। एक कर्तृकत्वा सिद्ध होने पर भक्षण भी यजमान को अवश्य होना चाहिये, होता को नहीं ॥ ४६ ॥

अब भक्षण के अपनयनाऽभाव में जो प्रवर का दृष्टान्त दिया गया है वह विषम है ऐसा कहते हैं। प्रवत्तत्वात् इत्यादि सूत्र से (प्रवरस्य) होता के वरण को (प्रवत्तत्वात्) प्रथम ही करलेने के कारण उक्त वरण का अपाय निवृत्ति नहीं हो सक्ती। यह भाव है कि सब याज्या के लिये तन्त्र से होता का वरण किया गया है उक्त याज्यों के मध्य एक याज्या का अप-

वरणस्य प्रवृत्तत्वात् पूर्वमेव कृतत्वात् तस्यापायो न संभवति। अयं भावः। सर्वयाज्यार्थं होतुः तन्त्रेण वरणं तन्मध्ये

नयन होने पर भी याज्यान्तर के लिये यागारम्भ से प्रथम ही वरण को अवश्यकत्व हाने से अर्थात् याग के आरम्भ से प्रथम यजमान की ओर से ऋत्विजों का वरण होता है । जब ऋत्विज स्वीकार कर लेते है कि हम आपका याग करायेंगे तब उनको वरणी दी जाती है अर्थात यजमान यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों से प्रथम यह कहता है कि मैंने यज्ञ करना है आप मेरे ऋत्विज बनें । तब वह नौकरी के समान अपनी कुछ दक्षिणा नियत कर लेते हैं और याग समाप्ति पर्यन्त उसका नियम होता है । यजमान की ओर से दक्षिणा के और ब्राह्मणों के ओर से दूसरे किसी के याग में ऋत्विज न बनने के नियम का नाम "वरण" और बयाने के सदृश जो प्रथम कुछ द्रव्य तथा वस्त्र आदि दिये जाते है उसका नाम "वरणी" है इस प्रकार नियत हो जाने से प्रवृत्त हूआ "वरण" मध्य में किसी प्रकार निवृत्त नहीं हो सक्ता । उसकी निवृत्ति का एक मात्र उपाय याग की समाप्ति है । यदि वरण भी वषट्कार की भांति प्रथम प्रवृत न हुआ होता तो याज्या के अपनय से उसका भी अपनय हो जाता परन्तु हो जाने के कारण याग समाप्ति के बिना बीच में उसका अपनय अर्थात् उसकी निवृत्ति नहीं हो सक्ती । भाव यह है कि जैसे सञ्चित क्रियमाण तथा

एकयाज्यापनये ऽपि याज्यान्तरार्थं वरणस्य पूर्वमावश्यकत्वादिति ॥ ४७ ॥

फलचमसस्येज्याविकारत्वम् । अधि० १९ ।

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥४८॥

ज्योतिष्टोमे राजन्यवैश्यकर्तृके कश्चिद्विशेषः श्रूयते, यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं विभक्षयिषेद् न्यग्रोधस्तिमिनीराहृत्य ताः संपिष्य दधन्युन्मृज्य तमस्मै

प्रारब्ध तीन प्रकार के कर्मों के मध्य सञ्चित, क्रियमाण दो प्रकार के कर्मों की ब्रह्म ज्ञान से निवृत्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि वह फल देने के लिये प्रवृत्त हो चुका है वैसे ही याज्या के निवृत्त होने पर भी प्रवृत्त हुए वरण की निवृत्ति नहीं हो सक्ती। इसलिये दृष्टान्त की विषमता होने से यह नहीं कह सक्ते कि याज्या के होने पर भक्षण की निवृत्ति नहीं होती किन्तु याज्या की निवृत्ति होने से भक्षण की भी निवृत्ति हो जाती है इसलिये होता नामक ऋत्विक से निवृत्त हुआ भक्षण यजमान का होना आवश्यक है ॥ ४७ ॥

अब फलचमस को यागार्थ होना कथन करते हैं एकोनविंशाधिकरण से। क्षत्रिय वैश्य कर्तृक ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में कुछ विशेष का श्रवण पाया जाता है, यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य

भक्षं प्रयच्छेन्न सोममिति । अनेन प्राप्यमाणद्रव्यं भक्ष विकार इज्याविकारो वेति संशये पूर्वपक्षमाह । फलेति । फलचमसः उक्तप्रकारः नैमित्तिकोराजन्यादिकर्तृकत्वरूप

को सोम याग कराया जाय और वह सोम पीने को मांगें तो न्य-ग्रोध=वट वृक्ष की कलिया को ला, पीस दधि में छान उन दोनों को दे, सोम न दे। यह विशेष वाक्य पढा है। "अनेन प्राप्य-माणं द्रव्यं = इस वाक्य से जो क्षत्रिय तथा वैश्य के निमित्त से "फलचमस" का बनाना तथा भक्षण के लिये देना विधान किया गया है वह केवल भक्षण के लिये ही किया गया है किंवा याग के लिये अर्थात् यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य सोम याग के यज-मान हों तो उनको भक्षण के लिये फलचमस दिया जाय अथवा फलचमस से याग कराया जाय इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। फलेति। (फलचमसः) फलचमस (नैमित्तिकः) क्षत्रिय तथा वैश्य कर्तृकत्व रूप निमित्त से प्राप्त = निष्पन्न = बनाया हुआ फल चमस (भक्षविकारः) भक्षण के लिये है। क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति में फल चमस का भक्षण के साथ ही सम्बन्ध का अवगम होता है। "सोम पीने को मांगें" इस वाक्य शेष में पीने के लिये मांगना और उनको भक्षण के लिये दे इस वाक्य शेष में भक्षण के लिये फल चमस देना कथन किया है। यदि वह याग के लिये होता तो

निमित्तप्राप्तः भक्षविकारः श्रुति संयोगात्। विभक्षयिषेदिति तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदिति श्रवणात् ॥ ४८ ॥

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४९ ॥

(इज्या विकारः) द्रव्यविकारो फलचमसो होमार्थोनतु भक्षणार्थः। कुतः। (संस्कारस्य) होमशेष प्रतिपत्ति संस्काररूप भक्षण विधानस्य (तदर्थत्वात्) फलचमसस्य होमशेषसत्वे ऽ र्थवत्वात्।

उसका भक्षण के लिये देना कथन न किया जाता परन्तु किया है। इससे सिद्ध है कि वह भक्षण के लिये ही हैं याग के लिये नहीं यह भाव है। न्यग्रोध स्तिभिनी = नाम के वट वृक्ष के अंकुर अथवा फल हैं उन्हों को पीस दधि सहित छान रस भरे पात्र का नाम "फलचमस" हैं ॥ ४८ ॥

अत्र सिद्धान्त को कहते है। इज्येति। (इज्याविकारः) द्रव्य का विकार रूप फल चमस होम के लिये है भक्षण के लिये नहीं। क्योंकि (संस्कारस्य) होम शेष का प्रतिपत्ति संस्कार रूप भक्षण विधान को फल चमस की होम शेष होने पर ही अर्थवत्ता आती है अन्यथा भक्षण विधान व्यर्थ हो जायगा। होम के बिना फल चमस को होम का शेष होना असम्भव है और होम शेष के बिना पुरुष के लिये भक्षण का विधान नहीं हो सक्ता अतः "विभक्षयिषेत्" इस वाक्य का होम शेष को

सिद्धान्तमाह । इज्येति । इज्याविकारः होमद्रव्यविकारः संस्कारस्य होमशेषप्रतिपत्तिसंस्कारस्य तदर्थत्वाद्धोमशेषार्थत्वात् । होमं विना होमशेषत्वासंभवात् पुरुषार्थभक्षणस्य विध्यभावाद् विभक्षयिषेदित्यस्य होमशेषं विभक्षयिषेदित्यर्थकतया होमार्थमेवेदं द्रव्यमिति भावः ॥ ४९ ॥

होमात् ॥ ५० ॥

पीने के लिये मांगे यह अर्थ करना होगा और ऐसा अर्थ होने से यह फल चमस रूप द्रव्य होमार्थ ही सिद्ध होता है भक्षणार्थ नहीं यह भाव है ॥ ४९ ॥

किंच " जब और चमसों का हवन करे तब फल चमस का दर्भ मुष्टि से हिलाकर हवन करे, " इस वाक्य में जो फलचमस के होम का उद्देश = अनुवाद करके दर्भमुष्टि से हिलाना रूप गुण विशेष विधान किया है, इससे भी फलचमस के होम की सिद्धि होती है यदि उसका होम न हो तो होम से पूर्व उसका दर्भ मुष्टि से हिलाना विधान न किया जाता परन्तु होम के अनुवाद पूर्वक उसका विधान किया है वह फल चमस को यागार्थ माने बिना नहीं बन सक्ता । इस लिये सिद्ध हुआ कि क्षत्रिय अथवा वैश्य कर्तृक याग में जो फलचमस का विधान है वह याग के लिये है केवल भक्षण के लिये नहीं इसी बात को कहते हैं । होमादिति । (होमात्) होम का अनुवाद पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥५०॥

किं च, अन्यांश्चमसाञ्जुहोत्यथैतस्य दर्भतरुणकेन उपहत्य जुहोतीति फलचमसहोममुद्दिश्य दर्भतरुणस्य गुणत्वेन विधानादपि होमसिद्धिरित्याह । होमादिति । होमानुवादादित्यर्थः ॥ ५० ॥

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥ ५१ ॥

अपि च, यदाऽन्यांश्चमसानुन्नयन्त्यथैनं चमसमप्युन्नयन्तीति होमसाधनचमसैः सहोन्नयनकथनमपि होम सत्त्वेगमकमित्याह । चमसैरिति । तुल्यकालत्वाद् उभयोरुन्नयनस्य एककालत्वात् ॥ ५१ ॥

"अपिच" जब और चमसों को आहुति देने के लिये उठाया जाय तो फलचमस को भी उठायें, इस वाक्य में जो अन्य होम साधन चमसों के साथ फलचमस का आहुति देने के लिये एक काल में उठाना विधान किया है वह भी फलचमस से होम के होने में प्रमाण है यदि वह यागार्थ न होता तो यागार्थ होने वाले अन्य चमसों के साथ उसका आहुति देने के लिये उठाना विधान न किया जाता परन्तु विधान किया है इसलिये सिद्ध हुआ कि फलचमस याग के लिये है केवल भक्षण के लिये नहीं ऐसा कहते हैं । चमसैरिति । (च) और (चमसैः) चमसों के साथ (तुल्यकालत्वात्) अन्य तथा फलचमस दोनों के उठाने का एक काल होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥ ५१ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५२ ॥

लिङ्गस्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोममिति सोम निषेधरूपस्य दर्शनाद् सोमनिषेधपूर्वकोक्तद्रव्यविधानेन सोमस्थानीयत्वं गम्यते । सोमस्य तु हुतशेषस्यैव भक्षणादस्यापि तथात्वं सिद्धमिति भावः ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुसर्पणम् । अधि० २० ।
अनुप्रसार्पिषु सामान्यात् ॥ ५३ ॥

(च) और (लिङ्गस्य) इनको फलचमस भक्षण के लिये देवे सोम नहीं, इसवाक्यशेषमें सोम के देने का निशेध रूप लिङ्ग को (दर्शनात्)पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है । सोम के देने के निशेध पूर्वक उक्त फलचमस रूप द्रव्य के विधान से सोम का स्थानी फलचमस है ऐसा प्रतीत होता है । और हुत शेष ही सोम का भक्षण होना सर्व सम्मत है अतः उक्त फलचमस को भी तथात्व होना सिद्ध होता है । अर्थात् क्षत्रिय अथवा वैश्य कर्तृक याग में जो "फलचमस" विधान किया है वह याग के लिये है, केवल भक्षण के लिये नहीं ॥ ५२ ॥

अब दशपेय नामक याग में सोम भक्षणार्थ राजन्य चमस के प्रति ब्राह्मणों का ही अनुसर्पण = चलकर जाना कथन करने के लिये बीस में अधिकरण की रचना करते हैं । राजसूययागान्तर्गत

राजसूये दशपेयनामकः सोमविकारः यागः । तत्र शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति दश दशैकैकं चमसमनुसर्पन्तीति । तत्र क्षत्रियस्यैव अधिकारात् राजन्यचमसे दश राजन्या ब्राह्मणा वेति संशये पूर्वपक्षमाह । अन्विति । अनुप्रसर्पिषु राजन्यचमसानुसर्पिषु दश राजन्याः । सामान्यात् । एकजातीयत्वलाभात् । अयं भावः । प्रकृतितः चमसभक्षणं भक्षणे च एकजातीयकर्तृकत्व प्राप्तं संख्याविशेषश्च प्राप्तः । तत्र दश दशेत्यनेन प्राकृतसंख्याबाधे ऽपि एकजातीयकर्तृकत्व बाधकं न किंचिद्वचनमस्ति । न च शतं

दशपेय नामक सोम याग की विकृति याग होता है । उस याग में सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करें, एक २ चमस के प्रति दस २ भक्षणार्थ जाय यह वाक्य पढा है उक्त याग में क्षत्रिय का ही अधिकार होने से राजन्य चमस में भक्षणार्थ दस क्षत्रिय जायें अथवा ब्राह्मण इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते है । अन्विति । (अनुप्रसर्पिषु) राजन्य चमस प्रति भक्षणार्थ जानेवालों में दस क्षत्रिय होने चाहिये । क्योंकि (समान्यात्) ऐसा होने से यजमान के साथ एक जातित्व का लाभ होता है । भाव यह है कि प्रकृति याग से चमस भक्षण और भक्षण में एक जातीय कर्तृकत्व तथा संख्या विशेष प्राप्त है । उनों में से दश २ इस वीप्सा से प्राकृत संख्या का बाध होने पर भी एक जातीय

ब्राह्मणा इति वचनं बाधकमिति शङ्क्यम् । दशचमसेषु दश-विधौ शतमित्यनुवादवाक्यम् अत एव ब्राह्मणानां बहुत्वात् सृष्टिन्यायेन ब्राह्मणशब्द उभयपर इति ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥ ५४ ॥

सिद्धान्तमाह । ब्राह्मणा इति राजन्यचमसे ऽपि दश ब्राह्मणा एव तुल्यशब्दत्वाद् दशस्वपि चमसेषु ब्राह्मणा इत्येकजातीयशब्दवत्त्वात् । अयं भावः उभयोर्वाक्ययोः

कर्तृकत्व का बाधक कोई वाक्य नहीं । " शंत ब्राह्मणाः " श० ब्रा० ५। ४। ५। ४। यह वाक्य का बाधक है यह शङ्का कर्तव्य नहीं । क्योंकि दश चमसों में एक २ चमस के प्रति दश २ पुरुषो को विधि होने पर " शतं " आदि वाक्य अनुवाद वाक्य है । अनुवाद सरूपश्च शतं भक्षयन्तीति अनुवाद का सरूप सौ पुरुष भक्षण करते है यह है शत शब्द को अनुवादक होने से ही ब्राह्मणों को बहुत होने से सृष्टि न्याय से ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण अब्राह्मण उभय का बोधक है ॥ ५३ ॥

अब सिद्धान्त को कहते है । ब्राह्मण इति । राजन्य चमस के प्रति भी अनुप्रसर्पण करनेवाले दश ब्राह्मण ही होने चाहिये क्षत्रिय नहीं, क्योंकि (तुल्यशब्दत्वात्) दश चमसों के प्रति अनुसर्पण करने वालों का एक ब्राह्मण जातीय शब्द से उपन्यास

विधायकत्वे संभवति एकस्यानुवादत्वकल्पनमन्याय्यम् । शतं ब्राह्मणा इति शतमनूद्य ब्राह्मणा इति विधिः । ब्राह्मण-विधाने ऽपि चमसेषु न्यूनाधिकसंख्यया ऽपि शतसंख्या-

---

किया है यदि यजमान चमस के प्रति अनुप्रसर्पण करनेवाले क्षत्रिय होते तो उक्त वाक्य के उपक्रम मे शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षन्ति = सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करे, इस प्रकार सौ ब्राह्मणो का सोम भक्षण करना विधान न किया जाता अर्थात् उक्त याग में दश चमस हैं जिनके मध्य यजमान का चमस एक है यदि उस एक चमस में क्षत्रियों का सोम भक्षण करना अभिप्रेत होता तो उक्त उपक्रम वाक्य में " शतं ब्राह्मणाः के स्थान में नवति ब्राह्मण ऐसा कथन किया जाता परन्तु कथन सौ का किया है इससे सिद्ध होता है कि यजमान चमस के प्रति भी सोम भक्षण के लिये दश ब्राह्मणों का ही प्रसर्पण होना चाहिये । यह भाव है कि "शतं ब्राह्मणः" तथा दश २ इन दोनों वाक्यों में विधायकत्व संभव होने पर एक को अनुवादत्व कल्पना करना अनुचित है । "शतं ब्राह्मणाः" वाक्य में शतं का अनुवाद करके ब्राह्मणाः इस का विधान है अर्थात् सौ ब्राह्मण होने चाहिये एसा विधान है । ब्राह्मण का विधान होने पर भी ब्राह्मण चमसों में न्यून तथा अधिक सख्या से भी सौ संख्या पूर्ण नहीं इसलिये दश दश इस

पूरणं माभूदित्येतदर्थं दश दशेति नियमविधिसंभवादेक-जातीया एव शतम् । अतो राजन्यचमसे ऽपि दश ब्राह्मणा इति सिद्धमिति ॥ ५४ ॥

इति जैमिनिसूत्रवृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः॥५॥

अनारभ्य विहितानां पर्णतादीनां प्रकृतिगामित्वम् अधि० १ ।

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥

यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति

वाक्य से एक २ चमसमें दश दश पुरुषों के प्रसर्पण के नियम के विधान को सम्भव होने से तथा ब्राह्मण का विधान होने से एक जाति वालों का ही सौ होना चाहिये भिन्न जातियों का नहीं । इसलिये राजन्य चमस में भी दश ब्राह्मण होना चाहिये क्षत्रिय नही यह सिद्ध हुआ ॥ ५४ ॥

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के पञ्चम पाद के जैमिनिसूत्रवृत्ति का अनुवाद समाप्त ।

....

अब किसी कर्म का आरम्भ न करके विहित पर्णतादिओं की प्रकृति याग में गामिता है ऐसा कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से । "यस्य खादिरः स्रुवो भवति सछन्दसोमव रसेना वद्यति सरसा अस्या

अनारभ्य श्रुता पर्णता प्रकृतौ निविशतउत प्रकृतौ विकृतौ चेति संशये पूर्वपक्षमाह । सर्वार्थमिति । स्पष्टम् ॥१॥

प्रकृतौ वा ऽद्विरुक्तत्वात् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमाह । प्रकृताविति । प्रकृतौ दर्शपूर्णमासएवा-

हुतयो भवन्ति" ३। ५। ७। १ "यस्यपर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकंशृणोति " ३। ५। ७। २ = जिस यजमान का स्रुवा पात्र खैर की लकडी का होता हैं वह उस स्रुवा से जो हवि का अवदान करता है वह वेदोक्त कर्म करता हैं, उससे दी हुई सम्पूर्ण आहुतियें फलवती होती हैं । और जिस यजमान की जुहू पलाश की होती है वह अपयश को नहीं सुनता, इत्यादि अप्रकरण पठित वाक्य से " श्रुता " = विहित पर्णता का प्रकृति याग में निवेश है किंवा प्रकृति विकृति दोनों यागों में अर्थात् उक्त वाक्य दर्शपूर्णमासरूप प्रकृति याग में खैर आदि की लकडी से स्रुवादि पात्रों के बनाने का विधान करते है किंवा प्रकृति विकृति दोनों प्रकार के यागो में इस संशय के होनेपर पूर्व पक्ष को कहते हैं । सर्वार्थमिति । (सर्वार्थं) खैर आदि लकडी के स्रुवादि पात्र बनाने का विधान प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों के लिये है । क्योंकि (अप्रकरणात्) वह किसी याग के प्रकरणमें पठित नहीं ॥ १ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । प्रकृताविति । (प्रकृतौ)

द्विरुक्तत्वात्। विकृतावतिदेशशास्त्रेण एकदा उक्तवचनेन चैकदेति सर्वार्थत्वे द्विरुक्तता स्यादिति भावः ॥ २ ॥

तद्वर्जं तु प्रवचनप्राप्ते ॥ ३ ॥

अनारभ्य वचनेन विकृतौ पर्णमयीत्वप्राप्तौ अतिदेश-

उक्त वाक्य दर्शपूर्णमासादि प्रकृति यागों में ही उक्तार्थ के विधायक हैं सौर्यादि विकृति यागों में नही। क्योंकि (अद्विरुक्तत्वात्) ऐसामानने से द्विरुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। एकबार विकृति याग में "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या।" इस अतिदेश शास्त्र से और एकबार उक्त विधि वाक्य से प्राप्ति होने पर सर्वार्थत्व पक्ष में पुन रुक्ति की प्राप्ति हो जायगी इसलिये यस्य खादिरः स्रुवः इत्यादि विधि वाक्य दर्शपूर्णमासादि प्रकृति याग में स्रुवादि का खादिरादि होना विधान करते हैं सौर्य्यादि विकृति याग में नहीं यह भाव है ॥ २ ॥

अनारभ्याधीत वाक्य से विकृति में पर्ण मयीत्व धर्म प्राप्त होनेपर अति देश वाक्य उससे भिन्न प्राकृत धर्मों को प्राप्त करता है इसलिये पुनरुक्ति नहीं हो सकती ऐसा कहते हैं। तदिति (प्राप्ते "यस्यपर्णमयी" आदि उक्त वाक्य से सौर्य्यादि विकृतियाग में भी पर्णमयित्व की प्राप्ति होने पर (प्रवचनं) अतिदेशवाक्य(तद्वर्जं) उक्तपर्णमयीत्वादि से भिन्न प्रकृति याग में प्राप्त धर्मों को विकृति

वचनं तद्भिन्नमाकृतधर्मान् प्रापयतीति न द्विरुक्तिरित्याह । तदिति । प्राप्ते उक्तवचनेन विकृतावपि प्राप्ते ॥ ३ ॥

दर्शनादिति चेत् ॥ ४ ॥

नन्वेवं चोदक शास्त्रादनारभ्यशास्त्रं यदि बलवत् तदा तेन शास्त्रेण पर्णमयीत्व रूप वैकृत धर्म प्राप्तौ गृहमेधीय वच्चोदकशास्त्रं प्रति सर्वं वैकृतं कर्माऽनाकाङ्क्षं स्यात् । निराकांक्ष वैकृते कर्मणि चोदको नैव प्राप्नोति । नचेष्टापत्तिः प्रयाजे २ कृष्णलं जुहोतीति प्राकृत प्रयाजदर्शनादितिसिद्धा-

---

याग में प्राप्त करता है । इसलिये प्रकृति विकृति दोनों यागों में उक्त वाक्य पर्णमयीत्वादि का विधान करता है केवल प्रकृति में ही नहीं ॥ ३ ॥

ननु, इस प्रकार "चोदकशास्त्रात्" = "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस अतिदेशशास्त्रसे यस्यपर्णमयी अनारभ्यशास्त्रयदि बलवान् है तो उक्तशास्त्र से पर्णमयीत्वरूप वैकृतधर्म की प्राप्ति होनेपर गृहमेधीय कर्मकी भांति सब वैकृतकर्म अतिदेशशास्त्रके आकाङ्क्षासे रहित होंगे । और वैकृतकर्म के निराकाङ्क्ष होनपर विकृति यागमें अतिदेशशास्त्रकी प्राप्तिही नहीं होसक्ती । और इष्टापत्ति नहीं करसक्ते । क्योंकि "माषके पांचवें भाग का नाम" कृष्णल है, प्रतिप्रयाज सौवर्ण कृष्णलों का होमकरे, इत्यादि

न्ती शङ्कते । दर्शनादिति (दर्शनात्) विकृतौ प्रकृति धर्म प्रयाजादि दर्शनात् ॥ ४ ॥

न चोदनैकार्थ्यात् ॥ ५ ॥

उक्ताशङ्कां निवारयति पूर्वपक्षी । नेति । अनारभ्य-शास्त्रेण चोदकशास्त्रमनाकाङ्क्षं न । यस्य पर्णमयी

वाक्यों से जो विकृतियागमें प्राकृतप्रजाजों के अनुवाद पूर्वक कृष्णल होमों का विधान पायेजानेसे स्पष्ट है कि अप्रकरण पठित वाक्य से विहित धर्मोंका भी चोदकवाक्य से विकृति याग में सम्बन्ध होता है ऐसा सिद्धान्ती शंकाकरता है । दर्शनादितिचेत् इस सूत्र से । (दर्शनात्) विकृति में प्रकृतिके धर्मप्रयाजादिओं का सम्बन्ध पायेजाने से सर्वत्र चोदक वाक्य की प्रवृत्ति सिद्ध होती है । (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो समीचीन नहीं इस का अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है । ४ ।

अब पूर्व पक्षी सिद्धान्ती की उक्त आशाङ्का की निवृती करता है । नेति अप्रकरण पठित वाक्य से " चोदकशास्त्र " = प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या " अतिदेशशास्त्र अनाकाङ्क्ष (न) नहीं होसक्ता क्योंकि " यस्य पर्णमयी " आदि (चोदनायाः) विधि वाक्य से (ऐकार्थ्यात) एक पर्णमयीत्व मात्र का विधान

जुहूर्भवतीति चोदनाया ऐकार्थ्यात् । एकस्य पर्णमयीत्वमात्रस्य विधानात् । यदि पर्णमयीत्वं जुहूं चेदं वाक्यं विदध्यात्तदा चोदकशास्त्रं निराकाङ्क्षं भवेत् । तदेव न । लाघवात् पर्णमयीत्वमात्रविधिरयं चोदकशास्त्रेण प्राप्तजुहूमुद्दिश्य । तथा च जुहूप्राप्त्यर्थं चोदकशास्त्रं साकाङ्क्षमिति भावः ॥५॥

उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥

पुनः सिद्धान्त्याशङ्कते । उत्पत्तिरिति । उत्पत्ति जुहू-

पाया जाता है। यदि यह वाक्य "पर्णमयीत्व" तथा "जुहू" दोनों का विधायक हो तो अति देशशास्त्र निराकाङ्क्ष हो। परन्तु "तदेव न" = दोनों का विधायक ही नहीं। विकृति याग में चोदकशास्त्र से प्राप्त जुहू का उद्देश करके "यस्य" आदि वाक्य लाघवमूलक पर्णमयीत्व मात्र का विधायक है। "तथा च" = पर्णमयीत्व का विधान होने पर भी जुहू की प्राप्ति के लिये चोदकशास्त्र निराकाङ्क्ष नहीं होसक्ता। अतः अप्रकरण पठित उक्त वाक्य केवल प्रकृति याग में ही पर्णमयीत्वादि के विधायक नहीं किन्तु प्रकृति विकृति दोनों में विधायक है यह भाव है।५।

अब उक्त अर्थमें पुनः सिद्धान्ती आशङ्का करता है। उत्पत्तिरिति। (उत्पत्तिः) जुहू विधायक वाक्य भी अप्रकरणपठित

त्पत्तिरपि अनारभ्याधीतेति शेषः । यस्यैवंरूपाः स्रुचो भवन्तीति स्रुचां प्राप्तौ पर्णमयी जुहूरिति विशेषविधिः । तथा च जुहूप्राप्त्यर्थं न चोदकाकाङ्क्षेति भावः ॥ ६ ॥

न तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥

न, चोदकापेक्षा नास्तीति न । तुल्यत्वात्तुल्यत्ववाचक-

है इसका शेष करना चाहिये । " जिस यजमान के एवं रूप स्रुच होते हैं " तै० सं० ३।५।७।२ इस सामान्य वाक्य से स्रुचों की प्राप्ति होनेपर पर्णमयी जुहू करना चाहिये यह विशेषविधान है । " तथा च " = जुहू के उत्पत्तिवाक्य को भी अनारभ्यऽधीत होनेपर विकृतियाग में जुहू की प्राप्ति के लिये भी अतिदेशशास्त्र साकाङ्क्षा नहीं होसक्ता । इस लिये उक्तवाक्य प्रकृति विकृति उभय साधारण पर्णमयीत्वादि के विधायक नहीं किन्तु केवल प्रकृति याग में ही विधायक है । ६ ।

उक्ताशङ्कां निवारयति पूर्वपक्षी । नेति । अत्र पूर्वपक्षी उक्त शङ्का का निवारण करता है । नेति । (न) चोदक की अपेक्षा नहीं ऐसा नहीं कहसक्ते । क्योंकि (तुल्यत्वात्) सामान्य वाचक पद से घटित होने के कारण उक्तवाक्य स्रुचों का विधायक नहीं होसक्ता । यह भाव है कि " यस्यैवंरूपा स्रुचो भवन्ति " इस

पदघटितत्वात्। अयं भावः यस्यैवंरूपाः स्रुचो भवन्तीति प्रथमं स्रुक्प्राप्तिर्वाच्या। सा न संभवति। एवंरूपा इति पूर्वक्लृप्तनिर्देशात्। अतः चोदकशास्त्रादेव जुहूप्राप्तिरिति॥७॥

चोदनार्थकात्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः॥८॥

चरमसिद्धान्तमाह। चोदनेति। प्रकृत्यर्थः प्रकृतिमात्रार्थः अयं विधिः। विकृतौ चोदनार्थकात्स्न्यात् कृत्स्न-धर्माणामेव चोदकेन प्राप्तेः पर्णताया अपि प्राप्तत्वेन

वाक्य से प्रथम स्रुचों की प्राप्ति करना चाहिये। और वह प्राप्ति सम्भव नहीं। क्योंकि "एवंरूपाः" इस पद से पूर्व सिद्ध का कथन पाया जाता है। इसलिये चोदकशास्त्र से ही विकृति याग में जुहू की प्राप्ति होनी चाहिये। तथा च "यस्यपर्णमयी" आदि वाक्य उक्त दोनों में ही पर्णमयीत्व धर्म के विधायक हैं केवल प्रकृति याग में नहीं। ७।

अन्तिम सिद्धान्त को कहते हैं। चोदनेति। (प्रकृत्यर्थः) यस्यपर्णमयी इत्यादि वाक्यों से पर्णमयीत्वादि का विधान केवल प्रकृति याग के लिये है विकृति के लिये नहीं। क्योंकि विकृति याग में (चोदनार्थकात्स्न्यात्) सम्पूर्ण धर्मों की चोदक वाक्य से प्राप्ति होसक्ती है। और पर्णता की भी प्राप्ति होनेसे (मुख्यस्य) अनारभ्य पठित शास्त्र की (विप्रप्रतिषेधात्) विकृति

मुख्यस्यानारभ्यपाठितशास्त्रस्य विप्रतिषेधादाकाङ्क्षाऽभावात् । यद्यपि अनारभ्यशास्त्रं प्रत्यक्षं चोदकमानुमानिकं विलम्बेन प्रवर्तते तथाऽपि उक्तयुक्त्या जुहूप्राप्त्यर्थं प्रत्यक्षशास्त्रात् पूर्वमेव प्रवृत्तिरङ्गीकार्या । जुहूप्राप्तिवेलायामेव पर्णताया अपि प्राप्तौ प्रत्यक्षशास्त्रमेव निराकाङ्क्षमिति भावः ॥ ८ ॥

सामिधेनीनां सप्तदशसंख्याया विकृतिगामित्वम् । अधि.२।

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥ ९ ॥

अनारभ्य श्रुतं, सप्तदश सामिधेनीरन्वाहेति। इदं

याग आकाङ्क्षा नहीं करता । यद्यपि अनारभ्य पठित शास्त्र प्रत्यक्ष है और चोदक = अतिदेश शास्त्र आनुमानिक है और प्रत्यक्ष की अपेक्षा आनुमानिक की विलम्ब से प्रवृत्ति होना योग्य है तो भी उक्त युक्ति से जुहू की प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष शास्त्र से पूर्व ही प्रवृत्ति अङ्गीकार करना चाहिये । जुहू की प्राप्ति काल में ही पर्णता की भी प्राप्ति होने पर प्रत्यक्ष शास्त्र ही निराकाङ्क्ष हो जाता है यह भाव है इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य केवल प्रकृति याग में ही 'जुहू" आदि पात्रों के पर्णमयीत्वादि धर्मों का विधान करते हैं प्रकृति तथा विकृति दोनो यागों में नहीं ॥ ८ ॥

अब सामिधेनियों की सप्तदश संख्या का विकृति याग में विधान कथन करते हैं द्वितीय अधिकरण से । "अप्रकरण पठित सत्रह

पूर्वन्यायेन प्रकृतौ पाञ्चदश्येन सह विकल्पेन निविशतइति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । प्रकरणेति । प्रकरणे दर्शपूर्ण मासप्रकरणे विशेषात् पञ्चदश सामिधनीरन्वाहेति विशेषाद् विरोधि पाञ्चदश्याविरोधि सप्तदश्यं विकृतौ स्यात् ।

सामिधेनियों का पाठ करें" श० ब्रा० १।५।१।१२ इस वाक्य में जो सामिधेनियों की सप्तदश संख्या विधान की है उसका प्रकृति में निवेश है किंवा विकृति में अर्थात् "प्रवोवाजा अभिद्यवः" तै० ब्रा० ३।५।२।१ इत्यादि ११ ऋचाओंका नाम "सामिधेनि" है इन के मध्य प्रथम तथा अन्तिम ऋचा को तीन २ बार पाठ करने से प्रकृति याग मे पचदश सामिधेनी पूर्व विधान की गई है। अब उक्त अप्रकरण पठित वाक्य में जो प्रथम तथा अन्तिम सामिधेनी का चार २ बार उच्चारण करके सप्तदश सामिधेनी विधान की हैं वह प्रकृति याग में उच्चारण के लिये की हैं किंवा विकृति याग में इस संशयके होने पर उक्त ऋचों के सप्तदश्य को "अनारभ्या धीतानांप्रकृतिगामित्वं" इस पूर्वन्याय से प्रकृति याग में पंचदश्य के साथ विकल्प से निवेश करना चाहिये, ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। प्रकरणेति। (प्रकरणे) दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित (विशेषात्) "पंचदश सामिधनीयों का पाठ करे" इस वाक्य विशेष के होने से (विरोधि) पंचदश संख्या का विरोधि सप्तदश संख्या (विकृतौ) विकृति याग में (स्यात्) विधान की गई है प्रकृति में नहीं । क्योंकि प्रकरण

प्रकरणसहकृतपाञ्चदश्यस्य पक्षे ऽपि प्रकृतौ बाधासंभवा-दिति भावः ॥ ९ ॥

गोदोहनादीनां प्रकृतिगामित्वम् । अधि . ३ ।

नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगाविशेषात् ॥ १० ॥

दर्शपूर्णमाससन्निधावेव श्रूयते, गोदोहनेन पशुकामः

सहकृत पंचदश संख्या का पक्ष में भी प्रकृति में बाध नहीं हो सक्ता यह भाव है ॥ ९ ॥

अत्र गोदोहनादियों का प्राकृति में विधान कथन करते हैं तृतीय अधिकरण से । दशर्पूर्णमास याग के समीप में ही " चमसेनाऽपः प्रणयेद्गोदोहनेन पशुकामः प्रणयेत् " (आप० श्रौ० १।१६।३) गौर्दुहतेऽ स्मिन्निति गोदोहनम् । यस्मिन् पात्रे गृहे प्रतिदिनं गौर्दुहते तत्पात्रं गोदोहन शब्देनोच्यते दर्शपुर्णमासयोः' अपः प्रणेयतादित्यनेन य द्विहितमपां पणयनं तत् गोदोहनाख्येन पात्रेण कुर्यादित्यर्थः । चमसो नाम चतुरस्राकारस्स मुष्टिकः प्रादेशमात्रोदारवः पात्र विशेषः चमस से अपों का प्रणयन करे, पशु की कामना वाला पुरुष गोदोहन नामक पात्र से अपों का प्रणयन करे यह वाक्य पठित है । इस वाक्य में पशु काम निमित्त गोदोहन का विधान किया है उसका प्रकृति में

प्रणयेदिति । प्रकृतौ चमसेन प्रणयनस्य अवरुद्धत्वात् पूर्व-न्यायेन विकृताविति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । नैमित्तिकमिति नैमित्तिकं गोदोहनं प्रकृतौ निविशते तद्विकारः सञ्चमसबाधकः सन् संयोगस्य पशुकाम इतिपदसम्बन्धरूपस्य विशेषात् पूर्वोक्तसाप्तदश्यापेक्षया विशेषात् । अयं भावः । चमसः गोदोहनं चेत्युभयं दर्शपूर्णमाससन्निधौ पठितं तुल्यं, तथाऽपि चमसशास्त्रं सामान्यं पशुकामेतरप्रयोगे सावकाशमिदं विशेषं निरवकाशं सत् प्रबलमतः चमसस्य गोदोहनेन बाधसम्भवात्प्रकृतावेव निविशतइति ॥ १० ॥

निवेश है किंवा विकृति मे इस संशय के होने पर प्रकृति याग में अप्रणयन के चमस से अवरोध होने के कारण पूर्वन्याय से विकृति यागमें गोदोहन का निवेश होना चाहिये पूर्वपक्ष के होने पर सिधान्त को कहते हैं । नैमित्तिकमिति । (नैमित्तिकं) पशु काम के निमित्त से विहित गौदोहन का प्रकृतो (प्रकृतो) प्रकृति याग में निवेश है विकृति मे नही (तद्विकारः) प्रथम विहित चमस का बाधक होकर (संयोग विशेषात्) पशु काम इस पद के सम्बन्ध रूप संयोग का पुर्वोक्त सप्तदशत्व की अपेक्षा से विशेष होने से । यह भाव है कि चमस और गोदोहन इन दोनों का दर्शपूर्ण मास के समीप में समान पाठ है, तो भी चमस शास्त्र सामान्य है इसलिये पशु काम से भिन्न प्रयोग में उक्त शास्त्र सावकाश है और गोदोहन शास्त्र विशेष है इसलिये निरवकाश हो

आधानस्य पवमानेष्ट्यनङ्गत्वम् । अधि० ४ ।

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥ ११॥

अग्नये पवमानाय अग्नये पावकायेत्यादिवाक्यैः

कर प्रबल है अतः चमस का गोदहन से बाध होने के कारण गोदोहन का प्रकृति में ही निवेश है विकृति मे नहीं ॥ १० ॥

अब अग्न्याधान को " पवमान आदि इष्टियो की अनङ्गता कथन करते हैं चतुर्थ अधिकरण से । " अग्नये पवमानाय पुरोडाश मष्टाकपालं निर्वपेदग्नये पावकायाग्नये शुचये ' = पवमान संज्ञकाया ऽ ग्नयेष्टाकपाल द्रव्यकं यागं कुर्यात । एवं पावक सज्ञकायाग्नये, शुचि संज्ञकाया ऽ ग्नयेच पूर्वोक्तं यागकुर्यात् इति सरलार्थः । इष्टित्रयमिदम् । तिसृणा मध्यासां पवमानेष्टय इति व्यवहारः ।

पवमान नामक अग्निदेवता के उद्देश से अष्टाकपाल द्रव्यक याग को करे । इसि प्रकार पावक संज्ञक अग्नि के लिये और शुचि संज्ञक अग्नि देवता के लिये पूर्वोक्त याग को करे तै० सं० २।२।४।२ इत्यादि वाक्यों से पवमाय इष्टि विहित है । उक्त इष्टि के समीप में = प्रकरण में, वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्या धान करे यह वाक्य पढा है तै० ब्रा० १।१।२।६ अस्मिन् वाक्ये यदग्न्याधानं विहितं तत्पवमान संज्ञकेष्टयङ्ग मुतनेति संशये,

पवमानेष्टिर्विहिता । तत्सान्निधौ, वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमाद-धीतेति श्रुतमाधानं पवमानेष्ट्यङ्गं सन्निधिपाठादिति पूर्व-पक्षमाह । इष्टीति ॥ ११ ॥

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १२ ॥

सिद्धान्तमाह । न वेति तासां पवमानेष्टीनां तदर्थत्वाद् अग्निसंस्कारार्थत्वाद् नाधानमिष्ट्यङ्गम् । अयं भावः अग्नी

आधानं पवमानेष्ट्यङ्गं सन्निधि पाठ दिति पूर्वपक्षमाह । इष्टीति । इस वाक्य में जो अग्न्याधान विधान किया है वह पवमान नामक इष्टि का अंग है किंवा नहीं इस संशय के होने पर, आधान पवमान इष्टि का अगं है सन्निधि पाठ होने से इस पूर्व पक्ष को कहते हैं इष्टीति। (अग्न्याधेयं) अग्न्याधन (इष्ट्यर्थं) पवमान इष्टि का अङ्ग हैं क्योंकि (प्रकरणात्) उक्त इष्टि के प्रकरण मे अग्न्याधान का विधान किया गया है ॥ ११ ॥

अब सिद्धान्त को कहते है । नवेति । (तासां) वह इष्टि (तदर्थत्वात्) आहवनी यादि अग्नियों के संस्कारार्थ विधान की गई हैं इसलिये (न) आधान उक्त इष्टि का अङ्ग नहीं । यह भाव हैं कि यदि आहवनीय आदि अग्नियें इष्टियों के अङ्ग हों तो अग्न्याधान पवमान इष्टियों का अङ्ग हो । परन्तु अग्नियो को

नामिष्ट्यर्थत्वे आधानं पवमानेष्ट्यङ्गम् भवेत् । तदेव न, इष्टीनां फलाश्रवणेन फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमितिन्याया-प्रसरात् । किं तु आधानपवमानेष्ट्योरग्न्यर्थत्वम् अग्नीनां च निखिलक्रत्वर्थत्वमिति ॥ १२ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १३ ॥

जीर्यति वा एष आहिताग्निः संवत्सरस्य परस्तादेतानि

इष्टियों के प्रति अङ्गत्व ही नहीं । आधान तथा उक्त इष्टियों के फल का श्रवण न होने से " फलवाले के समीप पठित अफल उसका अङ्ग होता है " इस न्याय की प्रवृत्ति होने के कारण आधान इष्टियों का अङ्ग नहीं हो सक्ता । किन्तु आधान और पवमान इष्टि यह दोनों आहवनीयादि अग्नियों के संस्कार के लिये विधान किये गये हैं और अग्नियों का विधान सब यागों के लिये है ॥ १२ ॥

" जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः, तदेतान्येत्राग्न्या-धेयस्य हवींषि संवत्सरे निर्वपेत् । तेन वा एष न जीर्यति । तेनैनं पुनर्नवं करोति " = वह पशु के समान गृह में आधान की गई अग्नि जीर्णावस्था को प्राप्त हो जाती है जिसके संस्कारार्थ प्रतिवर्ष आरम्भ में पवमान इष्टियें नहीं की जाती, इसलिये प्रति संवत्सर आरम्भ में ही उक्त इष्टियें करे, क्योंकि उनके करने से

हवींषि संवत्सरे निर्वपेत तेनैष न जीर्यतीतीष्टीनामग्न्यर्थत्वे लिङ्गमाह । लिङ्गेति ॥ १३ ॥

आधानस्य सर्वार्थत्वम् । अधि. ५ ।

तत्प्रकृत्यर्थं यथा ऽन्ये ऽनारभ्यवादाः ॥ १४ ॥

आधानं नाम वेदोक्त विधिनाऽऽहवनीयाद्यग्नीनां स्थापनम् । तदेतदाधानं किं प्रकृत्यर्थमुत प्रकृति विकृति रूपं सर्वकर्मार्थमिति संशये । आधानं प्रकृत्यर्थं पर्णमयीत्विन्याया-

---

वह नूतन हो जाती है और जीर्णावस्था को प्राप्त नहीं होती, इस वाक्य में जो उक्त इष्टियों के न होने से आधान की गई अग्नि का जीर्ण होना और जीर्ण से पुनः नूतन होजाना कथन किया है वह उक्त इष्टियों के संस्कारार्थ होने में लिंग हैं ऐसा कथन करते हैं । लिंगेति । (च) और (लिंगदर्शनात्) लिंग के पाये जाने से भी उक्त की सिद्धि होती है ॥ १३ ॥

अब अग्न्याधान को प्रकृति विकृति सम्पूर्ण वैदिक कर्मों का अंग कथन करते हैं । पञ्चम अधिकरण से । वेदोक्त विधि से आहवनीयादि अग्नियों के स्थापन करने का नाम "अग्न्याधान" है । वह आधान प्रकृति याग के लिये ही है किंवा प्रकृति विकृति

दिति पूर्वपक्षमाह । तदिति । यथाऽप्रकरण पठितैः यस्य पर्णमय्यादि वाक्यैर्विहितः अन्येपर्णमयीत्वादिधर्माः प्रकृत्यर्थाः तथैव तदाग्न्याधानमपि प्रकृत्यर्थम् ॥ १४ ॥

रूप सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के लिये है अर्थात् आधान की गई अग्नि में केवल प्रकृति याग ही होना चाहिये अथवा प्रकृति विकृति दोनों प्रकार के याग होनें चाहिये इस संशय के होने पर। आधान प्रकृति के लिये पर्णमयीत्व न्याय से इस पूर्वपक्ष को कहते हैं। तत् आदि ग्रन्थ से। (यथा) जैसे (अनारभ्यवादाः) अप्रकरण पठित " यस्यपर्णमयी " आदि वाक्यों सें विधान किये गये (अन्ये) पर्णमयीत्वादि धर्म प्रकृति याग के लिये है वैसे ही (तत्) अग्न्याधान भी प्रकृत्यर्थं प्रकृति याग के लिये हैं। अर्थात् जैसे पर्णमयीत्वादि किसी प्रकृति विकृति दोनों याग के प्रकरण में पठित नहीं वैसे ही अग्न्याधान भी पवमान इष्टियों के प्रकरण में पठित होने पर भी किसी प्रकृति विकृति दोनों याग के प्रकरण में पठित नहीं हैं। और दोनों के प्रकरण में अपठित होने के कारण जैसे पर्णमयीत्वादि प्रकृति याग के लिये ही हैं विकृति याग के लिये नहीं वैसे ही अग्न्याधान भी प्रकृति याग के लिये ही होना चाहिये। भाव यह कि अग्न्याधान केवल प्रकृति याग का अङ्ग है प्रकृति विकृति दोनों का नहीं ॥ १४ ॥

सर्वार्थं वा ऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥ १५ ॥

सिद्धान्तमाह । सर्वेति । सर्वार्थम् अग्निद्वारा सर्व क्रत्वर्थं स्वकालत्वाद् वसन्तऋतुरूपस्वकालस्य स्वातन्त्र्येण विधानात् । अयं भावः । दर्शपूर्णमासाङ्गत्वे प्रधानस्य यः कालो दर्शः पूर्णिमा च, स एव तदाङ्गानां कालः न स्वतन्त्रः कालो ऽङ्गानाम् । इह तु स्वतन्त्रः कालः श्रूयते । अत

अत्र सिद्धान्त को कहते हैं । सर्वेति । (सर्वार्थं) अग्न्याधान अग्निद्वारा सम्पूर्ण प्रकृति विकृति रूप वैदिक कर्मों के लिये है, क्योंकि (आधानस्य) वह आधान (स्वकालत्वात्) अपने काल में विधान किया गया है अर्थात् वसन्तऋतुरूप अपने काल का स्वतन्त्रता रूप से विधान किया गया है । तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति तथा विकृति याग विधान का जो काल है उसमें अग्न्याधान का विधान नहीं किया किन्तु स्वतन्त्र वसन्तादि ऋतुओं में विधान किया है, यदि वह प्रकृति किंवा विकृति याग का अङ्ग होता तो अवश्यमेव उनके मध्य किसी एक काल में उसका विधान किया जाता परन्तु उसका किसी याग के प्रकरण में विधान न करके स्वतन्त्र "वसन्त" आदि काल विधान किये हैं इस से स्पष्ट है कि वह वैदिक कर्म मात्र का अङ्ग है । यह भाव हैं कि दर्शपूर्णमास के अगों में प्रधान का जो काल दर्श और पूर्णिमा है वही उसके अगों का काल होता है स्वतन्त्र काल अङ्गों का नही होता ।

आधान केवलाग्न्यर्थं तेनोत्पन्नाग्नीनां सर्वक्रत्वर्थत्वं यदा हवनीये जुहोतीति वाक्येनेति ॥ १५ ॥

पवमानेष्टीनामसंस्कृते ऽग्नौ कर्तव्यत्वम् । अधि० ६ ।

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् ॥ १६ ॥

अग्नेयपवमानाय, इत्येवमाद्याः पवमानेष्टयः सन्ति । तत्र किं पवमानेष्टिसंस्कृतेऽग्नौ पवमानेष्टयः कर्तव्या उतनेति संशये । पवमानेष्टिषु पवमानेष्टिसंस्कृताअग्नयः अपेक्षिताः इति पूर्वपक्षमाह । तासामिति । (तासां) पवमानेष्टीनां

आधान में तो स्वतन्त्र काल का विधान पाया जाता है । इसलिये आधान केवल अग्नि सस्कार के लिये है उक्त संस्कार से उत्पन्न अग्नियों का "यञ्जु होति तदाहवनीये जुहोति" जोहवनहो वह आहवनीय अग्नि में ही होना चाहिये इस वाक्य से सब यागों के लिये विधान किया गया है ॥ १५ ॥

अब पवमान इष्टियों की असस्कृत अग्नि में कर्तव्यता कथन करते है छठे अधिकरण से । अग्न्ये पवमानाय इत्यादि वाक्यों से पवमान इष्टियें विहित हैं । तहां पवमान इष्टियों से संस्कृत अग्नि में व पवमान इष्टियें कर्तव्य हैं किंवा असंस्कृत अग्नि में इस संशय के होने पर । पवमान इष्टियो में पवमान इष्टियों से संस्कृत अग्नियें अपेक्षित हैं अर्थात् पवमान इष्टियों से संस्कृत अग्नि में पवमान इष्टियें कर्तव्य हैं इस पूर्वपक्ष को कहते हैं

होमार्थं पवमानेष्टिसंस्कृतोऽग्निः प्रकृतितो दर्शपूर्णमासादति दिश्यते, प्रयाजवत् । प्रयाजातिदेशवत् । प्रकृतौ संस्कृताग्नि सत्त्वादत्रापि तथेति भावः ॥ १६ ॥

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १७ ॥

सिद्धान्तमाह । न वेति । न तत्र पवमानेष्टिसंस्कृतो ऽग्निः इष्टीनां तदर्थत्वात् अग्न्यर्थत्वात् । यदि पवमानेष्टौ

तासामिति । (तासां) पवमानेष्टीनां = पवमान हवियों के होम के लिये (अग्निः) पवमान इष्टियों से संस्कृत अग्नि का (प्रकृतितः) दर्शपूर्णमास से अतिदेश = प्राप्ति होती है, (प्रयाजवत्) प्रयाज के अतिदेश के समान अर्थात् जैसे उक्त इष्टियों में प्रयाजों का अतिदेश होता है वैसे ही पवमान इष्टि से संस्कृत अग्नियों का अतिदेश होता है । क्योंकि प्रकृति में संस्कृत अग्नि है इस लिये यहां पर भी उसी अग्नि का अतिदेश होना योग्य है यह भाव है ॥ १६ ॥

अब सिद्धान्त को कहते है । नवेति । (न) पवमान इष्टियों में पवमान इष्टियों से संस्कृत अग्नि का अतिदेश नहीं होता, क्योंकि (तासां) पवमान इष्टियें (तदर्थत्वात्) अग्नियों से संस्कारार्थ विधान की गई हैं । यदि पवमान इष्टि में उक्त इष्टि से संकृत अग्नि की

तत्संकृताग्न्यपेक्षा पूर्वं पवमानेष्टिः कार्या तत्राप्यग्न्यपेक्षायां तत्पूर्वमिष्टिरित्यनवस्थाभयेन यत्र क्व चिदसंस्कृताग्नौ विश्रामः कार्यः अग्रेक्रियमाणः प्रथमत एव क्रियत इति भावः ॥ १७ ॥

उपाकरणादीनामग्नीषोमीय पशु धर्मत्वम् । अधि. ७ ।

तुल्यः सर्वेषांपशुविधि, प्रकरणाविशेषात् ॥ १८ ॥

ज्योतिष्टोमे अग्नीषोमीयः सवनीयः अनुबन्ध्यश्चेति पशुत्रयम् । तत्सन्निधावेव पशुधर्मा आम्नाताः । ते धर्माः सर्व पशु साधारणा न वेति संशये । ज्योतिष्टोम प्रकरणा

अपेक्षा हो तो उससे पूर्व पवमान इष्टि करना चाहिये उसमें भी संस्कृत अग्नि की अपेक्षा होने पर उस इष्टि से पूर्व अन्य इष्टि करना चाहिये इस अनवस्था के भय से जिस किसी उक्त इष्टि को असंस्कृत अग्निमें विश्राम करना होगा ओर आगे चलकर क्रियमाण विश्राम को प्रथम ही करना उचित है यह भाव है ॥ १७ ॥

अब उपाकरणा दि को अग्नीषोमीय पशु का धर्म कथन करते हैं सप्तम अधिकरण से । ज्योतिष्टोम "अग्नीषोमीय", सवनीय और अनुबन्ध्य यह तीन पशु विहित हैं । और उनही के सन्निधि में पशु धर्म भी पढे गये हैं । वे धर्म अग्नी सोमीयादि सब पशुओं

विशेषात् त्रयाणां पशुधर्मा इति पूर्वपक्षमाह । तुल्य इति । (पशु विधिः) पश्वङ्गविधिः = पश्वर्थविहितोपाकरणादि धर्माः (सर्वेषां) अग्नीषोमीयादि सर्वपशुनां (तुल्यः) समानः (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरणेन तेषां धर्माणां सर्वैः पशुभिः सहसाधारण सम्बन्धो दृश्यते ॥ १८ ॥

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥ १९ ॥

ननु न सर्वपश्वर्थाः पशुधर्माः किं तु सवनीयपश्वर्थाः चतुर्थे ऽह्नि आग्नेयः पशु रग्निष्टोमआलभ्यते इति सवनीय

के समान रूप से विधान किये हैं किंवा उनके मध्य किसी एक के इस संशय के होने पर । ज्योतिष्टोमयाग का प्रकरण समान हैं अतः तीनों के पशु धर्म हैं इस पूर्व पक्ष को कहते हैं । तुल्य इति । (पशु विधिः) पशु के अङ्गों का विधान अर्थात् पश्वर्थ विहित उपाकरणादि धर्म (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण के बल से उन धर्मों का सब पशुओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध पाया जाता है ॥ १८ ॥

ननु, सब पशुओं के लिये उपाकरणादि पशु धर्म नहीं, किन्तु "सवनीय" = (आग्नेय पशु के लिये है) । क्योंकि चतुर्थदिन मे " अग्निदैवत्य पशु का अग्निष्टोम याग में आलभन

पशूत्पत्तिवाक्यं सोमक्रयसान्निधौ यदग्नीसोमीयं पशुमालभत इति। अवभृथोत्तरं मैत्रावरुणीं गां वशामनूबन्ध्यामालभत इति। तेषां मध्ये आग्नेयपशूत्पत्तिवाक्यसमीपे पशुधर्माम्नानात्तस्यैवावान्तरप्रकरणं युक्तम्। अवान्तरप्रकरणेन महाप्रकरबाधादभिक्रमणस्य प्रयाजार्थत्ववत्सवनीयार्थत्वमेवेत्याशङ्कायामिमं पक्षं निरस्यति। स्थानादिति। स्थानाद् अग्निषोमीययागस्थानात् पूर्वस्य च अग्नीषोमीयस्यापि। अयं भावः। यथा ऽवान्तरप्रकरणात् सवनीयांगत्वं तथा

करे" इस वाक्य से सवनीय पशु के आलभन का विधान किया गया है। और सोम क्रय के समीप अर्थात् द्वितीय दिन में सोम क्रय होता है। उसके समीपमें जो अग्नि और सोम सम्बन्धी पशु का आलभन करता है यह अग्नीषोमीय पशु के आलभन विधायक वाक्य पठित है, मुख्य याग के समाप्त होजाने पर विधि पूर्वक " अवभृथ " नामक स्नान के अनन्तर जो उक्त याग का अङ्गभूत " इष्टि " की जाती है उसको अव भृथेष्टि " अथवा " अवभृथ कहते हैं उक्त अवभृथ इष्टि के उत्तर = पश्चात् मित्र और वरुण देवता सम्बन्धी वन्ध्या गौ जो अनुबन्ध्या कहलाती है उसका आलभन करे यह अनुवन्ध्य पशु के आलभन का विधायक वाक्य पठित है। उक्त तीनों वाक्यों के मध्य आग्नेय पशु के उत्पत्ति वाक्य के समीप में पशु धर्मों का पाठ होने से उसीका = आग्नेय पशु का अवान्तर प्रकरण होना योग्य है।

स एव उपवसथीये ऽहन्द्विदेवत्यः पशुरालभ्यतइति वचनेन चतुर्थदिने अग्नीषोमीययागः तत्सन्निधौ पशुधर्मपाठात् स्थान क्रमेण तदङ्गत्वमपीत्युभयार्थाः पशूधर्मा इति ॥ १९ ॥

अवान्तर प्रकरण से महाप्रकरण का बाध होने से, जिस प्रकार (दर्शपूर्णमास के महाप्रकरण में अन्तर्गत प्रयाज के अवान्तर प्रकरण से महाप्रकरण का बाध होने के कारण प्रयाज के समीप पठित) अभिक्रमण प्रयाजार्थ (प्रयाज का अङ्ग होता है ? तद्वत् (पशु धर्म) सवनी पशु के लिये ही है यह आशङ्का होने पर इस पक्ष का खण्डन करते हैं। "स्थानात्" आदि सूत्र से (स्थानात्) अग्निषोमीय याग के सन्निधि के कारण (उपाकरणादि संस्कार) (पूर्वस्य च) पूर्व में पठित अग्नीषोमीय पशु के भी धर्म हैं। इस कथन का यह आशय है कि जिस प्रकार (उपाकरणादि सवनीय पशु का) अवान्तर प्रकरण होने से सवनीय के अंग हैं उसी प्रकार " वह यह उप वसथीय संज्ञक दिन " द्विदेवत्यः " = अग्नि और सोम इन दो देवता सम्बन्धी पशु का आलभन करे " इस वाक्य से चतुर्थ दिन अग्नीषोमीय याग विहित है उस के समीप पशु धर्मों का पाठ होने के कारण स्थान क्रम से = सान्निधिरूप प्रमाण से उपाकरणादि धर्म अग्नीषोमीय पशु का भी अंग = धर्म हैं इस रीति से उपाकरणादि पशु धर्म (अग्नीषोमीय और सवनीय इन) दोनों के लिये है ॥ १९ ॥

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था ॥ २० ॥

सिद्धान्तमारभते । श्व इति । तु इति सिद्धान्तज्ञापकम् एकेषां शाखिनां शाखायां श्वः सुत्याहे आश्विनं ग्रह गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं पशुमुपाकरोतीति श्रुतम् । इदं सवनीयपशूत्पत्तिवाक्यम् । ननु तस्यामेव शाखायां चतुर्थ दिवसे आग्नेयं पशुमालभतइीत श्रूयते तस्य का

अब सिद्धान्त का आरम्भ करते हैं । " श्व: " इत्यादि सूत्र से । (इस सूत्र में) " तु " शब्द सिद्धान्त का ज्ञापक है = सूचक है । (एकेषां) कोई वेद की शाखा विशेष का अध्ययन करनेवालों की शाखा में (श्वः) दूसरे दिन अर्थात् सुत्याह नामक दिन आश्विनी कुमार नामक देवता सम्बन्धी ग्रह को = पात्र को ग्रहण करने के पश्चात् तिहेरी रस्सी से यूप को वेष्टन करके आग्नेय पशु का उपाकरण करे ऐसा श्रुत है । यह वाक्य सवनीय पशु का उत्पत्ति वाक्य है इस पर शका करते है (यदि यह वाक्य सवनीय पशु का उत्पत्ति वाक्य है तो उसी शाखा में चतुर्थ दिन "अग्नि सम्बन्धी पशु का आलभन करे" ऐसा श्रुति वचन है उस वचन की क्या गति = क्या प्रयोजन अर्थात् उसका समाधान क्या है इस शंका पर कहते हैं (तत्र) उस शाखा में (प्राक्) चतुर्थ दिन में उक्त वाक्य का श्रवण

गातरत्राह । तस्यां शाखायां प्राक् चतुर्थदिवसे श्रुतिः उक्त चाक्य श्रवणं गुणार्था अङ्गविधानार्था । कीदृशाङ्गविधानार्थ मिति चेदित्थम् । आग्नेयः पशुरग्निष्टोमआलभ्यते ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्यऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिन्यां सारस्वती मेष्यति रात्रे इति उत्तरसंस्थासाधारणपशूश्चतुर्थदिने प्रतिपाद्य, तत्रैव, यथा वै मत्स्यो ऽविदितः जनमवधूनुते एवं वा एते ऽप्रज्ञायमाना जनमवमानत इति । अस्यार्थः । यथा जलचरो मत्स्यः अविदितः स्वविरोधिजनस्थितिज्ञानशून्यः स्वप्रेक्षकजनमवधू-

---

(गुणार्था:) अंग विशेष के विधान के लिये है । किस प्रकार के अंग के विधान के लिये यह वाक्य है यह प्रश्न हो तो वह इस प्रकार है । अग्निष्टोम संस्थे ज्योतिष्टोमे अग्निदेवत्यः पशुरालभ्यते, उक्थ्य संस्थे ज्योतिष्टोमे ऐन्द्राग्न: पशुरालभ्यते, षोडशिसंस्थे ज्योतिष्टोमे इन्द्रदेवत्यः पशुः (वृष्णिः) मेषः आलभ्यते, अतिरात्र संस्थे ज्योतिष्टोमे सरस्वती देवत्यः पशुः मेषी आलभ्यते । अग्निष्टोमनामवाले ज्योतिष्टोम में अग्नि देवता वाला पशु का आलभन करे, उक्थ्य संस्था नाम वाले ज्योतिष्टोम में ऐन्द्राग्न पशु का आलभन करे, षोडशि संस्था नाम वाले ज्योतिष्टोम में इन्द्रदेवताक पशु का आलभन करे, अति रात्र संस्था नाम वाले ज्योतिष्टोम में सरस्वती देवत्य पशु मेषी का आलभन करे, इन वाक्यों से अग्निष्टोमादि अग्रिम संस्था साधारणओं के पशुओं का

नुते इतो गतो न वेतिसंशयोत्पत्तिपूर्वकं तिरस्करोति, एवम् एते पशवः अप्रज्ञायमानाः स्वविनियोगस्थानमजानन्तः जनं स्वविनियोजनकर्तारम् ऋत्विजम् । अवमानतः तिरस्कुर्वन्तीति स्थलाज्ञाने दोषमभिधाय एभिः सवनानि कथ पशुमन्तीति तत्रेव प्रश्नवाक्यम् । एकेन पशुना सर्वाणि सवनानि कथं पशुयुक्तानि भवेयुरिति प्रश्नार्थः । तदुत्तरं वपया प्रातः सवने प्रचरति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैः तृतीयसवन इति प्रचारविप्रकर्षविधिः । तादित्थमाश्विन ग्रहं गृहीत्वेति पञ्चमदिने श्रुतेन वाक्येन उत्पन्न कर्मण आग्नेयः पशुरालभ्यत

चतुर्थ दिन में प्रतिपादन करके, वहीं जिस प्रकार जलचर मत्स्य “ अविदित ” = अपने विरोधी लोगों की स्थिति के ज्ञान से रहित होता है और अपने को देखने वाले लोगों को (मत्स्य) इस ओर गया है या नहीं इस सन्देह की उत्पत्ति करके तिरस्कृत = व्यग्र करता है इसी प्रकार ये पशु भी अपने विनियोजन = उपयोग के स्थान को न जानते हुए, अपने विनियोजन कर्ता ऋत्विज को तिरस्कृत करते हैं, इस प्रकार पशु के विनियोजन के स्थल के ज्ञान के अभाव में दोष कथन कर (एभि) इत्यादि प्रश्न वाक्य वहीं पढा गया है । एक एक याग में एक२ पशु आये हैं और एक२ याग में तीन २ सवन होते हैं इस कारण एक २ पशु से सब सवन पशु से युक्त कैसे होंगे यह प्रश्न का

इत्यनुवादो निन्दार्थं, निन्दया प्रश्नवाक्योपस्थितिः ततः प्रचारविप्रकर्षविधिः इति साकाङ्क्षं सत्त्वावत्पर्यन्तमेकं वाक्यमिति भावः ॥ २० ॥

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥

पुनः पूर्वपक्षी स्वकोटिं चालयति। तेनेति। तेन

अर्थ है। उसका उत्तर वपा से प्रातः सवन में अनुष्ठान करे पुरो डास से माध्यन्दिन सवन में तथा अङ्गों से तृतीय सवन में करे, इस प्रकार प्रचार के विप्रकर्ष का विधान है। अतः इस प्रकार "आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा" इत्यादि (उपर्युक्त) पञ्चम दिन पठित वाक्य से जो (सवनीय पशु- याग रूप) कर्म उत्पन्न हुआ उस कर्म का "आग्नेयः पशुरग्निष्टोम आलभ्यते" यह वाक्य अनुवाद है, यह अनुवाद स्थल के ज्ञानाभाव की निन्दा के लिये है, इस निन्दा से प्रश्न वाक्य की उपस्थिति होती है उससे (प्रश्न वाक्य की उपस्थिति से प्रचार विप्रकर्ष रूप गुण) का विधान होता है इस अर्थ बोधन में एक दूसरे कि आकाङ्क्षा रखने से "आग्नेयः पशुरग्निष्टोम आलभ्यते" इस वाक्य से लगा कर प्रचार विप्रकर्ष विधायक वाक्य तक एक वाक्य है यह भाव है ॥ २० ॥

पुनः पूर्व पक्षी अपनी कोटि को अपने पक्ष की समर्थक युक्ति को चलाता है। तेनेति। (तेन) वपा प्रचार से अर्थात्

वपाप्रचारोत्कर्षेण उत्कृष्टस्य कालविधिः आश्विनं ग्रहं गृहित्वेति वाक्यम् । अयं भावः प्रधानस्योत्कर्षे प्रातःसवनं अङ्गानामुपाकरणादीनामप्युत्कर्षे प्रातःसवने कुत्र कर्त्तव्यमिति विशेषजिज्ञासायाम् आश्विनग्रहग्रणोत्तरमिति विशेषकालविध्यर्थमुत्पत्तिवाक्यमाग्नेयः पशुरित्येवेति पुनरवान्तरप्रकरणं सिद्धमिति सवनीयार्था एते धर्मा इति ॥ २१ ॥

वपा प्रचार का प्रातः सवन में उत्कर्ष होने से (उत्कृष्टस्य काल विधिः) प्रातः सवन में जो पश्वा लम्भ प्राप्त हुआ उसका आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा " इत्यादि वाक्य काल विधायक है । यह भाव है कि वपा प्रचार प्रधान है उसका (प्रातः सवनमें) उत्कर्ष होने पर उपाकरणादि अङ्गोंका भी (प्रातः सवन में) उत्कर्ष होगा तब प्रातः सवन में वह (उपाकरणादि कहां किस अवसर पर किया जाने योग्य है यह विशेष = स्थल विशेष के ज्ञान की आकाङ्क्षा होने पर " आश्विनं ग्रहं ग्रहीत्वा " यह वाक्य आश्विनी कुमार सम्बन्धी ग्रह के ग्रहण के पश्चात् वह कर्तव्य है इस प्रकार विशेष काल के विधान के लिये है सवनीय पशु का उत्पत्ति वाक्य (तो) आग्नेयः पशुरग्निष्टोम आलभ्यते " यही है अतःपुन रपि सवनीय पशु का अवान्तर प्रकरण सिद्ध हुआ इस कारण ये उपाकरणादि धर्म सवनीय पशु के लिये ही है अग्निषोमीय के लिये नहीं ॥ २१ ॥

नैकदेशत्वात् ॥ २२ ॥

इमं पक्षं सिद्धान्ती दूषयति। नैकेति। न कालविधिसंभवः। उत्कर्षस्यैकदेशत्वाद् वपाप्रचारमात्रोत्कर्षात्। अयं भावः। यदि चतुर्थदिनवाक्यमुत्पत्तिवाक्यं तर्हि अङ्गान्यपि चतुर्थदिनपठितानि उपाकरणादीनि पुनः कालाकाङ्क्षाशून्यानि न च वपाप्रचारोत्कर्षादुपाकरणोत्कर्षः। तदादि

इस पूर्व पक्ष का सिद्धान्ती खण्डन करते हैं। "नैक" इत्यादि सूत्र से (न) "आश्विनं ग्रहं" इत्यादि वाक्य में काल का विधान सम्भव नही, क्योंकि उत्कर्ष को (एक देशत्वात्) एक देशत्व है अर्थात् केवल वपा प्रचार का ही उत्कर्ष होता है। यह भाव है कि यदि चतुर्थ दिन पठित "आग्नेयः पशुः" इत्यादि वाक्य उत्पत्ति वाक्य माना जाय तो उपाकरणा दि अङ्ग जो कि चतुर्थ दिन पठित हैं काल की आकाङ्क्षा से रहित ही हैं और वपा प्रचार के उत्कर्ष से उपाकरण का उत्कर्ष नहीं होता। पञ्चम अध्याय में (अनुयाजा द्युत्कर्ष प्रयाजान्तो पकर्षाधिकरणमें) "तदादिवाऽभि सम्बन्धात्तदन्तमपकर्षेस्यात्" ५-१-२४-सुत्र में (उत्कर्ष जिसका कहा जाता है उससे सम्बद्ध अग्रिम पदार्थों का अपकर्ष जिसका कहा जाता है उससे सम्बद्ध पूर्वतन पदार्थों का होता एसा कहा जायगा उसन्यायानुसार वपा प्रचारादिं (अर्थात् वपा प्रचार और तदुत्तर पदार्थों) का ही उत्कर्ष हो सक्ता है, वपा

वा ऽभिसंबन्धात्तदन्तमपकर्षो स्यादिति पञ्चमे वक्ष्यमाणत्वेन वपाप्रचाराद्युत्कर्ष एव भवेन्न तत्पूर्वतनानामुत्कर्षः सम्भवति येन तेषां कालाकाङ्क्षा स्यादिति ॥ २२ ॥

अर्थेनेति चेत् ॥ २६ ॥

ननु मुष्टिना पिधाय वपोद्धरणमासीतावपाहोमादिति श्रवणात् । न हि पूर्वदिने वपोद्धरणं मुष्टिना पिधायासीन

प्रचार से पूर्वतन (उपाकरणादि) का उत्कर्ष सम्भव नहीं है कि जिससे (उपाकरणादि) को काल विशेष की आकाङ्क्षा है ॥ २२ ॥

इस पर शङ्का करते हैं (पशु के शरीर से) वपा निकाली गई उस छिद्र को मुट्ठी से आच्छादित करके वपा होम होने तक बैठे हुआ ऐसी श्रुति पूर्व दिन के वपाधारण को मुट्ठी से आच्छादित करके बैठा हुआ पुरुष दूसरे दिन (वपा होम हो उतने समय तक बिना किसी आहार विहार के ठहरनहीं सक्ता अतः (उपकरणादि) पूर्व तन अङ्गोंका उत्कर्ष अर्थात् सिद्ध है यह पूर्वपक्षी आशङ्का करता है । अर्थे न इस सूत्र से । इस सूत्र में " उत्कर्षः पूर्वांगानाम् " इन दो पदोंसे पूर्ण करना चाहिये (सूत्रार्थ यह होगा) पूर्व तन (उपाकरणादि) अङ्गोंका उत्कर्ष

उत्तरदिने तावत्कालपर्यन्तं स्थातुं शक्नोत्याहारविहारादि रहितः। अतोऽर्थसिद्धः पूर्वाङ्गोत्कर्ष इति पूर्वपक्ष्याशङ्कते। अर्थेनेति। उत्कर्षः पूर्वाङ्गानामिति पूरणीयम् ॥२३॥

नाश्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ २४ ॥

सिद्धान्ती समाधत्ते। नेति। नोक्तयुक्त्याऽङ्गानामार्थिक उत्कर्षः। अश्रुतिविप्रतिषेधात् तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना

अर्थात् सिद्ध है यह पूर्वपक्षी आशङ्का करता है। अर्थेन इस सूत्र मे। इस सूत्र में "उत्कर्षः पूर्वाङ्गानाम्" इन दो पदों से पूर्ण करना चाहिये (सूत्रार्थ यह होगा) पूर्वतन (उपाकरणादि) अङ्गोंका उत्कर्ष (अर्थेन) अर्थसिद्ध है ऐसी शङ्का कीजाय तो इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ॥ २३ ॥ सिद्धान्ती समाधान करते हैं "न" इत्यादि सूत्र से न उक्त युक्ति से अङ्गों का आर्थिक (अर्थसिद्ध) उत्कर्ष नही होसक्ता क्योंकि (अश्रुतिविप्रतिषेधात्) अङ्गों का उत्कर्ष न होने में श्रुति से विरोध प्राप्त नहीं होता "तृणमुष्टि" (मुठ्ठीभर घास) या "पर्णमुष्टि" मुठ्ठी भरपत्तों से आच्छादन करने से भी "मुष्टिना पिधाय" इत्यादि पूर्व सूत्रोक्त श्रुति से विरोध नहीं आता इस कारण "आश्विनं ग्रहं गृहित्वा" यह सवनीयपशु का उत्पत्तिविधि वाक्य है उस के समीप अङ्गोंका

वा पिधानेऽपि उक्तश्रुत्यविरोधात् । तस्मादाश्विन ग्रहं गृहीत्वेति सवनीयोत्पत्तिविधिः तत्सान्निध्यावङ्गपाठाभावेन न सवनीयावान्तरप्रकरणं सम्भवतीति भावः॥ २४ ॥

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५॥

एवं चतुर्थदिने श्रूयमाणवाक्यं पूर्वोक्तगुणविधानार्थम् । आश्विनं ग्रहं गृहीत्वेति पञ्चमदिनश्रुतं सवनीयोत्पत्तिवाक्य-

---

पाठ न होने से सवनीयपशु का अवान्तर प्रकरण होना सम्भव नहीं यह भाव है ॥ २४ ॥ इस प्रकार चतुर्थदिन पढाजानेवाला ("आग्नेयः पशुरग्निष्टोम आलभ्यते") यह वाक्य पूर्वोक्त (=वपा प्रचाररूपगुण के विधान के लिये है (तथा आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा" यह पञ्चमदिन पढा जानेवाला वाक्यसवनीय पशुका उत्पत्तिवाक्य है यह पक्ष पूर्वोक्त युक्तिओं से सिद्ध होनेपर, इस उत्पत्ति वाक्य के समीप अङ्ग समुदाय न होने से सवनीय पशु का अवान्तर प्रकरण नहीं है यह सिद्धहुआ। अतएव = अवान्तरप्रकरण न होने से ही दूसरा (उपाकरणादिधर्म उभयार्थयह) पूर्वपक्ष तथा तीसरा ये धर्म केवल सवनीयार्थ ही है यह पूर्वपक्ष दोनों पक्ष-खण्डित होचुके अतःसिद्धान्तका उपसंहार (समापन) करते हैं । स्थानात् इत्यादि सूत्र से । (स्थानात्) स एष उपवसथी येऽहन्

मिति पूर्वोक्तयुक्तिभिः सिद्धौ उत्पत्तिवाक्यसमीपेऽङ्गकलापाभावात्सवनीयस्य अवान्तरप्रकरणं नास्तीति सिद्धम्। अत एव द्वितीयतृतीयपूर्वपक्षौ निरसताविति सिद्धान्तमुपसंहरति। स्थानादिति। स्थानात् पूर्वोक्तवचनेन उत्कृष्टाग्नी षोमीयप्रचारस्थानादङ्गकलापपाठस्य पूर्वस्याग्नीषोमीयस्य धर्माः ननु अवान्तरप्रकरणासिद्धावपि महाप्रकरणस्य जागरूकत्वाद्

द्विदेवत्यः पशुरालभ्यते" इस पूर्वोक्त वचनसे उत्कृष्टाग्नीषोमके प्रचारकास्थान सन्निधान अङ्गकलाप के पाठका होने से (पूर्वस्य) अग्नीषोमीय पशुके धर्म होने चाहिये। शङ्का करते हैं:— अवान्तर प्रकरणसिद्ध नहीं होता तथापि (ज्योतिष्टोम का) महाप्रकरण जागरूक = विद्यमान होने से, उसमहाप्रकरण का दुर्बल "सन्निधि" प्रमाण से कैसे बाध होगा इसपर कहते हैं। (संस्कारस्य) उपाकरणादि पशुधर्मों का समुदाय रूप संस्कार (तदर्थत्वात्) अग्नीषोमीय पशु के लिये होने से उक्तमहाप्रकरण का बाध होता है। यह भाव है कि परस्पराकाङ्क्षा रूप प्रकरण (यहां) साक्षात् प्रधान के लिये पशुधर्मों का स्वीकार नहीं कर सक्ता, क्योंकि (प्रधान भूत) सोमयाग में पशुधर्मों की आकाङ्क्षाका अभाव है। इस कारण प्रधान याग के विषय में प्रकरण पराङ्मुखहुआ पश्चात् धर्मों का श्रवण व्यर्थ होगा इस भय से (वही) प्रकरण, अध्याय ३-१-८-१७

दुर्बलसान्निधिप्रमाणेन च प्रकरणस्य कथं बाधः तत्राह। संस्कारस्य पशुधर्मकलापस्य तदर्थत्वाद् अग्नीषोमीयपश्वर्थत्वात्। अयं भावः आकाङ्क्षारूपं यत्प्रकरणं तत्साक्षात् प्रधानार्थत्वेन पशुधर्मान् ग्रहीतुं न शक्नोति, पशुधर्माणां सोमयागे आकाङ्क्षाविरहात्। अतः तद्विषये परानुमुखं प्रकरणं पुनश्च धर्म्माम्नानमानर्थक्यभियासप्तदशारत्निन्यायेन तदङ्गेषु पशुषु परम्परया सन्मुखम्। तत्रापि स्थानसहितस्य प्रकरणस्य बलवत्त्वादग्नीषोमीयपश्वर्थत्वमेवेति ॥ २५ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २६ ॥

में ग्रथित सप्तदशारत्निन्यायके अनुसार, परम्परा से प्रधान यागके अङ्ग जो पशु, उन में सन्मुख होता है, और उन पशुओंमें भी, स्थान सहित प्रकरण (केवल प्रकरण की अपेक्षा) बलवान होने से अग्नीषोमीय पशुके लिये ही उपाकरणादि धर्मोंको ग्रहण करता है ॥ २५ ॥

इस सिद्धान्त के लिये (केवल स्थानसहित प्रकरण ही नहीं किन्तु लिङ्ग प्रमाण भी है ऐसा कहते हैं। लिंग इत्यादि सूत्र से (लिंग दर्शनात्) यहां लिंग प्रमाण भी दिखता है पूर्वमें कहे हुए वचनों में " पुरोडाशेनमाध्यन्दिने सवने " = पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में (प्रचार करता है) यह लिंग है। वह इस प्रकार है:- यदि महाप्रकरणसे (उपाकरणादि संस्कार-) तीनों

उक्तार्थे लिङ्गमप्यस्तीत्याह । लिङ्गेति । लिङ्गं दर्शनात्पूर्वोक्तवचने पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवनइति लिङ्गम् । तथा हि यदि त्रयाणां महाप्रकरणेन पशु धर्माः तर्हि अग्नीषोमीय वपया प्रचर्य अग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरतीति श्रुतत्वात् पुरोडाशः सवनी यस्य नास्त्येवा पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने इत्युक्तम् । अग्नीषोमीयमात्रधर्मत्वे पुरोडाशयागस्य पशुयागाङ्गत्वाद् अतिदेशेन प्राप्तौ तस्य माध्यन्दिनसवनकालविधानं संगच्छतइति लिङ्गम् ॥ २६ ॥

पशुओं के धर्म हो, तो अग्नीषोम संबंधी वपा से प्रचरण करके (अग्नीषोमीय पशु के पुरोडाश से प्रचरण करता है ऐसा श्रुत होने से पुरोडाश सवनीय पशु को है ही नहीं (= प्राप्त ही नहीं होता) और पुरोडाशेन माध्यन्दिन सवने " = पुरोडाश माध्यन्दिन में प्रचरण करता है" यह कहा गया है (सो सवनीय पशु में बन नहीं सक्ता (किन्तु) यदि ये (उपाकरणादि) केवल अग्नीषोमीय पशु के ही धर्म हो तो पुरोडाश याग पशुयाग का अंग होने से (अग्नीषोमीय पशु याग में कहे हूए पुरोडाश याग की अतिदेश से सवनीय पशु में भी प्राप्ति होगी, और वह प्राप्ति होने से उसमें माध्यन्दिन सवनरूप काल का विधान भी सङ्गत होगा यह लिंग प्रमाण है ॥ २६ ॥

अचोदना गुणार्थेन ॥ २७ ॥

नन्ु अथो पशोरेवच्छिद्रमपिदधातीति श्रुत्या पशोर्वपोद्धरणेयच्छिंद्रं तत्पिधानार्थतया सवनीयपशावपि पुरोडाशोऽतिदेशं विना प्राप्नोतीति न पूर्वोक्त लिङ्गं स्वसमीहितसाधकमत्राह । अचोदनेति । गुणार्थेन छिद्रपिधानार्थेन अचोदना विधिर्न, किंत्वर्थवादः पुरोडाशस्तावकः ॥ २७ ॥

शङ्का करते हैं — " अथो " = फिर " पशोरेव " पशु के ही " छिद्रम् " = छिद्र को " अपि दधाति " = आच्छादित करता है इस श्रुति से, वपा के उद्धरण = निकालने से जो छिद्र हो जाता है उसके आच्छादन के लिये सवनीय पशु में भी पुरोडाश अतिदेश के विना ही प्राप्त होता है इस कारण पूर्वोक्त (२६ वें सूत्र में कहा हुआ) लिङ्ग प्रमाण सिद्धान्ती के इष्ट पक्ष का साधक नहीं है इस शंका पर समाधान कहते हैं। अचोदना इत्यादि सूत्र से। (गुणार्थेन) छिद्र के आच्छादन की (अचोदना) विधि नहीं, किन्तु पुरोडाश की स्तुति करने वाला अर्थवाद है ॥ २७ ॥

कोई विद्वान इस अधिकरण की रचना इस प्रकार की है सो देखाया जाता है। अत्र " उपाकरणादि को अग्नीषोमीय

पशु का धर्म कथन करने के लिये पूर्व पक्ष करते हैं। तुल्यः इति ज्योतिष्टोम याग में तीन पशु दान किये जाते हैं जिनमें एक को "अग्नीषोमीय" दूसरे को "सवनीय" तथा तीसरे को "अनुबन्ध्य" कहते हैं, "अग्नी तथा सोम देवता के उद्देश से "औपवस्थ्य" नामक दिन में जिसका दान किया जाता है उसका नाम "अग्नीषोमीय" "सौत्य" नामक दिन में जिसका दान किया जाता है उसका नाम "सवनीय" अवभृथ नामक इष्टि के अनन्तर जिसका दान किया जाता हैं उसका नाम "अनुबन्ध्य" है। जिस दिन याग का आरम्भ किया जाता है उसको "औपवस्थ्य" तथा जिस दिन "सोम" कूटकर हवन के लिये रस निकाला जाता है उसको "सौत्य" कहते हैं, या यों कहो कि प्रथम दिन का नाम "औपवस्थ्य" और द्वितीय दिन का नाम "सौत्य" है। मुख्य याग के समाप्त हो जाने पर विधि पूर्वक "अवभृथ" नामक स्नान के अनन्तर जो उक्त याग का अंग भूत "इष्टि" की जाती है उसको "अवभृथेष्टि" अथवा "अवभृथ" कहते हैं, उक्त तीनों पशुओं का विधान करके "धिष्ण्य" नामक वेदि के निर्माणान्तर "उपाकरण" "पर्यग्निकरण" आदि पशु धर्म विधान किये हैं "सदो" नामक "मण्डप" तथा "आग्नीध्र" नामक शाला में जो मृतिका और शर्करा दोनों मिलाकर हस्त परिमाण वेदियें बनाई जाती है उनको "धिष्ण्य" तथा "प्रजापतेर्जायमानः" और "इमं पशुं" इन दोनों मन्त्रों से पशु के स्पर्श को

" उपाकरण " कहते हैं, पर्य्यग्निकरण का अर्थ पीछे कर आए हैं, उक्त धर्म अग्नीषोमीयादि सब पशुओं के समान रूप से विधान किये हैं किंवा उनके मध्य किसी एक के यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्व पक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्व पक्षी का कथन यह है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उक्त तीनों पशुओं का विधान करके उपाकरणादि धर्म विधान किये हैं, प्रकरण के समान होने से उक्त पशु धर्मों का भी समान रूप से सम्बन्ध होना उचित है, क्योंकि प्रकरण भेद किंवा अन्य किसी प्रबल प्रमाण के विना सब के मध्य किसी एक में उक्त धर्मों के विधान की कल्पना नहीं की जा सक्ती । तात्पर्य्य यह है कि यदि उक्त धर्म अग्नीषोमीयादि के मध्य किसी एक पशु के प्रकरण में विहित होते तो उनका किसी एक में विधान माना जाता परन्तु ऐसा विधान नहीं किया । किन्तु साधारण रूप से विधान किया है । और साधारण रूप से विधान किये गये धर्म का विशेष पशु व्यक्ति में पर्य्यवसान कल्पना करना ठीक नहीं । इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकरणादि पशु धर्म विधान किये गये हैं वह अग्नीषोमीयादि सब पशुओं के विधान किये हैं । उनके मध्य किसी एक के नहीं । (पशु विधिः) पशु के उद्देश से विधान किये गये उपाकरणादि धर्म (सर्वेषां) अग्नीषोमीयादि सब पशुओं के (तुल्यः) समान हैं । क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण से उनका सब पशुओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध पाया जाता है ॥ १७ ॥

अब दूसरा पूर्वपक्ष करते हैं--स्थानाच्च । जो धर्म जिसकी सन्निधि में विधान किया गया है वह उसीका धर्म होसक्ता है दूसरे का नहीं । उपाकरणादि धर्म यदि अग्नीषोमीयादि सब पशुओं की सन्निधि में विधान किये जाते तो वह सब के धर्म हैं इस प्रकार की कल्पना होसक्ती । परन्तु इनका सब की सन्निधि में विधान न करके केवल " अग्नीषोमीय " नामक प्रथम पशु की सन्निधि में विधान किया है अर्थात् " सौत्य " नामक दिन से प्रथम औपवस्थ्य नामक दिन में " धिष्ण्य " संज्ञक वेदियों के निर्माणानन्तर उक्त धर्मों का विधान किया गया है । इससे उनका " औपवस्थ्य " स्थान स्पष्ट है और अग्नीषोमीय पशु का भी वही स्थान है । क्योंकि उसका भी उसी दिन दान किया जाता है । स्थान, क्रम, सन्निधि तथा सामीप्य यह चारों पर्य्याय शब्द हैं । इस प्रकार दोनों का एक स्थान होने से स्पष्ट होता है कि उक्त धर्म यदि सब पशु के होते तो अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में कैसे विधान किये जाते । परन्तु किये हैं, इसलिये अनुमान होता है कि वह धर्म उसी के विधान किये हैं, सब के नहीं । (पूर्वस्य) उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के होने चाहिये । क्योंकि (स्थानात्) उसकी सन्निधि में उनका पाठ है ॥ १९ ॥

अब तीसरा पूर्वपक्ष करते हैं । श्वस्त्वे । आश्विनं ग्रहंगृहीत्वा त्रिवृतायूपंपरि वीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति " आश्विन " संज्ञक पात्र का ग्रहण करके त्रिगुण रज्जू से यूप को लपेटे और

लपेटकर अग्नि देवता के उद्देश से देय सवनीय पशु का 'उपाकरण' नामक संस्कार करे, इस वाक्य में स्पष्टरुप से सवनीय पशु का "उपाकरण" संस्कार विधान किया है। यदि अग्नीषोमीय का ही उक्त संस्कार अभिप्रेत होता तो सवनीय का नाम न लिया जाता और जो उक्त धर्मों का विधान " सौत्य " दिन से प्रथम "औपवस्थ्य" दिन में किया है वह मुख्य नहीं किन्तु गौण है अर्थात् उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के हैं इस अभिप्रयाय से नहीं किया गया किन्तु सौत्यदिन में देय पशु के सम्बन्धार्थ प्रथम ही उन का विधान किया गया है। यह लोकसिद्ध बात है कि कहीं २ प्रथम धर्मों का विधान करके पश्चात् धर्मी का विधान और कचित् धर्मी का विधान करके पश्चात् धर्मों का विधान किया जाता है। तात्पर्य्य यह है कि सौत्य दिन के अत्यन्त सन्निहित है और उसके सन्निहित होने से उसमें प्रदेय सवनीय पशु भी अत्यन्त सन्निहित है। इस अत्यन्त सन्निहित रूपगुण के अनुसन्धान से ही औपवस्थ्य दिन में उक्त धर्म विधान किये गये हैं। अग्नीषोमीय पशु के अभिप्राय से नहीं। सार यह निकला कि यद्यपि उक्तधर्म अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में विधान किये गये हैं इससे उनको अग्नीषोमीय पशु का धर्म होना चाहिये तथापि वह सन्निधि गौण होने से विनियोजक नहीं हो सक्ती और सवनीय पशु का उपाकरण एक शाखा में साक्षात् श्रुत है प्रकरण से वह धर्म सवनीय पशु के साथ विनियोग को प्राप्त हो सकते हैं। क्योंकि

प्रकरण सर्व साधारण है। इनको छोडकर केवल सन्निधि मात्र से उनको अग्नीषोमीय पशु का धर्म नहीं मान सक्ते। इसलिये उक्त धर्म सवनीय पशु के हैं अग्नीषोमीय के नहीं। (अ) उक्त धर्म सवनीय पशु के हैं। क्योंकि (एकेषां) एक शाखा में उनका उसके साथ स्पष्ट सम्बन्ध पाया जाता है और (तत्र) उक्त धर्मों का (प्राक् श्रुतिः)। सौम्य दिन से प्रथम औपवस्थ्य दिन में श्रवण है (गुणार्था) वह गौण है ॥ २० ॥

अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं तेनोत्कृष्टस्य आश्विनं ग्रहं गृहित्वा इस वाक्य में सवनीय पशु का उपाकरण धर्म विधान नहीं किया किन्तु उपाकरण का अनुष्ठान काल विधान किया है कि सवनीय प्रशु का उपाकरण संस्कार " आश्विनं ' ग्रहग्रहण के अनन्तर होना चाहिये। यदि उक्त वाक्य में काल का विधान विवक्षित न होता तो " क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग न किया जाता। परन्तु उसमें उक्त प्रत्यय का प्रयोग किया है इससे स्पस्ट है कि उक्त वाक्य काल मात्र का विधायक है संस्कार का नहीं। तात्पर्य्य यह है कि " समान कर्तृकयोः पूर्वकाले " अष्टा० ३। ४। २१ = जिन दो क्रियाओं का कर्ताएक है उन के मध्य पूर्व काल वर्ती क्रिया में क्त्वा प्रत्यय होता है। इस सूत्र के अनुसार उक्त वाक्यान्तर्गत " गृहित्वा " पद में जो क्त्वा " प्रत्यय है वह पूर्व काल में हुआ है। और " उपाकरोति " पद से पूर्व विहित " उपाकरण " रूप संस्कार का अनुवाद है।

और वह केवल काल के विधानार्थ किया गया है, यदि उक्त आश्विन वाक्य में अनुवाद न मानकर विधान ही माना जाय तो पूर्व विधान सर्वथा व्यर्थ हो जाता है, सो ठीक नहीं प्रत्युत उस की अपेक्षा इस वाक्य में पूर्व विहित का अनुवाद मानना ही ठीक है, क्योंकि उसके मानने से दोनों वाक्य सार्थक हो जाते हैं। सार यह निकला कि " आश्विन " वाक्य में केवल उपाकरण का ग्रहण है पर्य्यग्निकरणादि का नहीं, यदि इसको अनुवादक न मानकर विधायक माना जाय तो पर्य्य ग्निकरणादि के लिये पूर्व विधायक वाक्य का भी आश्रयण करना पडता हैं, क्योंकि इस वाक्य से उनका विधान नहीं पाया जाता। जब इस प्रकार इस वाक्य को विधायक मानकर भी पूर्व वाक्य को विधायक तथा इष्ट सिद्धि के लिये उस का वहां से सवनीय स्थान में उत्कर्ष भी मानना पडता है तब पूर्व वाक्य को विधायक और आश्विन वाक्य को अनुयादक मान लेना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि दोनों के विधायक मानने में गौरव तथा वाक्य भेद दोष है, यह कदापि नहीं हो सक्ता कि एक ही वाक्य काल तथा संस्कार दोनों अर्थों का एक ही काल में विधान करे, इसलिये ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में जो उपाकरणादि पशु धर्म विधान किये गये हैं वह अग्नीषोमीय के किये हैं सवनीय के नहीं (तेन) आश्विन वाक्य में (उत्कृष्टस्य) उत्तरभावी " सवनिय " पशु के (कालविधिः) अनुष्ठान काल का विधान है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से संबन्ध है ॥ २१ ॥

अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं। एक देशत्वात् यद्यपि आश्विन वाक्य में उपाकरणादि संस्कारों के एक देश उपाकरण मात्र का ग्रहण किया है तथापि एक देश के ग्रहण से संपूर्ण संस्कारों का ग्रहण हो सकता है और सबके ग्रहण हो जाने से उक्त वाक्य को काल मात्र का विधायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में एक ही वाक्यकालका विधायक तथा संस्कार का अनुवादक होने से वाक्य भेद रूप दोष कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि एक वाक्य एक ही व्यापार से दो अर्थों का विधायक हो सकता है परन्तु अनुवादक तथा विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि यह दोनों विरुद्ध अर्थ हैं, और विरुद्ध होने से इन के लिये भिन्न व्यापार की आवश्यकता है, और यदि यह भी मान लिया जाय कि उपाकरणा दि संस्कारों का विधायक पूर्व वाक्य ही है आश्विन वाक्य में केवल काल का विधान तथा उपाकरण का अनुवाद किया गया तो भी सान्निधि मात्र से वह अग्नीषोमीय के धर्म नहीं हो सकते किन्तु " आश्विन " वाक्य से सवनीय पशु के धर्म हो सकते हैं, यदि वह सवनीय पशु के धर्म न होते तो आपके मन्तव्या नुसार सवनीय पशु के उपाकरण का अनुवाद क्यों किया जाता अनुवाद करने से ही स्पष्ट है कि आश्विन वाक्य में उपाकरणादि संस्कारों के एक देश उपाकरण मात्र का ग्रहण है और वह सब संस्कारों का उपलक्षण है; इसलिये वह सब संस्कार सवनीय पशु के विधान किये गये हैं, अग्नीषोमीय के नहीं (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (एक देश त्वात्) एक देश के विधा

न से समुदाय का विधान पाया जाता है ॥ २२ ॥

अब उक्त अर्थ में पुनः आशङ्का करते हैं । अर्थेन । एक देशके ग्रहण से समुदाय का ग्रहण होने पर भी समुदाय के विधान का लाभ नहीं हो सक्ता और एक देश के अनुवाद से समुदाय का अनुवाद हो सकता है और जो अनुवाद पक्ष मे वाक्य भेद रूप दोष कथन किया है सो ठीक नहीं क्योंकि अनुवाद पूर्वक काल का विधान सर्व सम्मत है अर्थात् जिन संस्कारों के अनुष्ठानार्थ काल का विधान विवक्षित है यदि उनका अनुवाद न किया जाय तो काल का विधान ही नहीं हो सक्ता, इसलिये आश्विन वाक्य पूर्व विहित उपाकरणादि संस्कारों का अनुवादक है सवनीय पशु के धर्म उपाकरणादि का विधायक नहीं । (अर्थेन) आश्विन वाक्य में सब का ग्रहण अर्थ से होता है साक्षात् नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ॥ २३ ॥

अब उक्त आशङ्का का खण्डन करते हैं । नश्रुति । " आश्विन ग्रहं गृहित्वा " वाक्य में सवनीय पशु के उपाकरण का साक्षात् विधान श्रवण किया है । उक्त वाक्य को काल मात्र का विधायक मानने में उसके साथ विरोध आजाता है सो ठीक नहीं । तात्पर्य यह है कि यदि उपाकरणादि धर्मों का अग्निषोमीय में विधान माने तो सवनीय में उनका अति देश मानना होगा " प्रकृति वद् विकृति कर्तव्या वाक्य से प्राप्ति का नामअति देश है । अति देश से

प्राप्त तथा साक्षात् श्रुति के मध्य साक्षात् श्रुत प्रबल होता है जैसा कि कहा है कि श्रुता श्रुतयो श्रुतं बलीयः श्रुत अश्रुत दोनों के मध्य श्रुत बली होता है । सवनीय पशु में उपाकरणादि धर्म श्रुत हैं उनको छोड़कर चोदक वाक्य से अश्रुत का ग्रहण ठीक नहीं इस लिये ज्योति ष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकराणदि पशु धर्म किये गये हैं वह अग्नीषोमीय के विध न नहीं किये किन्तु सवनीय पशु के लिये हैं । (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (श्रुतिविप्रति षेधात) ऐसा मानने में साक्षात् श्रुति से विरोध होता है ॥ २४ ॥

अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं । स्थानात्तु । यद्यपि प्रकरण के साधारण होने से उपाकरणादि पशु धर्मों का सब पशुओं के साथ संबन्ध पाया जाता है और आश्विन वाक्य के बल से प्रकरण का सङ्कोच हो जाने के कारण उक्त धर्म सवनीय पशु के भी सिद्ध हो सक्ते हैं तथापि आश्विन वाक्य से प्रकरण का सङ्कोच असम्भव है । यदि आश्विन वाक्य उपाकरणादि संस्कारों का विधायक होता तो कदाचित् प्रकरण के सङ्कोच की कल्पना की जा सक्ती परन्तु वह उक्त संस्कारों का विधायक नहीं किन्तु उनके अनुवाद पूर्वक सवनीय पशु के उपाकरण काल का विधायक है । क्योंकि उपाकरणादि सम्पूर्ण संस्कारों का प्रथम औपवस्थ्य दिन में विधान हो चुका है और जिनका विधान का विधान हो चुका

है उनका आश्विन वाक्य में पुनर्विधान कैसे हो सकता है। क्या यह कदाचित् सम्भव है कि जो प्रथम ही ज्ञात है उसको पुनरपिज्ञातव्य समझकर ज्ञात करने की चेष्टा की जाय। औपवस्थ्य दिन में प्रथम ही सब संस्कार विधान किये गये हैं केवल सवनीय पशु का उपाकरण काल विशेष रूप से जिज्ञासितव्य है उसी के विधानार्थ आश्विन वाक्य प्रवृत्त हुआ है उसको उपाकरणादि संस्कारों का विधायक कल्पना करना ठीक नहीं। और अनुवादक होने से वह प्रकरण से सङ्कोच का कारण भी नहीं हो सकता। और उसके संकुचित न होने से उनका सवनीय पशु के साथ साक्षात् सम्बन्ध होना भी असम्भव है और अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिस के बल से उक्त धर्मों का सवनीय पशु के साथ सम्बध कल्पना किया जाय अर्थात् औपवस्थ्य दिन में उपाकरणादि सब संस्कार विधान किये हैं। और औपवस्थ्य दिन अग्नीषोमीय का है, सवनीय पशु का नहीं, यदि उक्त संस्कारों का विधान " सौत्य " दिन में होता तो वह स्थान की एकता के कारण सवनीय पशु के धर्म समझेजाते। क्योंकि सवनीय पशु का भी "सौत्य " ही स्थान है, परन्तु "औपवस्थ्य" दिन में विधान होने से वह स्थान की एकता के कारण "अग्नीषोमीय" पशु के धर्म हो सकते हैं इसमें कोई दोष नहीं। और स्थान रूप एक दृढ़ प्रमाण मिल जाने से उनका किसी अन्य पशु के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी कल्पना नहीं किया जा सकता और न प्रकरण

के संकोच की कोई आवश्यकता है। प्रकरण प्रमाण केवल उक्त धर्मों का सब पशुओं के साथ सम्बन्ध सामान्य पाया जाता है और वह अग्नीषोमीय पशु में उनका विधान तथा अन्य दोनों में चोदक वाक्य से उनका अति देश मान लेने में भी चरितार्थ हो जाता है। उसके सहारे कोई विशेष कल्पना नहीं कर सक्ते। तात्पर्य यह है कि स्थान प्रमाण से उक्त धर्म. अग्नीषोमीय पशु के स्पष्ट हैं और स्थान प्रमाण को छोडकर अन्य कोई पुष्कल प्रमाण नहीं जिससे स्थान का बाध किया जाय और दान क्रम से भी अग्नीषोमीय पशु ही उपस्थित को छोडकर अनुप स्थित पशु के धर्म की कल्पना करना जघन्य तथा निष्प्रमाण है जैसा कि कहा है " उपस्थित परित्यज्यानुपस्थित कल्पने माना भावः " = उपस्थित को छोड कर अनुपस्थित की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं और दान क्रम से जो प्रथम उपस्थित है, योग्यता के बल से भी उक्त धर्म उसी के होने चाहिये, क्योंकि संस्कृत हुए बिनापशु का दान तथा संस्कारों के सम्बन्ध बिना उसका संस्कृत होना असम्भव है सार यह निकला कि जितने उपाकरणादि पशु संस्कार विधान किये गये हैं वह पशु के उद्देश से किये गये है, याग के उद्देश से नहीं और सब पशुओं के मध्य अग्नीषोमीय पशु ही मुख्य तथा प्रथम उपस्थित है, इसलिये उनका अग्नीषोमीय पशु के साथ साक्षात् सम्बन्ध और सवनीयादि के साथ अति देशिक सम्बन्ध है

अर्थात् उक्त धर्मों का अग्नीषोमीय पशु में साक्षात् विधान और सवनीयादि विशेष पशुओं में चोदक वाक्य से अतिदेश होता है उनमें उनका विधान नहीं किया गया । "तु" शब्द उक्त पूर्व पक्ष के निराकरणार्थ आया है (पूर्वस्य) उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के विधान किये जाने चाहिये, क्योंकि (स्थानात्) सन्निधि प्रमाण ऐसा ही पाया जाता है और (संस्कारस्य) संस्कार मात्र को (तदर्थत्वात्) अग्नीषोमीय पशु के लिये होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥ २५ ॥

अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं । लिङ्ग । "अग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति" = प्रकाशस्वरूप अग्नि तथा सोम स्वभाव सोम देवता के उद्देश से पुरोडाश का हवन करें, इस वाक्य में अग्नीषोमीय पुरोडाश का विधान करके पश्चात् पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने" = मध्यन्दिने सवन में भी पुरोडाश से हवन करे, इस वाक्य में जो सवनीय पुरोडाश का अनुवाद करके मध्यन्दिन काल का विधान किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है । यदि उपाकरणादि धर्म अग्नीषोमीय पशु के विधान किये जाते तो अग्नीषोमीय पुरोडाश के अनन्तर सवनीय पुरोडाश के काल का विधान किया जाता क्योंकि उनका विधान माने बिना केवल काल का विधान नहीं हो सकता अर्थात् जब औपवसथ्य दिन में अग्नीषोमीय पशु के धर्मों तथा तदन्तर अग्नीषोमीय पुरोडाश का

विधान माना जाय तब " सौम्य " आदि दिनों में उक्त धर्मों तथा पुरोडाश का चोदक वाक्य द्वारा अतिदेश होने से उनके अनुष्ठानार्थ काल की जिज्ञासा भी हो सकती है और उसकी जिज्ञासा होने से उसका विधान होना सम्भव है । तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों में सवनीय पशु के उपाकरण काल तथा पुरोडाश के हवन काल का तभी विधान उपपन्न हो सकता है यदि औपवसथ्य दिन में अग्नीषोमीय पशु के उक्त धर्मों तथा पुरोडाश के हवन का विधान मान कर सवनीयादि पशुओं तथा सौम्य आदि दिनों में उनका अतिदेश माना जाय, क्योंकि प्रथम अग्नीषोमीय में विधान और सवनीयादि में पश्चात् अतिदेश माने बिना उक्त लिङ्ग वाक्यों में उनके अनुष्ठान काल का विधान नहीं बन सक्ता, परन्तु किया है इससे अनुमान होता है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकरणादि धर्म विधान किये गये हैं वह अग्नीषोमीय के किये हैं सवनीयादि के नहीं । क्योंकि उनमें उनका अतिदेश द्वारा सम्बन्ध होता है (च) और (लिङ्ग दर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥ २६ ॥

ननु " आश्विनं " तथा " पुरोडाशेन " यह दोनों वाक्य अर्थवाद हैं, कालके विधायक नहीं उत्तर—अचोदना । यदि

"आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा" वाक्य तथा "पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने" वाक्य इन दोनो वाक्यों को काल का विधायक न मान कर केवल अर्थवाद ही माना जाय तो सवनीय पशु के उपाकरण काल का तथा सवनीय पुरोडाश के हवन काल का किसी प्रकार से भी लाभ नहीं होसक्ता, क्योंकि उक्त दोनों वाक्य अर्थवाद होने से विधायक नहीं होसक्ते और अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे काल का विधान माना जाय और अन्यत्र काल का विधान न पाये जाने से इन दोनों वाक्यों का अर्थवाद होना भी असम्भव है अर्थात् जिनका विधान अभी कहीं भी पाया नहीं जाता उनका गौण रूप से अर्थवाद वाक्यों में अनुवाद कैसे होसक्ता है और उसके न होने से वह अर्थवाद भी कैसे होसक्ते हैं और सवनीय पुरोडाश के हवन काल का तथा सवनीय पशु के उपकरण काल का विधान अत्यन्त आवश्यक है जो उक्त दोनों को विधायक माने बिना नहीं होसक्ता। इसलिये उक्त दोनों का क्या अर्थवाद नहीं किन्तु उक्त काल के विधायक हैं। सार यह निकला कि ज्योतिष्टोम यागके प्रकरण में पर्यग्निकरणादि धर्म "अग्नीषोमीय" पशुके विधान किये हैं उसमें उनका अनुष्ठान विधिके बलसे और "सवनीय" तथा "अनुबन्ध्य" पशु में "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य द्वारा अतिदेश होनेसे होता है, तीनों में विधिबल से नहीं ॥ २७ ॥

शाखा हरणादीनामुभय दोह धर्मत्वं । अधि. ८ ।

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥ २८ ॥

दर्शपूर्णमासे सायं दोहः प्रातर्दोह इति द्वयं सान्नाय्य रूप हविः सम्पादनार्थमस्ति । प्रथमः अमावस्यायां सायं काले द्वितीयः प्रातिपदि प्रातःकाले दोहो भवति । तत्र सायं

अत्र शाखाहरणादियों को सायं प्रातः उभय दोहों का धर्म कथन करते हैं अष्टम अधिकरण से । दर्शपूर्णमास याग में दाध तथा दूध रूप हवि के सम्पादन के लिये सायं प्रातः दो बार दोहन होता है । प्रथम दोह अमावस्या दिन में सायंकाल तथा द्वितीय दोह प्रतिपत् दिन में प्रातःकाल में होता है उक्त दोनों दोहों के मध्य सायं दोह के दिन में पलाश शाखा छेदन, आरहण वत्सापाकरणादि दोह के धर्म विधान किये हैं । वे सब सायं दोह के धर्म हैं किंवा सायं प्रातः दोनों दोह के धर्म हैं इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । दोहेति । (शृतं) प्रातर्दोह (असंयुक्तं) दोह के धर्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि (दोहयोः) दोनों दोहों के (कालभेदात्) काल भेद है । पूर्व न्याय से सायं दोह उक्त धर्मों के सन्निहित है यह भाव है । अर्थात् जैसे ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित होने पर भी उपाकरणादि धर्मों का अग्नीषोमीय पशु के साथ ही सम्बन्ध होता है सवनीय तथा अनुबन्ध्य पशु के साथ नहीं वैसे ही

दोह दिने पलाशशाखाच्छेदन वत्सापाकरणादयोदोहधर्माः विहिताः। ते सर्वे सायं दोहार्थाः उतोभयार्थाः इति सशये पूर्व पक्षमाह। दोहेति । शृतं प्रातर्दोहः असंयुक्तं दोह धर्मेणासंयुक्तं द्वयोः काल भेदात् । पूर्व न्यायेन सायं दोहस्य तेषां धर्माणां सन्निधानादिति भावः ॥ २८ ॥

प्रकरणाविभागाद्वा संयुक्तस्य कालमात्रम् ॥ २९ ॥

सिद्धान्तमाह। प्रकरणेति। प्रकरणस्य महाप्रकरणस्य अविभागाद् उभयोरभेदाद् उभयोरङ्गम्। कालशास्त्रमैन्द्रं दध्यमावास्यायाम् ऐन्द्रं पयो ऽमावास्यायामिति काल

दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित होने पर भी सन्निधिरूप प्रमाण के बल से दोह धर्मों का सायं दोह के साथ ही सम्बन्ध होना उचित है, प्रकरण के ऐक्य होने से दोनों दोहों के साथ नहीं इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो शाखा हरणादि दोह धर्म विधान किये गये हैं वह सायं दोह के ही हैं प्रातः सायं दोनों के नहीं ॥ २८ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। प्रकरणेति। (प्रकरणस्य) महाप्रकरण का (अविभागात्) दोनों दोहों में भेद न होने से दोह धर्म सायं प्रातः दोनों दोहों में अङ्ग होता है। (कालशास्त्रं) ऐन्द्रं दधि = इन्द्र देवता के उद्देश से अमावास्या में दधि तथा

शास्त्रं संयुक्तस्यैव अङ्गसंयुक्तस्य प्रधानस्यैव । अयं भावः । न सायंदोहस्य पूर्वेद्युराम्नानं, किं तु उत्तरस्मिन्नेव ऐन्द्रं दधीत्यादिवाक्येन प्रधान सिद्धौ अङ्गानामपि स एव कालः दधि मद्यो न भवतीति पूर्वेद्युरनुष्ठानमर्थापत्त्या न वचनेनेति पूर्वस्माद्वैषम्यामिति ॥ २९ ॥

दूध की आहुति दी जाती है " यह काल शास्त्र (संयुक्तस्यैव) अङ्ग संयुक्त प्रधान याग का ही विधायक है । यह भाव है कि सायं दोह तथा शाखा हरणादि दोह धर्मों का प्रथम दिन = अमावास्या में विधान नहीं किया किन्तु दूसरे प्रतिपत् दिन में किया है, इस प्रकार दोनों दोहों तथा उनके धर्मों का एक ही स्थान में विधान होने से परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है । " ऐन्द्रं दधि " इत्यादि वाक्य से प्रधान याग के सिद्ध होने पर जो प्रधान याग काल होता है वही अङ्गों का होता है । प्रतिपत् में दधि तथा दूध यह दोनों हवि के लिये अपेक्षित है । और उसी अपेक्षा की निवृत्त्यर्थ प्रतिपत् में ही गोओं का सायं प्रातः दोहन तथा शाखा हरणादि उनके धर्मों का विधान किया गया है । परन्तु प्रतिपत् में दूध प्राप्त होने पर भी दधि शीघ्र प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह मध्य में रात्रि का व्यवधान हुए बिना ठीक २ नहीं बन सकता और रात्रि का व्यवधान तभी हो सकता है जब अमावास्या के दिन सायंकाल में गौओं का दोहन किया जाय ।

संमार्गादीनां ग्रहधर्माणां सवनत्रयार्थत्वम् । अधि. ९ ।

तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥ ३० ॥

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति वाक्य विहितो ज्योतिष्टोमः तस्मिन् प्रातः सवनं मध्यन्दिन सवनं सायं सवनं चेमानि त्रीणि सवनानि। ऐन्द्रवायवादयो दश ग्रहाः प्रातः सवने, माध्यन्दिने सवने मरुत्वतीयादय : तृतीय सवन आदित्यादयः श्रुताः । तेषां मध्ये प्रातः सवन सम्बन्धि ग्रहाणां सन्निधौ "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" इत्यादि वाक्यैः संमार्गादय अनेके ग्रहधर्माः विहिताः । ते प्रातः सवने ऽनुष्टेयाः उतत्रिषु सवनेषु । अर्थात् प्रातः सवने एव ग्रहाणां सम्मार्गादयोधर्माः कर्तव्याः त्रिषु सवनेषु वा उक्त धर्माः कर्तव्याः इति संशये । ते ऽग्नीषोमीय पशु धर्म

इस प्रकार प्रथम अमावास्या के दिन सायंकाल में आधिक दोहन होता है वचन से उसका विधान नहीं इसलिये पूर्व से वैषम्य है ॥ २९ ॥

अब सम्मार्जनादि ग्रह धर्मों का तीनों सवनों में अनुष्ठान कथन करते हैं नवम अधिकरण से । "स्वर्गकाम पुरुष ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग का निष्पादन करें" इत्यादि वाक्य से विहित ज्योतिष्टोम याग है । उक्त ज्योतिष्टोम याग में प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन ये तीन सवन होते हैं ।

वत्प्रातः सवनार्थाः सन्निधेरिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। तद्वदिति। दोह धर्म वत् सवनान्तरेऽपि ग्रहाम्नानं ग्रह धर्माम्नानं सोमयागस्याऽभ्यासरूपत्वेन याग पृथक्त्वाभावात्सर्वार्थमिति ॥ ३० ॥

प्रातः सवन में ऐन्द्रवायवादि नामक दश ग्रह मध्यन्दिन सवन में मरुत्वतीयादि नामक चार ग्रह और तृतीय सवन में आदित्यादि नामक छ ग्रह हैं। इनोंके मध्यप्रातःसवन सम्बन्धी ग्रहों की सान्निधि में पटके टुकडे से ग्रहों को साफ करे इत्यादि वाक्यों से सम्मार्जनादि अनेक ग्रह धर्म विधान किये हैं। वे सब प्रातः सवन में ही अनुष्ठेय हैं किंवा तीनों सवनों में। अर्थात् प्रातः सवन में ही ग्रहों के सम्मार्जनादिधर्म कर्तव्य हैं अथवा तीनों सवनों में उक्त धर्म कर्तव्य हैं इस संशय के होने पर। उक्त धर्म प्रातः सवनीय ग्रहों की सन्निधि में विधान किये गये हैं इसलिये वे धर्म अग्नीषोमीयपशुधर्म की भांति प्रातः सवन में अनुष्ठेय हैं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। तद्वदिति। (तद्वत्) दोहधर्म की भांति (सवनान्तरे) प्रातः सवन से अतिरिक्त मध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन में भी (ग्रहाम्नानं) ग्रह धर्मों का अनुष्ठान होता है क्योंकि सोमयाग का अभ्यासरूप होने से याग का भेद नहीं इस लिये सर्वार्थ है ॥ ३० ॥

रशनात्रिवृत्त्वादीनां सर्वपशुधर्मत्वं। अधि. १०।

अग्नीषोमीयपशु सन्निधौ " यूपं परिव्ययत्यूर्ग्वैरशना
तै० सं० ६।३।४।५

इतिश्रुतम् । यूपं रशनया वेष्टयत्यूर्ग्वैरशानेत्यर्थः तत्रैवरशनाधर्मा अप्याम्नाताः। "दर्भमयी भवती" त्रिवृद्भवतीत्यादयः। एवंसवनीयपशावपित्रिवृता यूपं परिवीयेति परिव्याणान्तर माम्नातम्। किमेतेरशनाधर्मा अग्नीषोमीय सवनीय उभयार्था उताग्नीषोमीयरशनार्थाय

अब रशनात्रिवृत्त्वा आदि धर्मों का अग्नीषोमीयादि तीनों पशुओं में अनुष्ठान कथन करते हैं दशम अधिकरण से। अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में " यूप को रज्जु से वेष्टन करे " क्यों कि वह बलरूप है इस वाक्य से यूप का रशना से वेष्टन विधान किया है। और उक्त पशु के समीप में रशना के। दर्भमयी। तथात्रिवृत् होना आदि अनेक धर्म विधान किये हैं। इसी प्रकार सवनीय पशु के समीप में भी " त्रिवृता यूपं परिवीय " इस वाक्य से परिव्याणान्तर का विधान किया है। ये धर्म अग्नीषोमीय तथा सवनीय दोनों रशना के लिये हैं किंवा अग्नीषोमीय रशना के लिये ही हैं इस संशय के होने पर। अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में रशना वेष्टनादि धर्म विधान किये गये हैं इसलिये

एवेतिसंशये सन्निधानादग्नीषोमीयरशनार्था इति बहिःपूर्व पक्षे सिद्धान्तमाह। रशनेति। रशनाचत्रिवृतादिरूपधर्म सहिता रशनाउभयार्था। लिङ्गदर्शनात्। सवनीयपशुसन्निधौ यूपपरिव्याणे "त्रिवृतायूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयं पशु-मुपाकरोति" श० ब्रा० ४।२।४।११ इत्यादिवाक्ये त्रिवृत्वगुणाविशिष्टरशनानुवादात्। अन्यथा यूपं परिवीयेत्ये

अग्नीषोमीय रशना के धर्म होने चाहिए ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। रशनेति (रशना) त्रिवृदादि धर्म सहित रशना उभय पशुओं के लिये है। क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) सवनीय पशु के समीप में यूप के लपेटने के लिये "त्रिगुण रज्जु से यूप का वेष्टन करके अग्निदेवता के उद्देश से देय सवनीय पशु का उपाकरण नामक संस्कार करे, इत्यादि वाक्य में त्रिवृत्व गुण विशिष्ट रशना का अनुवाद पाये जाने से। अन्यथा = यदि रशना वेष्टनादि धर्म केवल अग्नी-षोमीय पशु में ही अनुष्ठेय हो तो धर्म विशिष्ट रशना की अति देश से प्राप्ति होने पर "यूपं परिवीय" इतने से ही परिव्याण विधान को चरितार्थता होने पर "त्रिवृता" यह विशेषण व्यर्थ होता है। उभयार्थ मानने पर तो त्रिवृत्य विशिष्ट के अनुवाद के लिये "त्रिवृता" यह विशेषण सार्थक होता है, क्योंकि अनुवाद विहित का होता है अतिदेश प्राप्त का नहीं यह भाव है। किंच

तावतैव चारितार्थ्ये रशनाया अतिदेशेन धर्म विविष्टस्य प्राप्तौत्रिवृतेति विशेषणं व्यर्थस्यादिति भावः। किञ्च तृतीया श्रुत्या वाक्येनच परिव्याणस्ययूपधर्मता, नतु पशुधर्मता। यूपश्चत्रयाणां पशूनां तन्त्रमिति वक्ष्यते। तस्मात् सर्वेषु पशुष्वेतेधर्माःस्युः। ३१।

अश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वम्। अधि० ११

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात् ॥ ३२ ॥

ज्योतिष्टोमसन्निधौ पटिता ऐन्द्रवायवादिग्रहाः। अनारभ्य पठिता अदाभ्यादिग्रहाः। एवं सति संमार्गादयो

तृतीयाश्रुति से तथा वाक्य से परिव्याण यूप का धर्म है पशु का धर्म नहीं। और यूप तीनों पशुओं का उपकारक है ऐसी "एकादश अध्याय के तृतीय पाद के तृतीयाधिकरण में कहा जायगा। इसलिये वे धर्म यूपादि के द्वारा अग्नीषोमीयादि तीनों पशुओं के हैं केवल अग्नीषोमीय के ही नहीं। ॥ ३१ ॥

अब "अंशु" तथा "अदाभ्य" नामक ग्रहों में भी सादन, सम्मार्जनादि को धर्म कथन करते हैं एकादश अधिकरण से। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में ऐन्द्रवायवादि ग्रह पठित हैं। और अदाभ्यादि ग्रह अप्रकरण पठित हैं। इस परिस्थिति में "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" इत्यादि वाक्यों से सम्मार्जनादि जो ग्रह

ये ग्रहधर्माः ते सर्वार्था उत प्रकरणपठितग्रहार्था इति संशये पूर्वपक्षमाह । आरादिति । आरात्प्रकरणपठितग्रहसमीपे शिष्टं यत् संमार्गादि इतरैः अनारभ्य पठित ग्रहैः असंयुक्त मसन्निधानाद्दूरवृत्तित्वात् ॥ ३२ ॥

संयुक्तं' वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३३ ॥

सिद्धान्तमाह । समिति । ग्रहमात्रेण संयुक्तं दूरपठितानामपि तदर्थत्वाज् ज्योतिष्टोमापूर्वार्थत्वात् । शेषस्य ग्रह धर्मस्यापि ग्रहद्वारा तन्निमित्तत्वाज् ज्योतिष्टोमापूर्वकारणत्वात् ।

धर्म विधान किये गये हैं वे धर्म प्रकरण पठित अप्रकरण पठित ग्रह = पात्र मात्र के लिये हैं किंवा प्रकरण पठित ग्रह के लिये हैं इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । आरादिति । (आरात्) प्रकरण पठित ग्रह के समीप में (शिष्टं) विधान किये गये जो सम्मार्जनादि वह (इतरैः) अप्रकरण पठित ग्रहों के साथ (असंयुक्त) सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि (असन्निधानात्) उक्त ग्रह धर्म उनकी सन्निधि में विधान नहीं किये गये = दूर विद्यमान हैं ॥ ३२ ॥

सिद्धान्त को कहते हैं । समिति । ग्रह मात्र के साथ (संयुक्तं) दूर पठित धर्मों का भी सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि

संमार्गाद्युद्देश्यतावच्छेदकं न ग्रहत्वम् आनर्थक्यात् किं तु प्रकृतापूर्वसाधनत्वं तच्च दूरस्थे ऽपि तुल्यमिति भावः ॥३३॥

निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत ॥ ३४ ॥

ननु मैत्रावरुणं पयसा वृणातीत्यत्रापि पयसा योगः तुल्ययुक्त्या सर्वत्र स्यादत्राह । निर्देशादिति । निर्देशाद् मैत्रावरुणमिति उद्देश्यनिर्देशाद् व्यवतिष्ठेत तत्रैव ॥ ३४ ॥

(तदर्थत्वात्) ज्योतिष्टोम जन्य अपूर्वार्थ हैं । (शेषस्य) ग्रह धर्म भी ग्रह द्वारा (तन्निमित्तत्वात्) ज्योतिष्टोम जन्य अपूर्व का कारण है । सम्मर्जनादिनिष्ठ विधेयता निरूपित जो ग्रह निष्ठ उद्देश्यता है उसका अवच्छेदक ग्रहत्व नहीं क्योंकि व्यर्थ है, किन्तु प्रकृत अपूर्व साधनत्व है और उक्त साधनत्व दूरस्थ में भी समान है यह भाव है ॥ ३३ ॥

ननु, " पय से पूर्ण मैत्रावरुण ग्रह को धारण करें " इस वाक्य में भी ग्रह धर्म दूध है उक्त पय के साथ सर्व ग्रहों का योग समान युक्ति होने से होना चाहिये इस पर कहते हैं । निर्देशादिति । (निर्देशात्) " मैत्रावरुणं " ऐसा उद्देश्य का निर्देश होने से तत्रैव मैत्रावरुण ग्रह में ही पय रूप धर्म का व्यवस्था की गई है ॥ ३४ ॥

अखण्डत्वादि धर्म सहित चित्रिण्यादीष्टकानामग्न्यङ्गत्वम्
। अधि० १२ ।

अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ॥ ३५ ॥

महाग्निचयने " अखण्डामकृष्णां कुर्य्यादिति, अखण्डा अकृष्णा इष्टका इति इष्टका धर्माः श्रुताः, अप्रकरणेच " चित्रिणीरुपदधाति " " वज्रिणीरुपदधाति " तै० सं० ५।७।३।१। " भूतेष्टका उपदधाति " तै० सं० ५।६।३।१। इत्यादि वाक्यैः चित्रिणी, वज्रिणी, आदीष्टका विहिताः ।

अब प्रकरण पठित "अखण्डत्व" आदि को अप्रकरण पठित " चित्रिणी " आदि इष्टकाओं का धर्म और चित्रिणी आदि इष्टकाओं को अग्नियों के धर्म कथन करते हैं द्वादश अधिकरण से । महाग्निचयन के प्रकरण में " बिना टूटी फूटी लाल इष्टका बनाई जाय " इत्यादि वाक्यों से अखण्डत्व, अकृष्णत्व, तथा इष्टकात्व इत्यादि इष्टका के धर्म विहित है और प्रकरण से बाहर " चित्रिणी रुप दधाति " इत्यादि वाक्यों से चित्रिणी वज्रिणी, आदि नामक अनेक प्रकार की इष्टका विधान की हैं । उक्त अखण्डत्वादिधर्म अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं के अङ्ग है किंवा नहीं इस संशय के होने पर । अनारम्य पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं के अङ्ग नहीं, क्योंकि चित्रिणी आदि

ते धर्माः अप्रकरण पठित चित्रिण्याऽऽदीष्टकाङ्गानि नवेति संशये । अनारभ्यपठित चित्रिण्यादीष्टकाङ्गानि न, असन्निधानादिति बहिः पूर्वपक्षेसिद्धान्तमाह । अग्नीति । अप्रकरण श्रुतमग्न्यङ्गं चित्रिण्यादयः तद्वददाभ्यादिग्रहवद्धर्मान् लभते । हेतुः पूर्व एव तद्वदित्यनेन दर्शितः । ननु पूर्व न्यायेनैव गतार्थत्वात् पृथगधिकरण व्यर्थमिति चेत् । उच्यते । क्वचिच्छाखान्तरे ज्योतिष्टोमप्रकरणे अश्वदाभ्य ग्रहपाठः

असन्निहित पठित हैं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं । अग्नीति । (अप्रकरणे) अप्रकरण पठित (अग्न्यङ्ग) अग्निचयन के अङ्ग चित्रिणी आदि इष्टका है ये (तद्वत्) अदाभ्यादि ग्रह की भांति अखण्डत्वादि धर्मों से युक्त हैं । पूर्व ही हेतु " तद्वत " इससे देखाया गया है । ननु पूर्व न्याय से ही हो सक्ता है पृथक् अधिकरण व्यर्थ है यदि ऐसा कहो तो । उसका उत्तर कहते हैं । किसी शाखान्तर में ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "यस्यैवंविदुषोंशुर्गृह्यते" इस वाक्य से और "यस्यैवं विदुषोऽदाभ्योगृह्यते" इस वाक्य सें अंशु तथा अदाभ्य ग्रह का पाठ है इसलिये प्रकरण सम्बन्ध होनें से धर्म सम्बन्ध होना योग्य है । चयन प्रकरण में तो चित्रिणी आदिओं का पाठ किसी भी शाखा में नहीं इसलिये प्रकरण सम्बमध न होने से धर्म सम्बन्ध नहीं हो सकता यह विशेष पूर्वपक्ष है । उक्त पूर्व पक्ष का

"यस्यैवं विदुषोंशुर्गृह्यत इति वाक्येन" यस्यैवंविदुषोऽदाभ्यो गृह्यते इति वाक्येन चेति प्रकरण सम्बन्धाद्युक्तो धर्म सम्बन्धः इह तु तदपि नास्तीति विशेषः पूर्वपक्षः । निराकरणं तस्यापि पूर्ववदेव बोध्यम् ॥ ३५ ॥

क्रयाऽभिषवादीनां सोममात्र धर्मत्वम् ॥ अधि. १३ ॥

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमान विधानं स्यात् ॥३६॥

पूर्वोक्त फलचमस इज्याविकार इति साधितत्वादिज्या-विकार सोमधर्माः क्रयादयः "सोमं क्रीणाति" "सोममभि-

---

निराकरण भी पूर्व की भांति समझना चाहिये = अर्थात् अखण्डत्वादि धर्मनिष्ठ विधेयता निरूपित इष्टकादि निष्ठ उद्देश्य तावच्छेदक प्रकृतापूर्व साधनत्व है वह प्रकरण पठित में भी हो सकता है । इसलिये पूर्व न्याय से यह अधिकार गतार्थ नहीं ॥ ३५ ॥

अब क्रय अभिषव आदिओं को सोममात्र का धर्म कथन करते हैं त्रयोदश अधिकरण से । पूर्वोक्त फल चमस याग का "विकार" = निमित्त है ऐसा सिद्ध किया जा चुका है और "सोम को कूटे तथा मूल्य ले" इत्यादि वाक्यों से याग का निमित्त सोम का धर्म क्रयादि विहित हैं वे धर्म सोममात्रार्थ हैं

षुणोति" इत्यादिवाक्यैर्विहिताः ते सोममात्रार्था उत सोम फलचमसोभयार्था इति संशये उभयार्था इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । नैमित्तिकमिति । (नैमित्तिकं) फल चमस द्रव्ये (असमानविधानं) सोमतुल्याऽभिषवादि धर्मविधानं न स्यात् (अतुल्यत्वात्) सोमस्य नित्यत्वेन फलचमसस्य राजन्यादि कर्तृकत्व निमित्तकत्वेन अतुल्यत्वात् । यदि फलचमसार्थमपि क्रयादि धर्माः तर्हि नित्यत्वेन श्रुतिर्विरुध्येत । नित्या अभिषवादि संस्कारानित्यं सोमं संस्कार्यं लब्ध्वा चरितार्थ्यः सन्तोनान्यं संस्कार्यमपेक्षन्ते । संस्कार्य्यः सोमो

किंवा सोम तथा फल चमस दोनों के लिये हैं इस संशय के होने पर उभयार्थ है ऐसा बाहर से पुर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । नैमित्तिकमिति । (नैमित्तिकं) फल चमस रूप द्रव्य में (असमानविधानं) सोम के समान अभिषवादि धर्मों का विधान नहीं (स्यात्) हो सकता हैं, क्योंकि (अतुल्यत्वात्) सोम को नित्य होने से और फलचमस को राजन्यादि कर्तृकत्व रूप नैमित्तिक होने से समान नहीं । यदि फल चमस के लिये भी क्रयादि धर्म हो तो नित्यत्व रूप से क्रयादियों का विधान व्यर्थ हो जायगा । और क्रय अभिषवादि संस्कार नित्य हैं वे नित्य संस्कार्य्यवस्तु के प्राप्त होने से चरितार्थ हुए अन्य किसी सस्कार्य्य वस्तु की अपेक्षा भी नहीं करते । संस्कार्य्य सोम नित्य है फल

नित्यो फलचमसस्तु नैमित्तिकः। अतः सोममात्र सम्बन्धिनो संस्कार विधयो न फलचमसे प्रवर्तन्ते । तस्माददतिदेशेनैव धर्मप्राप्तिस्तत्रेति भावः ॥ ३६ ॥

प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानम् । अधि. १४ ।

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥ ३७ ॥

"व्रीहिभिर्यजेत" आप० श्रौ० ६।३१।१३ इति विहित याग साधन व्रीह्यभावे नित्यं नीवारेण प्रतिनिधिनाऽनुष्ठेय मिति षष्ठ तृतीय चतुर्थाधिकरणे वक्ष्यति । सदृशः स्थाना पन्नं प्रतिनिधिश्च एतेत्रयः पर्य्याय शब्दाः । तथाच "व्रीहीन्

चमस तो नैमित्तिक है । इसलिये सोमसम्बन्धी संस्कार विधियें फल चमस में प्रवृत्त नहीं होती हैं । इसलिये प्रकृतिवद् विकृतिः " कर्तव्या " अतिदेशसे ही फल चमस में क्रय अभिषवादि धर्मों की प्राप्ति होती है यह भाव है । ३६ ।

अत्र नीवरादिप्रतिनिधि द्रव्यों में भी व्रीहि आदि मुख्यद्रव्यों के प्रोक्षणादि धर्मों का अनुष्ठान कथन करते हैं चतुर्दश अधिकरण से । व्रीहियों से यागकरे इत्यादि वाक्यों से विहित याग साधन व्रीहिआदि द्रव्य हैं उनोंका अभाव होनेपर नित्य कर्म को नीवार रुप प्रतिनिधि द्रव्यसे करना चाहिये ऐसा छटे आध्यय के

प्रोक्षति" इति विहिताः प्रोक्षणादयः मुख्य प्रतिनिध्युभय साधारणाः उत मुख्यार्था एवेति संशये पुर्वपक्षमाह । प्रतीति ! तद्वत् यथा नैमित्तिको फलचमसः अभिषवादि सोम धर्मवान् न तथैव प्रतिनिधि नीवारादि प्रतिनिधि द्रव्यमपि प्रोक्षणादि धर्मवन्न प्रतिनिधेरनित्यत्वादिति भावः ॥ ३७ ॥

न तद्वत्प्रयोजनैकत्वात् ॥ ३८ ॥

सिद्धान्तमाह । नेति । न तद्वत्, सोमधर्मवन्न प्रयो-

तृतीयपाद के चतुर्था धिकरण में कहा जायगा । सदृश, स्थानापन्न तथा प्रति निधियह तीनों पर्य्याय शद्ब हैं। तथाच = मुख्य द्रव्य के अभाव में प्रतिनिधि से नित्य कर्म अनुष्ठेय हैं ऐसा स्वीकार होनेसे व्रीहिन् प्रोक्षति इत्यादि वाक्य विहित प्रोक्षणादि मुख्य तिनिधि दोनों का साधारण धर्म हैं किंवा मुख्य द्रव्य के लिये ही हैं इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । प्रति इति । (तद्वत्) जैसे नैमित्तिक फल चमस अभिषवादि सोम धर्म वाला नही वैसे ही नीवारादि प्रतिनिधि द्रव्य भी प्रोक्षणादि धर्मवाला नहीं हो सक्ता क्योंकि प्रतिनिधि अनित्य होता है यह भाव है ॥३७॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । नेति । (न, तद्वत्) " व्रीहीनव हन्ति " " व्रीहीन् प्रोक्षति " आदि वाक्यों से जो

जनैकत्वात् पुरोडाशनिष्पत्तिरूपप्रयोजनैकत्वात्। अयं भावः। व्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र शक्यार्थस्य व्रीहित्वजातेः होमकरणत्वं न संभवति अमूर्तत्वात्। नापि व्रीहीणाम् अवहननपेषणादिना तन्नाशात्, किं तु व्रीह्यवयवे लक्षणा वाच्या। मुख्याभावे क्रियमाणः प्रतिनिधिः सदृशतम इत्यपि षष्ठे वक्ष्यति।

अवघातादि धर्म विधान किये हैं वे धर्म सोम धर्म की भांति नहीं किन्तु व्रीहि तथा प्रतिनिधि दोनों का साधारण हैं क्योंकि (प्रयोजनैकत्वात्) व्रीहि तथा नीवार दोनों का पुरोडाश की सिद्धिरूप प्रयोजन एक है। यह भाव है कि "व्रीहिभिर्यजेत" आदि वाक्य घटक व्रीहि पद है उसका शक्यार्थ व्रीहित्व जाति है और व्रीहित्व जाति हवन का कारण नहीं हो सक्ती क्योकि वह अमूर्त हैं। और व्रीहियें भी हवन का कारण नहीं हो सकती क्योंकि अवहनन तथा पेषणादि से व्रीहियों का नाश हो जाता है, किन्तु व्रीहिपद की व्रीह्यवयव में लक्षणा कहनी होगी। व्रीहि आदि मुख्य के अभाव में सदृशतम प्रतिनिधि ग्रहण करना चाहिये यह भी षष्ठ तृतीय एकादश अधिकरण में कहा जायगा। व्रीहियों तथा नीवारों का परमाणु एक जाति वाले हैं, उक्त परमाणुओं से ही संयोग विशेषद्वारा किसी समय व्रीहियें किसी समय नीवार उत्पन्न होते हैं। जिस काल में व्रीहि व्रीह्यवयव (सम्बन्धी) याग में लिये जाते हैं उस काल में उक्त अवयव व्रीहि पद के

व्रीहिणामुत्पादकाः नीवाराणां च परमाणव एकजातयः तैरेव परमाणुभिः संयोगविशेषेण कदाचिद् व्रीहयः कदाचिन्नीवाराः । यदा व्रीहि सम्बन्धिनस्तदा मुख्या यदा व्रीह्यसम्बन्धिनस्तदा अमुख्याः प्रतिनिधिरूपा इति व्रीहिपद तात्पर्य विषयत्वमुभयोरित्युभयार्था धर्माः ॥ ३८ ॥

अशास्त्रलक्षणत्वात् ॥ ३९ ॥

व्रीहिनीवारयोः प्रकृतिविकृतिभावो नास्तीत्यत्र हेत्वन्तरमाह । अशास्त्रेति । व्रीहिभिरिति श्रवणाद् व्रीहिं

मुख्यार्थ हैं और जिस समय याग में व्रीहि असंबंधी व्रीह्यवयव लिये जाते हैं उस समय व्रीहि पद का अमुख्य प्रतिनिधि रूप अर्थ हैं इस प्रकार व्रीहि पद के तात्पर्य्य का विषम दोनों अर्थ हैं, इसलिये "व्रीहिनवहन्ति" इत्यादि वाक्यों से जो अवघातादि धर्म विधान किये हैं उनका नीवारादि प्रतिनिधि साधारण दोनों द्रव्यों में अनुष्ठान होना चाहिये ॥ ३८ ॥

व्रीहि तथा नीवार इन दोनों में प्रकृति विकृति भाव नहीं इसमें हेत्वन्तर को कहते हैं अशास्त्रेति । (अशास्त्रलक्षणत्वात्) क्योंकि शास्त्र रूप प्रमाण का अभाव है । "व्रीहिभिः" आदि वाक्यों से व्रीहिरूप फल से अव्यवहित पूर्व वृत्तित्व सम्बन्ध से

रूपफलोपधायकाः परमाणवो हि परम्परया व्रीहित्वसंबद्धाः शास्त्रीयाः यागाङ्गभूताः । ये स्वरूपयोग्याः तअशास्त्रीयाः । अतो ना तयोः प्रकृतिविकृतिभाव इति भावः ॥ ३९ ॥

श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानम् प्रतिनिधि
विधायक श्रुतयश्च नियमार्थाः । अधि. १५ ।

फल विशिष्ठ जो परमाणु हैं वे ही स्वसमेवत समवायरूप परम्परा सम्बन्ध से व्रीहित्व जाति के साथ सम्बन्ध होकर तथा शास्त्र विहित हुए याग के अंग भूत हैं । और जो " स्वरूप योग्य = कारणतावच्छेदक धर्मवाले याग के साधन भूत परमाणु हैं वे अशास्त्रीय हैं । इसलिये व्रीहि परमाणु तथा नीवार परमाणु इन दोनों में प्रकृति विकृति भाव नहीं । और प्रकृति विकृति भाव न होने से "-कृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" अतिदेश वाक्य से नीवार में अवघातादिओं की प्राप्ति नही हो सकती । और अवघातादि न होने से याग के साधन नहीं हो सकते, इसलिये व्रीहि आदि के भांति नीवारादि प्रतिनिधि द्रव्यों में भी अवघातादिओं का विधान अवश्य होना चाहिये यह भाव है । कार्याव्यवहित पूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वम् " फलोपहितत्वकारणत्वं यथा कुलाल हस्तस्थदण्डे । "कारणतावच्छेदक धर्मवत्वम् स्वरूपयोग्य कारणत्वं यथा वनस्थ दण्डे " ॥ ३९ ॥

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥ ४० ॥

"यदि सोमं न विन्देत, पूतीकानभिषुणुयात्" तां० ब्रा० १।५।३ इति श्रूयते। तत्र प्रकृतिविकृति भावः संभवति नवेति संशये सोमाभावे पूतीकानां शास्त्र विहित त्वात्प्रकृतिविकृतिभाव संभवतीति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। नियमेति। गुणश्रुतिः पूतीक श्रवणं पूर्वन्यायेन प्रधान सोम सादृश्येनाऽन्य द्रव्यस्यापि प्राप्तौ यत्सकलं सोमावयवा

अब विहित प्रतिनिधिओं मे भी मुख्य के धर्मों का अनुष्ठान और प्रतिनिधि की विधायक श्रुतिओं का नियमार्थ होना कथन करते हैं पञ्चदश अधिकरण से। पूतीक सोमलता सदृश लता विशेष है। सोम लता के लाभ न होने पर उसके स्थान में पूतीकों को लाकर उनोंको अभिषवादि संस्कारों से संस्कार करके उसेक रस से याग निष्पन्न करे" अभिषव तथा कूटना यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इत्यादि वाक्यों में जो सोमादि के स्थान में पूतीकादि का विधान किया है उसमें प्रकृति विकृति भाव सम्भव हैं किंवा नहीं इस संशय के होने पर, सोम के अभाव में पूतीकों को शास्त्र विहित होने से प्रकृति विकृति भाव संभव है ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं। नियमेति। (गुणश्रुतिः) पूतीक की विधायक श्रुति (नियमार्था) उक्त

भावे विकलानुपाददीत तत्पूतीकान् पूतीक गतानेवेतिनियम विधिः। नतु पूतीका याग साधनत्वेन विधीयन्ते सोमाभावे पूतीकैर्यागं कुर्यादिति। तथाचास्याप्यशास्त्रीयत्वं तुल्यमित्यभिषव क्रयादिधर्माः सोमपूतीकोभयार्था इति भावः ॥४०॥

दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गत्वम् । अधि. १६।

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविभागात् ॥ ४१ ॥

पूतीक के नियम के लिये है, अर्थात् पूर्व न्याय से प्रधान सोम सदृश पूतीक से अन्य द्रव्य की भी प्राप्ति होने पर सब सोमावयव के अभाव में विकलावयवों का जो ग्रहण किया जाय वह पूतीकों का = पूतीक गत अवयवों को हीं किया जाय इस नियम के विधान के लिये हैं। सोम के अभाव होने पर पूतीकों से याग करे, इस प्रकार याग के साधनत्व रूप से पूतीकों का विधान नहीं। विधान का अभाव होने पर उक्त पूतीकों को भी अशास्त्रीयत्व समान है और शास्त्र विहित न होने से पूतीक सोम की विकृति नहीं और विकृति न होने से "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य से प्रकृति के धर्मों का अतिदेश नहीं हो सकता इसलिये अभिषव क्रयादि धर्मों का विधान सोम पूतीक दोनों के लिये हैं॥ ४० ॥

ज्योतिष्टोमस्य संस्थाश्चतस्रः अग्निष्टोम उक्थ्यः षोडश्यतिरात्र इति। संस्था समाप्तिः। येन साम्ना क्रतुः समाप्यते तन्नाम्ना क्रतुव्यवहारः । अत्यग्निष्टोमाप्तोर्यामवाजपेयानां चतुर्ष्वेवान्तर्भावः तथा व्यक्तमाकरे। ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग कामो यजेतेति क्रतुफलं श्रूयते। तथा तत्तत्साम्ना क्रतु समाप्तिरूपगुणफलान्यपि ज्योतिष्टोमाश्रयाणि श्रूयन्ते, पशु

अब दीक्षणीयादि धर्मो को अग्निष्टोम की अङ्गता कथन करते हैं षोडशाधिकरण से। ज्योतिष्टोम की संस्था अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र यह चार हैं। संस्था नाम समाप्ति का है। जिस साम से ज्योतिष्टोम याग समाप्त होता है उसी साम के नाम से उक्त याग का व्यवहार होता है। जैसे अग्नि- ष्टोम साम से समाप्त होता है तो ज्योतिष्टोम का अग्निष्टोम व्यवहार होता है। उक्थ्य साम से ज्योतिष्टोम समाप्त होता है तो उक्त व्यवहार होता है अत्यग्निष्टोम. अप्तोर्याम, तथा वाजपेय इन तीनों का चारों में ही अन्तर भाव है वैसा ही आकर में व्यक्त है "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य से याग के फल का विधान किया गया है। वैसे ही "पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्" आदि वाक्यों से तत्तत् साम से याम का समाप्तिरूप गुण के फल भी ज्योतिष्टोम के आश्रित विधान किये गये हैं। एवंसति = ज्योतिष्टोम के और गुणों के पृथक् फल होने पर

काम उक्थ्यं गृह्णीयात् षोडशिना वीर्यं कामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेदिति। एवं सति दीक्षणीयादि धर्माः संस्थासाधारणाः उत ज्योतिष्टोमस्यैवेति संशये पूर्व पक्षमाह। संस्था इति। संस्था उक्ता ज्योतिष्टोमेन समान

दीक्षणीयादि जो धर्म उक्त चारों संस्था वाले ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में विधान किये गये हैं वे धर्म अग्निष्टोमादि चारों संस्था ओं के धर्म हैं किंवा "अग्निष्टोम" संस्था मात्र के धर्म हैं इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। संस्था इति। (संस्थाः) अग्निष्टोमादि सातों उक्त संस्थायें ज्योतिष्टोम के साथ (समान विधानाः) समान विहित हैं अर्थात् प्रकृति विकृति भाव से शून्य विहित हैं। क्योंकि (प्रकरणस्य) ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण का (अविभागात्) विच्छेद नहीं। तात्पर्य्य यह है कि जैसे ज्योतिष्टोम याग की एक अवस्था विशेष होने से अग्निष्टोम संस्था ज्योतिष्टोम से भिन्न नहीं वैसे ही उक्थ्यादि संस्था भी ज्योतिष्टोम से भिन्न नहीं। और उनके भिन्न न होने से ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जिन धर्मों का विधान किया गया है उनका सब संस्थाओं के साथ समानरूप से सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षणीयादि धर्म विधान किये गये हैं वे अग्निष्टो-मादि चारों संस्थाओं के धर्म हैं केवल अग्निष्टोम संस्था के

विधानाः प्रकृतिविकृतिभावशून्या इति यावत् । प्रकरणस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणस्य अविच्छेदात् ॥ ४१ ॥

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥ ४२ ॥

इतोऽपि समान विधाना इत्याह । व्यपदेशेति । आज्य शेषप्रतिपत्तिं वदति शास्त्रम् । यद्यग्निष्टोमो जुहोति, यद्युक्थ्यः परिधौ निमार्ष्टिः यद्यतिरात्रो यजुर्वदन् प्रपद्यते यज्ञक्रतूनां

ही नहीं ॥ ४१ ॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी सब संस्थों का ज्योतिष्टोम के प्रकरण में समान विधान है ऐसा कहते हैं । व्यपदेश इति । "यदि अनुष्ठीयमान कर्म में अग्निष्टोमत्व हो तो मन्त्र से ऋतुकरण नामक होम करे" "यदि उक्थ्यत्व हो तो उसमें शेष घृत से परिधि को लेप करे" "यदि अति रात्रत्व हो तो मन्त्र को पढता हुआ हविर्धान को प्राप्त करे" "अग्निष्टोमत्वादि धर्म यज्ञ क्रतुओं के व्यावृत्ति के लिये हैं" तै० सं० ६।४।३।४ इत्यादि शास्त्र आज्य शेष के प्रतिपत्ति को कहता है । उक्त शास्त्र में व्यपदेशः) अङ्गों के भेद का विधान है वह तुल्य की भांति ज्योतिष्टोम के प्रकरण में दीक्षणीयादि अङ्गों के विधान को बोधन करता है । जैसे " यदि रथन्तर सामा सोमः स्यात् " इत्यादि शास्त्र विहित रथन्तर साम वाला सोम याग तथा बृहत्सामवाला सोम याग इन

व्यावृत्याइति । व्यपदेशः अङ्गवैलक्षण्यं तुल्यवदङ्गानि दर्श-यति । यथा यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् गृह्णीयादितिवत् । अपि च आग्नेयमजमग्निष्टोमआलभते, ऐन्द्राग्नं द्वितीयमुक्थ्ये, ऐन्द्रं वृष्णिं तृतीयं षोडशिनि । द्वितीयस्य तृतीयस्य च दर्शनं सामानविध्ये घटते । उक्थ्ये

दोनों यागों में प्रकृति विकृति भाव नहीं किंतु समान विधान है वैसे ही ज्योतिष्टोम तथा उक्थ्यादियों का भी विधान समान है प्रकृति विकृति भाव नहीं । इससे स्पष्ट है कि उक्त चारों संस्था प्रत्येक विषय में समान हैं और जो प्रत्येक विषय में परस्पर समान हैं उनमें अङ्गों का विधान भी समान रूप से होना आवश्यक हैं । इसलिये दीक्षणीयादि इष्टियें अग्निष्टोमादि चारों संस्थाओं का अङ्ग है केवल अग्निष्टोम का ही नहीं । अग्निष्टो-मादि कर्म समान हैं प्रकृति विकृति भाव नहीं इसमें और भी हेतु देते हैं, अग्निष्टोम संस्थावाले ज्योतिष्टोम में अग्नि इन्द्र देवता वाले पशु का आलभन करे, उक्थ्य संस्था वाले ज्योतिष्टोम में ऐन्द्राग्न पशु का आलभन करे, षोडशि संस्थावाले ज्योतिष्टोम में इन्द्रदेवत्य तृतीय पशु का आलभन करे । एवं च अग्निष्टोम संस्था में एक ही पशु करना चाहिये । उक्थ्य संस्था में आग्नेय प्रथम ऐन्द्राग्न द्वितीय इस प्रकार पशु द्वय करना चाहिये । षोडशि संस्था में आग्नेय, ऐन्द्राग्न और ऐन्द्र इस प्रकार पशु त्रय

हि द्वे निमित्ते स्तः अग्निष्टोमस्तोत्रमुक्थ्यस्तोत्रं चेति । तत्र द्वौ नैमित्तिकावाग्नेया ऐन्द्राग्नश्च । तेन द्वितीयदर्शनं नोपपद्येत, भवति तु तस्मात्सर्वार्थावस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादि धर्माः ॥ ४२ ॥

विकारस्तु काम संयोगे सति नित्यस्य समत्वात् ॥ ४३ ॥

सिद्धान्तमाह । विकारा इति । संस्था ज्योतिष्टोमस्य

करना चाहिये । इन वाक्यों में द्वितीय और तृतीय का जो कथन हैं वह अग्निष्टोमादिओं का समान विधान होने पर संगत होता है । क्योंकि उक्थ्य में अग्निष्टोम स्तोत्र और उक्थ्य स्तोत्र ये दोनों निमित्त हैं और उक्त याग में आग्नेय तथा ऐन्द्राग्न ये दोनों नैमित्तिक हैं । इसलिये द्वितीय का कथन युक्त होता है । विकार पक्ष में द्वितीय दर्शन उसमें उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विकार पक्ष में प्रत्यक्ष श्रुत ऐन्द्राग्नि से आग्नेय को बाधित होने पर सर्वत्र एक ही होगा, और द्वितीय दर्शन होता तो है, इसलिये सर्वास्थज्योतिष्टोम याग का दीक्षणी आदि इष्टियें अङ्ग हैं ॥ ४२ ॥

(तेन द्वितीय दर्शनं तत्र युज्यते । विकार पक्षे तु नोपपद्येत कुतः विकार पक्षे प्रत्यक्षश्रुतैरैन्द्राग्नादिभिराग्नेये बाधिते सर्वत्र एक एव स्यात्) ।

विकाराः । कामसंयोगे सति पशुकामादिसंयोगे सति नित्यसमत्वात् पूर्वं फल चमसस्थले दर्शितनित्यचमसानित्य गोदोहनतुल्यत्वात् । दीक्षणीयादयस्तु नित्यवच् श्रुतामग्निष्टोमसंस्थां गृह्णीयुः। स्वस्य नित्यवच् श्रुतत्वात् । नोक्थ्यादिकं तस्य कामनायां सत्यामेव प्रवृत्तेरनित्यत्वेन नित्यानित्य सङ्गविरोधस्य तुल्यत्वादिति भावः ॥ ४३ ॥

अत्र सिद्धान्त को कहते हैं । विकारा इति । (विकाराः) उक्थ्यादि तीनों संस्थायें अग्निष्टोम संस्था का विकार हैं क्योंकि (कामसंयोगे सति) पशु आदि फल की कामना के सम्बन्ध से उनका विधान पाया जाता है, इसलिये चमसस्थल में दर्शित (नित्यस्य) नित्य चमस के (समत्वात्) समान अग्निष्टोम संस्था है और अनित्य गोदोहन के समान उक्थ्यादि तीनों संस्थायें हैं । दीक्षणी आदि इष्टियां तो नित्य चमस के समान विहित अग्निष्टोम संस्था को ग्रहण करेंगी । क्योंकि स्व = दीक्षणी आदि इष्टियां नित्य सोम के समान विहित हैं । उक्त इष्टियां उक्थ्यादियों को नहीं ग्रहण करेंगी, क्योंकि उक्थ्यादिओं की कामना के होने पर ही प्रवृत्ति होती है । उक्थ्यादिओं को अनित्य होने से नित्य अनित्य के सम्बन्ध का विरोध होना समान है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षणीय, प्रायणीयादि इष्टियें विधान की हैं वह प्रकृतिभूत अग्निष्टोम संस्था का अङ्ग विधान की

वचनात्तु समुच्चयः ॥ ४४ ॥

ननु पूर्वोक्तं द्वितीय तृतीय वचनं समानविधाव कल्पत इति तदुत्तरं किमत्राह । वचनादिति । वचनात् द्वितीयं तृतीयमिववचनात् समुच्चय विधानं दृश्यते । इदं समुच्चय विधायक वचनमपूर्वं न यागानां समान विधान ज्ञापकमिति भावः ॥ ४४ ॥

प्रतिषेधाच्च पूर्वेषाम् ॥ ४५ ॥

इतोऽपि ज्योतिष्टोमविकारा उक्थ्यादय इत्याह ।

गई हैं विकृति भूत उक्थ्यादि का नहीं यह भाव है ॥ ४३ ॥

ननु, द्वितीय तृतीय वचन अग्निष्टोमादि यागों का समान विधान में सङ्गत होता है ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है उसका क्या उत्तर है इस पर कहते हैं । वचनादिति । (वचनात्) द्वितीय तृतीयादि वाक्यों से समुच्चय = उक्थ्य याग में दो पशुओं के अनुष्ठान का और षोडशी याग में तीन पशुओं के अनुष्ठान का विधान पाया जाता है । " द्वितीयं तृतीयं " यह वचन समुच्चय के विधायक है और उक्त यागों के समान विधान में ज्ञापक नहीं यह भाव हैं ॥ ४४ ॥

इस हेतु से भी ज्योतिष्टोम के विकार होना उक्थ्यादियों को सिद्ध होता है ऐसा कहते हैं । प्रतिषेधादिति । (च)

प्रतिषेधादिति। पूर्वलिङ्गानां होमानां प्रतिषेधाद् होम निषेधपूर्वकापूर्वगुण विधानात्। ज्योतिष्टोमस्यायं विकारः इति सिध्यतीति। अयं भावः। उक्थ्ये आज्यशेषेण होमो न कार्यः किं तु परिधौ मार्जनं कार्यमिति प्रतीयते। यदि प्रकृति विकृति भावो न स्यात् तदा होमस्यात्यन्तमप्राप्तत्वान्निषेधपूर्वकगुणविधानं न स्यादिति ॥ ४५ ॥

और (पूर्वलिङ्गानां) प्रथम होने वाले होमों का (प्रतिषेधात्) " यद्यग्निष्टोमो जुहोति " " यद्युक्थ्य परिधि मनक्ति न जुहोति" = यदि अग्निष्टोम है हवन करे, यदि उक्थ्य है तो शेष घृत से परि धि का चोपडना मात्र करे हवन न करें, इस वाक्य से जो उक्थ्यादि मे होम के निषेध पूर्वक अपूर्व चोपडना रूप गुण का विधान किया है, इससे ज्योतिष्टोम का उक्थ्यादि याग विकार हैं ऐसा सिद्ध होता है। यह भाव है कि उक्थ्य मे आज्य शेष से होम न करे, किन्तु परि धि में मार्जन करे ऐसा प्रतीत होता है। यदि प्रकृति विकृति भाव नहीं हो तो हवन को अत्यन्त अप्राप्त होने से निषेध पूर्वक गुण का विधान नहीं हो सकता। इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्थ्यादि तीनों अग्निष्टोमादि की विकृति और अग्निष्टोम उनकी प्रकृति है। अतएव दीक्षणीयादि इष्टियें अग्निष्टोम का अंग विधान की गई हैं उक्थ्यादि का नहीं ॥ ४५ ॥

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥ ४६ ॥

ननु यद्यङ्गजातं ज्योतिष्टोममनुसरेत् तर्हि यद्यग्निष्टोमो जुहोतीत्यत्राग्निष्टोमशब्देन विशेषतया व्यपदेशः किमर्थः प्रकरणेन नित्ये ज्योतिष्टोमे होमस्य निवेशादत्राह। गुणेति। एकस्य ज्योतिष्टोमाधिकृतस्य गुणविशेषात्। अग्निष्टोमसाम्ना समाप्तेः फलाभावेन फलविशेषानाधिकृताद ग्निष्टोमसाम्ना समाप्तिरूपगुणविशेषाद्। व्यपदेशः अनुवाद

ननु, यदि अंग समुदाय ज्योतिष्टोम का अनुसरण करते हैं। तो "यद्यग्निष्टोमो जुहोति" इस वाक्य में अग्निष्टोम शब्द से ज्योतिष्टोम का कथन विशेष रूप से किसलिये किया गया क्योंकि प्रकरण से नित्य अग्निष्टोम रूप ज्योतिष्टोम में हवन का निवेशष हो सकता है इस पर कहते हैं। गुणेति। (एकस्य) यद्यपि सब संस्थाओं में एक ज्योतिष्टोम याग अधिकृत है, तथापि उसका गुण विशेष के भेद के कारण विशेष रूप से अनुवाद किया गया है। अग्निष्टोम साम से समाप्ति का फलाभाव होने से फल विशेष से अनधिकृत अग्निष्टोम साम से समाप्ति रूप गुण विशेष के भेद से (व्यपदेशः) ज्योतिष्टोम का अग्निष्टोम शब्द से विशेष रूप से अनुवाद किया गया है । पूर्वोक्त नित्य दीक्षणीयादि इष्टियें और अनित्य उक्थ्यादि संस्था इन

इति शेषः। पूर्वोक्तनित्यानित्यविरोधरूपदोषाद् नित्यस्वरूपाग्निष्टोमार्थत्वे सिद्धे ऽग्निष्टोमशब्दो ऽनुवाद इति भावः ॥ ४६ ॥

इति जैमिनिसूत्रवृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य षष्ठ पादः ॥ ६ ॥

बर्हिरादीनां दर्शपौर्णमासतदङ्गोभयाङ्गत्वम्। अधि० १।

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥ १ ॥

दोनों का विरोध रूप दोष होने से उक्त इष्टियां नित्य स्वरूप अग्निष्टोमार्थ हैं ऐसा निश्चय होने पर अग्निष्टोम शब्द नित्य ज्योतिष्टोम का अनुवादक है यह भाव है ॥ ४६ ॥

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के षष्ठ पाद के जैमिनिसूत्रवृत्तिका अनुवाद समाप्त ॥ ६ ॥

अब "बर्हि तथा वेदि आदि और उनके धर्मों को अङ्गों सहित दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से। दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "वेदिं खनति" =

दर्शपूर्णमासयोः बर्हिः तद्धर्माः वेदिः तद्धर्माश्च श्रूयन्ते । एते केवलं प्रधानार्था उताङ्गप्रधानार्था इति संशये पूर्वपक्षमाह । प्रकरणेति असयुक्तं अयुङ्गायुङ्गान् मुष्टीन् लुनातीति बर्हिरुत्पत्तिवाक्ये उद्देश्येन असंबद्धम् अतः अङ्गाकाङ्क्षारूपप्रकरणविशेषात् प्रधानस्य धर्मा इमे बर्हिरादयः, अङ्गानामनवस्थाभयेन अङ्गाकाङ्क्षाविरहादिति भावः ॥ १ ॥

वेदि को बनावे, "वेद्यां हवींष्या सादयति" = वेदि में हवनीय द्रव्यों को रखे, "बर्हिर्लुनाति" = कुशा को काटे, "बर्हिषि हवींष्या सादयति" = कुशा पर हवनीय द्रव्यों को रखे, इत्यादि वाक्यों से बर्हि तथा उसके धर्म वेदि और वेदि के धर्म विधान किये गये हैं । बर्हि आदि और बर्हि आदि के हवनीय द्रव्यों का आसादन रूप धर्म विधान किये हैं वे प्रधान याग के लिये हैं किंवा प्रधान याग तथा अङ्ग याग दोनों के लिये हैं इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । प्रकरणेति । (असंयुक्तं) "अयुङ्गायुङ्गान् मुष्टीन् लुनाति" इस बर्हि के उत्पत्ति वाक्य में अङ्ग वा प्रधान के उद्देश से वेद्यादिक असंबद्धं = अविहित हैं इसलिये अंगाकाङ्क्षा रूप विनियोक प्रकरण विशेष रूप प्रमाण से ये बर्हि आदिक प्रधान का धर्म = अंग होना चाहिये अंग याग का नहीं । क्योंकि अंगों का अंग माना जाय तो अनवस्था का भय है इसलिये

सर्वेषां वा शेषत्वं स्यात्तत्प्रयुक्तत्वात् ॥ २ ॥

सिद्धन्तमाह । सर्वेषामङ्गप्रधानानां शेषत्वं बर्हिर्वेद्यादीनां स्यात् । वेद्यां हवींषि आसादयतीति अङ्गप्रधान

अंगाकाङ्क्षा का अभाव है यह भाव है। सम्बन्ध तथा विनियोग यह दोनों पर्याय शब्द हैं। बिनियोजक तथा सम्बन्ध करनेवाला यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ॥ १ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । सर्वेषामिति। (सर्वेषां) बर्हि वेदि आदिक प्रधान तथा अंग सब के शेष = अंग (स्यात्) हैं । क्योंकि " वेदि में हवियों का स्थापन करें " आदि वाक्यों में अंग प्रधान जो हवि (तत्प्रयुक्तत्वात्) हवि मात्र का नियमकत्व पाया जाता है यद्यपि यहां वेदि आदिक दर्शपूर्णमास रूप प्रधान याग के प्रकरण में विधान किये गये हैं तथापि " वेदि खनति " " वेद्यांहवींष्यासादयति " आदि वाक्यों से वह प्रधान तथा अंग दोनों का धर्म सिद्ध होते हैं, क्योंकि भवि फल की प्राप्ति के लिये जैसे प्रधान याग में वेदि आदिक अपेक्षित हैं वैसे अंग यागों में भी अपेक्षित हैं, और जिनको जो अपेक्षित हैं उनके साथ उनका सम्बन्ध होना आवश्यक है और उक्त वाक्यों से वेदि आदि का प्रधान तथा

साधरणं यद्धविः तत्प्रयुक्तत्वाद् हविर्मात्रप्रयोजकत्वश्रवणात् । प्रकरणाद्वाक्यस्य बलवत्त्वादिति भावः ॥ २ ॥

आरादपीति चेत् ॥ ३ ॥

पूर्वपक्षी शङ्कते । आरादिति । आरात्समीपे शिष्ट पिण्डपितृयज्ञस्यापि बर्हिर्वेदिश्चोपकारकं स्यात् । सर्वशेषत्वादिति ॥ ३ ॥

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥ ४ ॥

अंग दोनों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है उसका प्रकरण के बल से सङ्कोच नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकरण निर्बल और वाक्य प्रबल है यह भाव है ॥ २ ॥

अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी आशङ्का करता है । आरादिति । (आरात्) प्रधान याग के समीप में विहित पिण्ड पितृ यज्ञ के भी बर्हि वेदि आदि उपकारक = अंग होने चाहिये, क्योंकि अंगों की भांति वह भी प्रधान याग की सन्निधि में विधान किया गया है, और बर्हि आदिक सब के शेष हैं ऐसा पूर्व में सिद्धान्त किया गया है ॥ ३ ॥

अब उक्त शङ्का का परिहार करते हैं । न वाक्यमिति ।

उक्तातिप्रसङ्गं परिहरति । न वाक्यमिति । भवेदेत-द्यदीदं वाक्यं स्वतन्त्रं स्यात् । बर्हिर्वेद्यादिवाक्यं तु दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेतेत्यनेन एक वाक्यतामा-पन्नमिति पूरणीयम् । तत्प्रकरणपाठेन तदर्थत्वाद् ॥ ४ ॥

लिंगदर्शनाच्च ॥ ५ ॥

उक्तार्थे लिङ्गमप्याह । लिङ्गमिति । ध्रुवामेवाग्रे ऽभि-घारयति ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवतीति

(वाक्यं) पिण्ड पितृ याग के बर्हिं आदि उपकारक तब हो सकते हैं यदि यह " बर्हिर्लुनाति " इत्यादि वाक्य स्वतन्त्र अर्थात् किसी के प्रकरण पठित न हो । परन्तु बर्हि वेद्यादि वाक्य " दर्शपूर्णमासाभ्यां " आदि वाक्य के साथ एक वाक्यता को प्राप्त है इसलिये पिण्ड पितृ यज्ञ के अङ्ग नही हो सकते । क्योंकि दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पाठ होने से प्रधान तथा अंग याग दोनों के ही लिये हैं अन्य के लिये नहीं ॥ ४ ॥

अब उक्त अर्थ में लिंग भी कहते हैं । लिंगमिति । " प्रथम " " ध्रुवा " नामक पात्र में अभिघारण करे, तदन्तर " आज्य भाग नामक प्रधान दो आहुतियें दे " यह वाक्य अभिघारण में आज्य भाग की अंगता देखाता है । यदि

अभिघारणस्याज्यभागार्थतां दर्शयति । यथा रभिघारणस्य उभयार्थत्वं तथैवेतरेषामङ्गानामिति भावः ॥ ५ ॥

स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थत्वम् । अधि० २ ।

फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥ ६ ॥

ज्योतिष्टोमे " केशश्मश्रुवपते " " नखानिनिकृन्तते" (तै. सं. ६।१।१।२) " यवागूराजन्यस्य व्रतम् (तै. सं. ६।२।५।२) " पयो ब्राह्मणस्य व्रतम् " (तै. सं. ६।२।५।३) इत्यादय आम्नाताः । तेऽङ्गप्रधानार्था उत प्रधानार्था इति संशये, पूर्ववदुभयार्थाः इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । फलेति स्वामिना यजमाने न संयुक्तं यजमान संस्कार

अभिघारण मे आज्य भाग की अंगता न हो तो ध्रुवा में उपांशु याग के लिये केवल अभिघारण का विधान करना चाहिये, अग्रत्वविशिष्ट अभिघारण का विधान नहीं करना चाहिये, परन्तु किया है अतः सिद्ध होता है कि अभिघारण ध्रुवा और आज्याभाग दोनों का अंग है । जैसे अभिघारण का उभयार्थत्व है वैसे ही इतर अंगों को भी उभयार्थत्व यह भाव है ॥ ५ ॥

अत्र यजमान के " वपन " आदि संस्कारों को प्रधान याग का अंग कथन करते हैं द्वितीय अधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में सिर के बाल तथा दाढी मुडावे, नखों को छेदन करे, इत्यादि वाक्यों से "केशश्मश्रुवपन" तथा "पयोव्रत"

रूपं कर्म प्रधानस्याङ्गं फल संयोगात् फल भोक्तृत्वादित्यर्थः यजमानस्य द्वे रूपे कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चेति । तत्र

आदि अनेक धर्म यजमान के विधान किये हैं उक्त धर्म अंग तथा प्रधान के अङ्ग हैं किंवा प्रधान के अङ्ग हैं इस संशय के होने पर, पूर्व अधिकरण के न्याय की भांति उभयार्था हैं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । फलेति । (स्वामिना) यजमान के साथ (संयुक्तं) यजमान का वपनादि संस्कार रूप कर्म प्रधान याग का अङ्ग हैं अर्थात् ज्योतिष्टोम याग में जो ग्रहों के द्वारा सोम का होम होता है वह प्रधान कर्म तथा अग्नीषोमीयादि पशुओं का दान आदि गौण कर्म हैं इन दोनों के मध्य प्रधान कर्म काल में उक्त वपनादि यजमान का कर्तव्य हैं क्योंकि (फलसंयोगात) वह फल का भोक्ता है अर्थात् यजमान के जो " वपन " आदि संस्कार कर्म विधान किये हैं वे किसी संस्कार्य्य कर्म की आकाङ्क्षा करते हैं जिसके अनुष्ठान से यजमान का प्रभूत फल की प्राप्ति हो, परन्तु ऐसा एक प्रधान कर्म ही है इसलिये यजमान के उक्त वपनादि धर्म भी उसी के अङ्ग हैं प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्मों के नहीं । यजमान के याग कर्तव्य और फल भोक्तृत्व यह दो आकार हैं । तहां कर्तृत्व की सिद्धि में शास्त्रीय संस्कार की अपेक्षा नहीं क्योंकि वपनादि संस्कारों से रहित भी ऋत्विजों द्वारा याग क्रिया

कर्तृत्व सिद्धौ न शास्त्रापेक्षा किं तु तत्संस्कार साध्यत्वा-द्भोक्तृत्वस्य शास्त्रैक समाधिगम्यत्वमतः फलिसंस्काराभा-

---

की सिद्धि देखने में आती है किन्तु वपनादि संस्कारों से कृत होने के कारण भोक्तृत्व शास्त्रैकगम्य है इसलिये फल विशिष्ट संस्कारों का अन्वय भोक्तृत्व के साथ ही होना योग्य है उसमें अन्वय होने पर फल का उक्त भोतृत्व में ही सम्बध है और फल का सम्बन्ध प्रधान याग के साथ भी होने से संस्कारों को प्रधानार्थत्व है यह भाव है।

कोई तो ऐसा अर्थ करते हैं कि यजमान के याग कर्तृत्व तथा फल भोक्तृत्व यह दो आकार हैं और इनमें प्रथम आकार गौण तथा दूसरा मुख्य है, मुख्य तथा प्रधान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, उक्त दोनों आकारों के मध्य यदि प्रथम आकार की अपेक्षा से यजमान के उक्त धर्मों का विधान माना जाय तो वह प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों का अङ्ग हो सकते हैं क्योंकि यजमान द्वारा उनका दोनों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु उक्त आकार की अपेक्षा से उनका विधान नहीं किया किन्तु दूसरे आकार की आपेक्षा से किया है, क्योंकि यजमान के उक्त याग का कर्ता होने मे एक फल प्रबल निमित्त है और फलवाला होने से केवल प्रधान कर्म ही उक्त आकार का प्रयोजक हो सकता है गौण नहीं और जो यजमान के उक्त धर्म का प्रयोजक

क्तृत्वे नैव साकमन्वयमर्हन्ति तत्रान्वये फलस्य तत्रैव सम्बन्धात्फल सन्निकर्षात्प्रधानार्थत्वमिति भावः ॥ ६ ॥

सौमिकवेद्यादिनामुभयाङ्गत्वम् । अधि० ३ ।
चिक्कीर्षया च संयोगात् ॥ ७ ॥

ज्योतिष्टोमे षटत्रिंशत्प्रक्रमाप्राची, चतुर्विंशतिरग्रेण, त्रिंशज्जघनेनङ्यति शक्ष्यामहे" (मै० सं० ३।८।४) इति वाक्येन सौमिकीं वेदिं विधाय तस्यां याग चिकीर्षाऽऽम्नाता, सा सौमिकीं वेदिरुभयार्था उत प्रधानार्थेति संशये पूर्व

नही है उसके साथ यजमान धर्मों का सम्बन्ध होना असम्भव है ॥ ६ ॥

अब " सौमिकीं " नामक वेदि को प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्मों का अङ्ग कथन करते हैं तृतीय अधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में " छत्तीस पाद (कदम) लम्बी, चौवीस पाद तथा तीस पाद आगे पीछे से चौडी होना चाहिये, इतनी लम्बी चौडी वेदि में याग किया जा सकता है " । इस वाक्य से सौमिकी बेदि का विधान करके उक्त वेदि में याग करने की इच्छा कथन की है, वह सौमिकी वेदि प्रधान तथा गौंण दोंनों कर्मों का अंग है किंवा प्रधान कर्म का अंग है इस संशय के होनें पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । चिकीर्षेति । (च) और उक्त

पक्षमाह । चिकीर्षेति । इयं प्रधानार्था चिकीर्षया इयति शक्ष्यामिति सौमिक वेदि सन्निधौ चिकीर्षा घटित वाक्य श्रवणात् । पुरुषस्य चिकीर्षितं प्रधानं फलवत्त्वात् । अङ्गानि न तथेति भावः ॥ ७ ॥

अभिमर्शनस्याङ्ग प्रधानोभयाङ्गत्वम् । अधि. ४ ।

तथाऽभिधानेन ॥ ८ ॥

एतदधिकरणमसमाप्यैव अधिकरणान्तरारम्भः ।

सौमिकी नामक वेदि प्रधान कर्म का अंग है, क्योंकि (चिकीर्षया) चिर्कीर्षा द्वारा (संयोगात्) उसका उसीके साथ सम्बन्ध पाया जाता है अर्थात् सौमिकी वेदि के सान्निधि में " इयति शश्क्ष्यामि" यह चिकीर्षा घटित वाक्य पाया जाता हैं। पुरुष को करने को इष्ट प्रधान कर्म हैं क्योंकि वह फलवाला है । अंग कर्म वैसे नहीं हैं अर्थात् फलवाले नहीं हैं यह भाव है । " प्राचीनवंश " नामक मण्डप की पूर्वदिशा में होनेवाले " सदः " तथा हविर्धान " आदि मण्डप विशेष सहित भू भाग का नाम "सौमिकी" वेदि है, इस वेदि में सोम सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य्य किये जाते हैं, अतएव इसको सौमिकी कहते हैं ॥ ७ ॥

अब " अभिमर्शन " को प्रधान तथा अंग उभय प्रकार के कर्मों का अंग कथन करते हैं चतुर्थ अधिकरण से । इस अधिकरण की समाप्ति न करके दूसरे अधिकरण का आरम्भ

दर्शपूर्णमासे चतुर्होत्रापौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्यामिति श्रूयते। पृथिवी होतेत्यादि मन्त्रश्चतुर्होता; अग्निर्होतेत्यादिश्च पञ्चहोता । तत्र "चतुर्होत्रामन्त्रेण" पञ्चहोत्राचाऽभिमर्शन विहितं तत्प्रधानार्थमुताऽङ्ग प्रधानार्थमिति संशये पूर्वपक्षमाह ! तथेति । यथा सौमिकी वेदि प्रधानार्था तथाऽऽभ्यां मन्त्राभ्यामभिमर्शनं प्रधान हविषा-

---

किया जाता है। दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "चतुर्हेता" नामक मंत्रों स पौर्णमासी आहुति का और "पञ्चहोता" नामक मंत्रों से अमावास्या आहुति का अभिमर्शन करे, अभिमर्शन तथा स्पर्श यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इत्यादि वाक्य पढे हैं। "पृथिवीहोता" इत्यादि मंत्रों का नाम "चतुर्होता" तथा "अग्निर्होता" इत्यादि मंत्रों का नाम "पञ्चहोता" है। उक्त वाक्यों में जो "चतुर्होता" तथा "अग्निर्होता" मन्त्रों से आहुति का स्पर्श विधान किया है वह प्रधान आहुति का अङ्ग है किंवा प्रधान तथा अङ्ग दोनों प्रकार की जाहुतियों का अङ्ग है अर्थात् उक्त मन्त्रों से केवल प्रधान आहूति का ही अभिमर्शन करे अथवा अङ्ग प्रधान दोनों आहुतियों का इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । तथेति । (तथा) जैसे सौमिकी वेदि प्रधान कर्म का अंग ह वैसे ही इन मन्त्रों द्वारा अभिमर्शन भी प्रधान आहुतियों का अङ्ग है। क्योंकि

मभिधानेन पौर्णमासीमित्यादि नाम्ना प्रधान वाचकेन संयोगात् । पौर्णमास्यमावास्या शब्दौ प्रधान वाचकाविति विद्वदधिकरणे व्यवस्थापितत्वादिति भावः इदमपि पूर्वपक्ष सूत्रम् ॥ ८ ॥

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकिर्षा स्यात् ॥ ९ ॥

प्रथमाधिकरणपूर्वपक्षं निरस्यति । तद्युक्ते इति तद्युक्ते अङ्गयुक्ते प्रधाने फलश्रुतिः फलसाधनत्वश्रुति । तस्मात्सर्वस्य साङ्गप्रधानस्य चिकीर्षा स्यादतः सर्वार्था वेदिरिति भावः ॥९॥

(अभिधानेन) "पौर्णमासीम्" इत्यादि प्रधान आहुति वाचक नाम के साथ अभिमर्शन पद का सम्बन्ध है। पौर्णमासी तथा अमावास्या ये दोनों शब्द प्रधान वाचक है ऐसा विद्वदाधिकरण में व्यवस्थित किया गया है यह भाव है । यह भी पूर्वपक्ष सूत्र है ॥ ८ ॥

अब प्रथम अधिकरण के पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं। तद्युक्त इति । (तद्युक्ते) अङ्ग सहित प्रधान कर्म में (फलश्रुतिः) फल साधनत्व का श्रवण पाया जाता है (तस्मात) इसलिये (सर्वचिकीर्षा) "इयति शक्ष्यामहे" में अङ्ग तथा प्रधान सब कर्म की चिकीर्षा (स्यात्) है केवल प्रधान की नहीं अतः = चिकीर्षा को अङ्ग तथा प्रधान कर्म दोनों विषयक होने से वेदि का भी दोनों के लिये होना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना

गुणाभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ॥ १० ॥

द्वितीयाधिकरणसिद्धान्तमाह । गुणेति । पूर्वोक्तवाक्ये अमावास्यापौर्णमासीशब्दाभ्यां गुणस्य अङ्गस्य कालस्याभिधानात्सर्वार्थं साङ्गप्रधानार्थमभिमर्शनम् । अयं भावः अमावास्यापौर्णमासीशब्दौ यदि प्रधानवाचकौ गृह्येते तस्य

अङ्ग तथा प्रधान कोई भी नहीं हो सकता यह भाव है ॥ ९ ॥

अब द्वितीय अधिकरण के पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं। गुणेति । "चतुर्होत्रा पौर्णमासी मभिमृशेत्" "पञ्चहोत्राऽमावास्यामाभिमृशेत्" आदि वाक्यों में अमावास्या तथा पौर्णमासी इन दोनों शब्दों से (गुणस्य) काल रूप अंग का (अभिधात्) कथन होने से (सर्वार्थं) अंग सहित प्रधान के लिये (अभिधानं) अभिमर्शन का विधान है। यह भाव है कि अमावास्या तथा पौर्णमासी ये दोनों पद यदि प्रधान कर्म के वाचक मानें जांय तो उसको क्रिया रूप हाने से स्पर्श होना सम्भव नहीं। अमावास्या तथा पौर्णमासी शब्द की हवि में लक्षणा कल्पना के अपेक्षा प्रत्यय की ही सप्तमी के अर्थ में लक्षणा करना युक्त है। तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों में जो पौर्णमासी तथा अमावास्या पद के आगे द्वितीया विभक्ति है उसको सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे होने से आधार का वाचक है कर्म वाचक नहीं। और पौर्णमासी काल तथा अमावास्या काल जैसे प्रधान

क्रियारूपत्वेन अभिमर्शो न सम्भवति तस्य हविषि लक्षणा कल्पनापेक्षया प्रत्ययस्यैव सप्तम्यर्थे लक्षणा युक्तेति ॥ १० ॥

दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थत्वम् । अधि० ५ ।

दीक्षादाक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य ॥ ११ ॥

ज्योतिष्टोमे "दण्डेन दीक्षयति" "तस्य द्वादश शत दाक्षिणेति वाक्येन दीक्षादक्षिणं विहितं, तद् दीक्षा

आहुति का आधार है वैसे ही अंग आहुतियों का भी आधार हैं और दोनों आहुतियों का समान रूप से आधार होने के कारण "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्चस्थवाची मञ्च पद की भांति उक्त दोनों पद भी उनके वाचक हो सकते हैं। और उक्त दोनों प्रकार की आहुतियें उक्त दोनों पदों का वाच्य होने से अभिमर्शन क्रिया का कर्म हो सकती हैं, क्योंकि दोनों के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट है। इसलिये दशपूर्ण मास के प्रकरण में जो अभिमर्शन विधान किया गया है वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों आहुतियों का अंग है केवल प्रधान आहुति का नहीं ॥१०॥

अब दीक्षा तथा दाक्षिणाओं को प्रधान कर्म का अङ्ग कथन करते हैं पञ्चम अधिकरण से। "(अध्वर्युः यजमान हस्ते औदुम्बरं दण्डंदद्यात् दीक्षाभिर्व्यजनार्थमित्यर्थः" ज्योतिष्टोमे द्वादशोत्तर शतं गावो दाक्षिणत्वेन देयाइति भावः) दीक्षा की अभिव्यक्ति के लिये अध्वर्यु यजमान के हाथमें

दक्षिणमङ्गप्रधानार्थमुतप्रधानार्थमिति संशये । दीक्षादक्षिणयोः योग्यत्वेनोभयार्थत्वे प्राप्ते सिद्धान्तमाह । दीक्षेति । वचनात्सोमस्य दीक्षा सोमस्य दाक्षिणेति वचनात् शेषं स्पष्टम् ॥११॥

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥ १२ ॥

उक्तार्थे साधकान्तरमाह । निवृत्तीति अग्नीषोमीय

ओदुम्बर दण्ड दे " " ज्योतिष्टोम में बारासौ गौयें दक्षिणा में देना चाहिये यह भावार्थ है । इत्यादि वाक्यों से जो दीक्षा तथा दक्षिणा विधान की है वह दीक्षा दक्षिणा अंग प्रधान दोनों कर्मों के लिये हैं किंवा प्रधान कर्म के लिये ही हैं इस संशय के होने पर । दीक्षा की योग्यता यजमान में है और दाक्षिणा की कर्म करों में है और यजमानादि अंग तथा प्रधानार्थ हैं उन्हों के द्वारा दीक्षा तथा दक्षिणा भी उभयार्थ हैं इस पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । दीक्षेति । " तु " शब्द पूर्व अधिकरण से विलक्षणता सूचना करने के लिये आया हैं (दीक्षा दक्षिणं) दीक्षा तथा दक्षिणा (प्रधानस्य) प्रधान कर्म का अंग हैं, क्योंकि (वचनात्) यह ज्योतिष्टोम की दीक्षा है, यह ज्योतिष्टोम याग की दक्षिणा है, इत्यादि वाक्यों से उनका प्रधान कर्म के साथ स्पष्टतया सम्बन्ध पाया जाता है ॥११॥

अब उक्त अर्थ की सिद्धि में साधकान्तर को कहते हैं । निवृत्तीति । (च) और (निवृत्तिदर्शनात्) अग्नीषोमीय याग

विकृतौ निरूढपशौ षड्ढोतारं मनसा ऽनुसृत्य जुहोति सैवास्य दीक्षेतिस्तुत्या दीक्षानिवृत्तिदर्शनान्नोभयार्था, अङ्गार्थत्वे अग्नीषोमार्थत्वेन विकृतौ अतिदेशेन प्राप्ता निवृत्त्ययोगादिति भावः ॥ १२ ॥

अन्तर्वेदेर्यूपानङ्गत्वम् । अधि० ६ ।

तथा यूपस्य वेदिः ॥ १३ ॥

की विकृति निरूढ पशु नामक याग में "षड्ढोतारं = "षड् होता" संज्ञक मन्त्र का मन से अनुसरण करके आहुति दी जाती है यही उसकी दीक्षा है, इस स्तुति से दीक्षा की निवृत्ति पाये जाने से दीक्षा अंग तथा प्रधान दोनों कर्मों का अङ्ग नहीं। और जैसे अङ्ग कर्मों में दीक्षा की निवृत्ति सिद्ध है वैसे ही दक्षिणा की निवृत्ति भी जानना चाहिये, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षा तथा दक्षिणा विधान की गई है वह प्रधान कर्म का अङ्ग हैं प्रधान तथा अङ्ग उभय कर्म का नहीं। अंगार्थ मानने पर दीक्षा अग्नीषोमीय याग के लिये भी हो जायगी और अग्नीषोमार्थ हो जाने से उसका विकृति निरूढ पशु नामक याग में अतिदेश से प्राप्त होने पर निवृत्ति का अयोग हो जायगा यह भाव है ॥ १२ ॥

अब वेदिके अन्त देश को यूप की अनङ्गता कथन करते

अग्नीषोमीय पशौ "यूपं मिनोति" इति यूपावटं प्रकृत्य श्रूयते, अर्धमन्तर्वेदिमिनोत्यर्धं बहिर्वेदीति। अनेनाऽवटमुद्दिश्य संस्कृतान्तर्वेद्यर्धदेशोऽङ्गत्वेन विधीयत उताऽसंस्कृतोऽर्धोदेशाऽन्तर्वेद्या अर्धो बहिश्च यथा स्यात् तादृश देशं लक्षयित्वा सविधीयत इति संशये पूर्वपक्षमाह। तथेति। यथा दीक्षा दक्षिणं वचनात्प्रधानार्थं तथोक्त वचनाद्यूपस्य यूपाऽवटस्य वेदिरर्धान्तर्वेदिरङ्गम् ॥ १३ ॥

देशमात्रं वा शिष्टेनैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥

हैं षष्ठ अधिकरण से। ज्योतिष्टोमयाग के अन्तर्गत आलभनीय " अग्नीषोमीय ". पशु के प्रकरण मे " यूप गाढने के लिये गर्त्त को मापे " इस वाक्य से यूपावट को प्रस्तुत करके, यूप गाढने के लिये अर्ध भूमी वेदिके भीतर मापना चाहिये अर्ध भूमि वेदि के बाहर यह वाक्य पढा है। इस वाक्य से यूपावट कों उद्देश करके संस्कृत वेदिक भीतर अर्ध भूमि का विधान किया जाता है किंवा असंस्कृत अर्ध देश अर्थात् वेदिके समीप अर्ध देश वेदिक के बाहर जैसे हो, तादृश को लक्षित करते उक्त देश विधान किया जाता है इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं। तथेति । जैसे वाक्य विशेष से दीक्षा तथा दक्षिणा प्रधान कर्म का अंग है (तथा) वैसै हीं उक्त वाक्य से (यूपस्य) यूपाऽवटकी (वेदिः) अर्ध अन्तर वेदि अंग है ॥ १३ ॥

सिद्धान्तमाह । देशमात्रमिति । देशमात्रमसंस्कृत तावन्मात्रं लक्षयित्वा विधीयते । शिष्टेन अर्धं बहिर्वेदीति शिष्टेन एकवाक्यत्वात् । अर्धान्तर्वेदीविधाने अर्धं बहिर्वेदीति बहिर्वेद्यर्धमपि विधेयम् । उभयविधौ वाक्यभेदस्त्वपरिहार्यः । देशविशेषे लक्षणायां तादृशो देशविशेष एक एव विधीयत इति न वाक्यभेद इति भावः ॥ १४ ॥

हविर्धानस्य सामिधेन्यनङ्गत्वम् । अधि० ७ ।

जब सिद्धान्त को कहते हैं देशमात्रमिति। (देशमात्राम्) " अर्द्ध मन्तर्वेदि " शब्द से वेदिके समीप देशमात्र का उपलक्षण कर के असंस्कृत देश मात्र का विधान है, क्योंकि (शिष्टेन) देशमात्र का " अर्धं बहिर्वेदि " इस वाक्य से उपदिष्ट के साथ एक वाक्य तापायी जाती है। वेदिके भीतर अर्ध भाग का विधान मानेन पर " अर्धं बहिर्वेदि " इस वाक्य से वेदि के बाहर अर्ध भाग का विधान होगा। और उभय का विधान होने पर वाक्य भेद अपरिहार्य होजायगा। देश विशेष मे लक्षणा मानने पर तादृश देश विशेष एकही विधान किया जाता है इसलिये वाक्य भेद नहीं होता यह भाव है। अंधमन्त वेद्यर्धं बहिर्वेदि आदि वाक्य में अन्तर शब्द का अर्थ भीतर मान कर पूर्व पक्ष होता है आर समीप मानकर सिद्धान्त है ॥ १४ ॥

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्धानयोर्वच
नात्सामिधेनीनाम् ॥ १५ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, उत यत्सुन्वन्ति सामिधनीस्तदन्वा। हुरितीति । सामिधनीहविधानयोर्मध्ये यस्मिन् हविर्धाने सुन्वान्ति तत्सामिधेनीभिः संबन्धयेदित्यर्थः । अत्र हाविर्धानं सामिधेन्यङ्गमुत तल्लक्षितो देश इति संशये पूर्वपक्षमाह अत्र इत्यन्तं विषयवाक्यं तस्य वचनादित्यनेनान्वयः ।

अब हविर्धान नामक शकट को सामिधेनियों की अनङ्गता कथन करने के लिये सप्तम अधिकरण की रचना करते हैं। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में " हविर्धान नामक मण्डप के दक्षिण तथा उत्तर भागमें स्थित दाक्षिण हविर्धान तथा उत्तर हविर्धान दोनों शकटों के मध्य जिस " दक्षिण हविर्धान " नामक शकट में सोम कूटा जाता है उसको सामिधेनियों के साथ सम्बन्ध करे यह अर्थ है। यह वाक्य पढा है। इस वाक्य में " हविर्धान " नामक शकट सामिधेनी के अङ्गरूप से विहीत है किंवा हविर्धान से लक्षित देश इस संशय के होने पर पूर्वपक्षका कहते हैं। सामिधेनीति। सूत्र में " इत्यन्त " विषय वाक्य है उसका " वचनात् " इस पदके साथ अन्वय करना चाहिये। (हविर्धानयोः) हविर्धान नामक शकटों के मध्य जिस शकट में सोम कूटा जाता है वह (सामिधेनीनां) सामिधेनियों का अङ्ग है, क्योंकि (सामिधेनीस्तद-

हविर्धानयोर्मध्ये यस्मिन् सुन्वन्ति तत्सामिधेनीनामङ्गम् । यस्मिन् सुन्वन्ति तदन्वाहुरिति वचनात् ॥ १५ ॥

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥ १६ ॥

सिद्धान्तमाह । देशेति । देशविशेषः दक्षिणहविर्धान देशमात्रं नियम्यतः कुतः, सोमस्य अर्थ कर्म अकारकं हविर्धारणद्वारोपकारक प्रत्यक्षं । तथा च सोमाङ्गत्वेन अङ्ग्यन्तरं नाकाङ्क्षति दर्शपूर्णमासादाहवनीयप्रत्यग्देशोऽति

न्वाहुरिति) जिसमें सोमकूटा जाता है उसको सामिधेनियों के साथ सम्बन्ध करे " इस वचन से ऐसाही पाया जाता है । शकट, छकडा, गड्डा, गाडी यह सब पर्य्याय शब्द हैं ॥ १५ ॥

अब सिद्धान्तको कहते हैं । देशेति । (देशमात्रं) उक्त-शकट स्वसन्निहित देशविशेष मात्रका अर्थात् दक्षिण हविर्धान नामक शकट से स्वसन्निहित देशमात्र का नियम किया जाता है (हि) क्योंकि (सोमस्य) उक्त शकट ज्योतिष्टोम याग का (अर्थकर्म) अर्थकारक अर्थात् हवि के धारण द्वारा उपकारक अङ्ग (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष है और सामिधेनियें भी तदपेक्षित अग्नियों के प्रज्वालन में विनियुक्त होने से उक्त याग काही अङ्ग हैं अर्थात् ज्योतिष्टोम यागमें हवि देनेके लिये जब अग्नियें प्रज्वलित की जाती हैं तब " सामिधेनी " नामक मन्त्रों का उच्चस्वर से उच्चारण किया जाता है, यह उन अग्नियों का एक संस्कार विशेष है, इसी

देशशास्त्रेण प्राप्तः स एव हविर्धानदेशः तत्र हविर्धानशकटौ द्वौदक्षिणोत्तरौ तयोर्द्वयोरप्यतिदेशेन पक्षे प्राप्तौ यस्मिन् सुन्वन्तीति वचनेन दक्षिणहविर्धानदेशनियममात्रमनेन क्रियत इति भावः ॥ १६ ॥

समाख्यानं च तद्वत् ॥ १७ ॥

से संस्कृत हुई अग्नियें उक्त यागमें हवि ग्रहण के लिये समर्थ होती हैं, अतएव अग्नियों के संस्कार द्वारा सामिधेनियें भी उक्तयाग का अङ्ग है और अङ्गोंका परस्पर अंगागिंभाव नहीं तथाच सोमका अंग होने से अन्य अंगी की आकाङ्क्षा नहीं करता। दर्शपूर्णमास यागके प्रकरण में अंग रूपसे सामिधेनियों का विधान किया गया है, इसलिये वह इनकी प्रकृति तथा सामिधेनियें विकृति हैं, और उक्त प्रकृतियाग में सामिधेनियों के उच्चारण का स्थान आहवनीय अग्निका पश्चिम देश है, और दर्शपूर्णमास से उक्त देश अतिदेश द्वारा सर्वत्र प्राप्त है वही देश ज्योतिष्टोमयाग में हविर्धान नामक शकट का होना चाहिये। ज्योतिष्टोम में दक्षिण तथा उत्तर दो हविर्धान नामक शकट होते हैं उक्त दोनों के भी देशका अतिदेश से पक्षमें प्राप्त होने पर "यस्मिन् सुन्वन्ति" इस वाक्य से दक्षिण हविर्धान नामक शकट के पश्चिम देशके नियम मात्र का विधान किया जाता है यह भाव है ॥ १६ ॥

समाख्यानं सोमस्य हविर्धानमिति तद्वद् अस्माभिर्यदुक्तं सोमाङ्गमिति तमेवार्थं दृढयति ॥ १७ ॥

उत्सर्गातिरिक्तस्यान्यद्वारा ऽनुष्ठानम् । अधि० ८ ।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥ १८ ॥

दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि स्वेनैव अनुष्ठेयाम्युत स्वेनान्येन वा उतोत्सर्गमात्रं स्वयं कुर्याच्छेषमन्येन इति संशये प्रथमपक्षं व्यवस्थापयति शास्त्रेति शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायसिद्धं तल्लक्षणत्वाद् भोक्तृ त्वलक्षणत्वाद्

(च) और (समाख्यानं) ज्योतिष्टोम का हविर्धान संज्ञक शकट अंग है, यह समाख्यान भी उक्त शकट को ज्योतिष्टोमका अंग बोधन करताहुआ (तद्वत्) हविर्धान सोमयाग का अंग है ऐसा हमसिद्धान्तियोंने जो कहा है उसी अर्थको दृढ करता है ॥ १७ ॥

अब उत्सर्गसे भिन्न कर्मका अन्य द्वारा अनुष्ठान कथन करने के लिये अष्टम अधिकरण की रचना करते हैं। "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्ग कामः" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गका मोयजेत" = स्वर्गकी कामना वाला पुरुष अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोमयाग करे, इत्यादि वाक्यों में जो स्वर्गके साधन दर्शपूर्ण मासादि कर्म विधान किये गये हैं उनका

यजमानस्य प्रयोगे अनुष्ठाने स्वयमेव स्यात् । कर्तृत्व भोक्तृत्वयोः । सामानाधिकरण्यसिद्ध्यर्थमिति भावः ॥१८॥

उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः

स्वयं वा स्यात् ॥ १९ ॥

द्वितीयपक्षमाह । उत्सर्गइति । उत्सर्गे ऋत्विजां

स्वयं अनुष्ठानकरे किंवा स्वयंकरे और दूसरे से करावें अथवा उत्सर्ग मात्र स्वयं करे शेष कर्म अन्यसे करावे इस संशयके होनेपर प्रथम पक्षकी व्यवस्था करते हैं । शास्त्रेति । (शास्त्र फलं) शास्त्रोक्त अग्निहोत्र आदि कर्मों का फल (प्रयोक्तरि) अनुष्ठाता में होता है यह न्याय सिद्ध है, क्योंकि (तल्लक्षणत्वात्) यजमान को ही फलका भोक्ता शास्त्र से सिद्ध है (तस्मात्) इससिये (प्रयोगे) उन कर्मोंके अनुष्ठानमें (स्वयं) आपही (स्यात) अनुष्ठाता हो । कर्तृत्व भोक्तृत्वके सामानाधिकरण्य सिद्धि के लिये आपही साङ्ग प्रधान कर्मोंको करे अन्यथा फल असम्भव होजायगा यह भाव है ॥ १८ ॥

अब यजमान आप ही करे अथवा ऋत्विजों से करावे इसमें कुछ नियम नहीं इस द्वितीय पक्ष को कहते हैं । उत्सर्ग इति (उत्सर्गे) ऋत्विजों के दक्षिणादान में (प्रधानत्वात्) मुख्यत्व है अर्थात् सम्पूर्ण यागाङ्गों के मध्य दक्षिणादान एक मुख्य अंग है

दक्षिणात्यागे प्रधानत्वान्मुख्यत्वात्प्रधानस्य यजमानस्य सिद्धौ शेषकारी उत्सर्गादन्यकर्मणां कर्ता स्वयमन्य ऋत्विग्वेति द्रव्येण परिक्रीतैः कृते स्वयमेव कृतं भवतीति भावः ॥ १९ ॥

अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

सिद्धान्तमाह । अन्य इति । द्रव्योत्सर्गादन्यत्रान्य एव परिक्रयाम्नानात् । ननु स्वस्यैव परिक्रयो ऽत्वत

इसलिये उसका कर्त्ता होना (प्रधानस्य) यजमान को ही सिद्ध होता है अन्य को नहीं, अतः (शेषकारी) दक्षिणादान से भिन्न यावदंग कर्मों का कर्त्ता स्वयं यजमान हो (वा) अथवा (तस्मात्) यजमान से (अन्य) भिन्न ऋत्विक् हो । और जो द्रव्य परिक्रीतों से अर्थात् ऋत्विजों से किया होता है वह स्वयं यजमान का ही किया होता है, इस न्याय के अनुसार उन को यजमान कृत कहने में कोई दोष नहीं, यह भाव है ॥ १९ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । अन्य इति । द्रव्य दान से भिन्न कर्मों में (अन्यः) यजमान से भिन्न ऋत्विज ही (स्यात्) शेष अंग कर्मों के अनुष्ठाता होने चाहियें, (परिक्रयाम्नात्) उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ ही ऋत्विजों का परिक्रय कथन किया है । ननु अपना ही परिक्रय हो इस पर कहते हैं । प्रत्यगात्मनीति ।

आह । प्रत्यगात्मनि स्वस्मिन् परिक्रयस्य प्रतिषेधाद् असम्भवात् ॥ २० ॥

परिक्रीतानामृत्विजां संख्याविशेषनियमः । अधि. ९।

तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमाविशेषात् ॥ २१ ॥

परिक्रीतेषु संख्यानियमोऽस्ति न वेति संशये पूर्वपक्षमाह । तत्रेति । तत्र ऋत्विग्विषये अनियमः संख्याया अनियमः : अविशेषाद् विशेषवचनाभावात् । कर्तृपरिमाणं कर्तृसंख्या अर्थात्कर्मानुरूपम् । यथा लोके गृहादिनिर्माणे

(प्रत्यगात्मनि) अपने आपमें परिक्रय का होना (विप्रतिषेधाद्) असंभव है ॥ २० ॥

अब याग में परिक्रीत ऋत्विजों की संख्या विशेष का नियम कथन करने के लिये नवम अधिकरण की रचना करते हैं। परिक्रीतऋत्विजों में संख्या का नियम है किंवा नहीं इस संशयके होनेपर पूर्वपक्षको कहते हैं । तत्रेति । (तत्र) ऋत्विजों के विषयमें (अनियमः) संख्याका कोई नियम नहीं । क्योंकि (अविशेषात्) संख्या विशेषका विधायक कोई वाक्यविशेष नहीं पाया जाता इसलिये कर्मों के अनुष्ठानमें (कर्तृपरिमाणं) कर्ताओं की संख्या (अर्थात्) कर्मके अनुसार (स्यात्) होनी चाहिये । जैसे लोकमें गृहादि के निर्माण समयजितना जैसा कार्य होता है उतने नौकर नियोजित किये जाते हैं वैसाही श्रौतकर्म में भी ऋत्विजों का परिक्रय

भृत्यान् योजयति, कार्यं दृष्ट्वैव तदनुसारेण याजयति तथैव श्रौतेऽपि कर्मणीत्यर्थसिद्धा संख्येति भावः ॥ २१ ॥

अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥ २२ ॥

सिद्धान्तमाह । अपि वेति । श्रुतिभेदाद् अध्वर्युः ब्रह्मा होतेतिनामभेदात् । प्रतिनामधेयं यावन्ति नामानि तावत्संख्याकाः स्युः ॥ २२ ॥

एकस्य कर्मभेदात् ॥ २३ ॥

एकस्यैव तत्तत्क्रियानिमित्तं नामद्वयं त्रयं वा किं न स्यादिति शङ्कते । एकस्येति ॥ २३ ॥

कामके उपर है संख्या का नियम नहीं यह भाव है ॥ २१ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । अपिवेति । ज्योतिष्टोमयाग में इतने ऋत्विज होने चाहिये इस प्रकार संख्या विधायी कोई वाक्यविशेष नहीं मिलता तथापि प्रत्येक कर्मके साथ (श्रुतिभेदात्) अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा होता इत्यादि १६ नाम भेदका श्रवणपाये जाने के कारण (प्रति नामधेयं) जितने नाम आये हैं तावत् संख्याक ऋत्विज (स्युः) होने चाहिये अनियत नहीं ॥ २२ ॥

एकही के तत् २ क्रिया भेदनिमित्तक दो अथवा तीन नाम क्यों नहो ऐसी शङ्का करते हैं एकस्येति (एकस्य) एकही ऋत्विक् के अध्यर्यु आदि उक्त नाम हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं ॥ २३ ॥

नोत्पत्तौ हि ॥ २४ ॥

अध्वर्युं वृणीते ब्रह्माणं वृणीतइत्यादिषोडशनामाभिः उत्पत्तौ प्रथममेव वरणविधानाद् नैकस्य नामद्वयसंबन्ध इति समाधत्ते । नेति ॥ २४ ॥

चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वम् । अधि. १० ।

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥ २५ ॥

चमसाध्वर्यूणामेष्वेवान्तर्भाव उतान्यइति संशये एष्वे-

अध्वर्यु तथा ब्रह्मादि को वरे, इत्यादि षोडश नामों से (उत्पत्तौ) वरण विधायक वाक्यों में एक २ का भिन्न २ ही वरण का विधान पाये जाने से एक का नाम द्वय से सम्बन्ध नहीं हो सक्ता ऐसा समाधान करते हैं । नेति । (न) उक्त कथन ठीक नहीं (हि) क्यों (उत्पत्तौ) वरण विधायक वाक्य में अध्वर्यु आदि १६ ऋत्विजों का वरण विधान किया गया है ॥ २४ ॥

अब " चमसाध्वर्यु " संज्ञक सहकारी कर्म कर विशेषों का उक्त १६ ऋत्विजों से पृथक्त्व कथन करते हैं दशम अधिकरण से । चमसाध्वर्युओं का १६ ऋत्विजों में ही अन्तर्भाव है किंवा उक्त ऋत्विजों से भिन्न हैं इस संशय के होने पर इन ऋत्विजों में ही अन्तर्भाव है क्योंकि अध्वर्यु पुरुषों का ही चमस के सम्बन्ध से चमसाध्वर्यव यह संज्ञा हो सकती है इस पूर्वपक्ष के होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । चमसेति । (च) और (चमसाध्वर्यवः)

वान्तर्भाव इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । चमसेति । चमसाध्वर्यवो ऽन्ये तैरुक्तनामभिः चमसाध्वर्यून् वृणीतइति व्यप देशाद् निर्देशात् ॥ २५ ॥

चमसाध्वर्यूणां वहुत्वम् । अधि. ११ ।

उत्पत्तौ बहुश्रुतेः ॥ २६ ॥

ते चमसाध्वर्यवो बहव इति सिद्धान्तमाह । उत्पत्ता-

चमसाध्वर्यु उक्त १६ ऋत्विजों से भिन्न हैं क्योंकि (तैः) उक्त अध्वर्यु आदि नामों के साथ "चमसाध्वर्युओं को वरे" इत्यादि वाक्यों से (व्यपदेशात्) चमसाध्वर्युओं का वरण विधान किया है, यदि चमसाध्वर्यु उनसे पृथक् न हो तो इनका वरण भी पृथक् विधान न किया जाता, क्योंकि एक ही ऋत्विक् का दो बार वरण नहीं हो सक्ता ॥ २५ ॥

अब चमसाध्वर्युओं का बहुत्व संख्या कथन करते हैं एकादश अधिकरण से । किमेको, द्वौ बहवोवेत्य नियमः उतबहवएवेति संशये । अनियमः, इति पूर्वपक्षे ते चमसाध्वर्यवो बहव इति सिद्धान्तमाह । उत्पत्ताविति । (उत्पत्तौ) "चमसाध्वर्यून् वृणीते इति वरण वाक्ये (बहुश्रुतेः) बहुवचन निर्देशात् चमसाध्वर्यु एक, हो दो हो अथवा बहुत हो ऐसा अनियम हैं किंवा बहुत ही हो ऐसा नियम है इस संशय के होने पर अनियम है ऐसा पूर्वपक्ष होने पर उक्त चमसाध्वर्यु बहुत ही होना चाहिये इस सिद्धान्त को कहते हैं । उत्पत्ताविति । (उत्पत्तौ) "चमसाध्वर्युओं

विति । उत्पत्तौ वरणवाक्ये शेषं स्पष्टम् ॥ २६ ॥

चमसाध्वर्यूणां दशसंख्या नियमः । अधि. १२ ।

दशत्वं लिङ्ग दर्शनात् ॥ २७ ॥

ज्योतिष्टोमे सन्ति चमसाध्वर्यवः । ते च बहव इत्युक्तम् । कियन्ता बहवः त्रय उत परार्द्धपर्य्यन्ता इति संशये यतो बहुनां मध्ये त्रित्वं प्रथममुपस्थितं तत्परित्यागे माना भावात् त्रयः चमसाध्वर्यव इति पूर्व पक्षे ते चमसाध्वर्यवो

को वरे " इस वरण वाक्य में (बहुश्रुतेः) बहुवचन से निर्देश किये जाने के कारण ॥ २६ ॥

अब चमसाध्वर्युओं को दश संख्या का नियम कथन करते हैं द्वादश अधिकरण से ।

ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु विहित हैं । और उक्त चमसाध्वर्यु बहुत होते हैं ऐसा कहा जा चुका है । कितने बहुत लेना चाहिये तीन किंवा परार्द्धपर्य्यन्त लेना चाहिये इस संशय के होने पर जिस कारण बहुतों के मध्य त्रित्व प्रथम उपस्थित होता है और उसके परित्याग में कोई प्रमाण नहीं इसलिये तीन चमसाध्वर्यु होने चाहिये इस पूर्वपक्ष के होने पर उक्त चमसाध्वर्यु दश होने चाहिये तीन नहीं इस सिद्धान्त को कहते हैं । दशेति । चमसाध्वर्यु ज्योतिष्टोममें दश लिये जाते हैं न्यूनाधिक नहीं क्योंकि ज्योतिष्टोम की विकृति दशपेय नामक याग में " एक २ चमस पात्र के समीप सोम भक्षणार्थ दश २ जांय और यह सब ब्राह्मण

दशेति सिद्धान्तमाह । दशेति । तेषु दशत्वं ज्योतिष्टोम विकारे दशपेय नामके यागे " एकैकं चमसं दश दशोपसर्पन्ति शतं ब्राह्मणा इति लिङ्गात् । न्यूने अधिके वा शतत्वं विरुध्येतेति भावः ॥ २७ ॥

शमितुरपृथक्त्वम् । अधि. १३ ।

शमिता च शब्दभेदात् ॥ २८ ॥

ज्योतिष्टोमे " शमितारमुपनयीत " । स तेषामन्यतम

सौ होते हैं यह लिङ्ग मिलता है । यदि " चमसाध्वर्यू " दश न होते तो तत्सम्बन्धी चमसों के मध्य प्रतिचमस सोम भक्षणार्थ दश दश ब्राह्मणों का अनुसर्पण विधान करके उनकी सौ संख्या कथन न की जाती । उक्त संख्या के कथन करने से स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम याग में दश चमस तथा तत्सम्बन्धी चमसाध्वर्यु भी दश ही होते हैं न्यूनाधिक नहीं । न्यून अथवा अधिक होने पर सौ संख्या विरुद्ध हो जायगी यह भाव है ॥ २७ ॥

अब शमिता नामक ऋत्विक् का अध्वर्यु आदियों से अपृथक्त्व = पृथक् न होना कथन करने के लिये त्रयोदश अधिकरण की रचना करते हैं । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में " शमिता को यज्ञीय पशु के समीप रहने की आज्ञा दे " इस वाक्य से जो " शमिता " कथन किया है वह अध्वर्यु आदि के मध्य किसी एक का नाम है किंवा उन्हों से पृथक् है इस संशय

उतान्यस्तेभ्य इति संशये । तेषां वरणेऽसंकीर्तनात्तेषामन्यतम इति प्राप्ते, उच्यते पूर्वपक्षसूत्रम् । शमितेति । शमिताऽप्यतिरिक्तः शब्द भेदाद् नाम भेदात् ॥ २८ ॥

प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ॥ २९ ॥

सिद्धान्तमाह । प्रकरणेति । उत्पत्तेः वरणवाक्यस्य असंयोगात् अभावात् । प्रकरणात् प्रकरणकल्पकाध्वर्यव समाख्यावतिकाण्डे संज्ञपनादि पाठान्नाऽध्वर्युगणप्रति

के होने पर । अध्वर्यु आदि के वरण में शमिता के वरण का विधान नहीं किया है इसलिये इन्हों के मध्य किसी एक का नाम है यदि इन्हों से पृथक् होता तो इसके भी वरण का विधान होता ऐसा प्राप्त होने पर पूर्व पक्ष सूत्र कहा जाता है । शमितेति । (शमिता) शमिता नामक ऋत्विक् अध्वर्यु आदि १६ ऋत्विजों से भिन्न है, क्योंकि (शब्द भेदात्) उनसे इसका नाम भिन्न है ॥ २८ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । प्रकरणेति । (उत्पत्तेः) शमिता का कोई वरण वाक्य (असंयोगात्) नहीं पाया जाता । और (प्रकरणात्) प्रकरण कल्पक आध्वर्यव समाख्या वाले काण्ड में संज्ञपनादि का विधान पाया जाता है अतः अध्वर्यु के प्रतिप्रस्थाता आदि सहकारी पुरुषों से " शमिता " भिन्न नहीं । यद्यपि " शमितारः " इत्यादि मन्त्र का अध्वर्यु काण्ड में पाठ

प्रस्थात्रादि पुरुषेभ्यः शमिता भिन्नः । यद्यपि शमितार इत्यादि मन्त्रस्याध्वर्यु काण्डे पाठात्तस्यैव शमित्रमुचितं तथापि "परावर्ततेऽध्वर्युः संज्ञप्यमानाद्" इति तस्य परावृत्तिश्रवणात्तत्पुरुषाणां प्रतिप्रस्थात्रादीनां तद्भवतीति भावः ॥ २९ ॥

उपगानाम पृथक्त्वम् । अधि. १४ ।

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥

ज्योतिष्टोमे सन्त्युपगाः । ते उदितेभ्यो भिन्नोत अभिन्नाः इति संशये शब्द भेदादुपगातारोऽन्य इति बहिः

होने से उसको ही शमिता होना उचित है तो भी अध्वर्यु संज्ञप्यमान पशु से पराङ्मुख होता है अर्थात् पृथक् हो जाता है इस वाक्य से अध्वर्यु के पृथक् हो जाने का कथन पाये जाने से उक्त अध्वर्यु शमिता नहीं हो सकता इसलिये उसके सम्बन्धी प्रतिप्रस्थादि पुरुषों के मध्य कोई भी शमिता हो सकता है यह भाव है । परिक्रय, वरण, मूल्यलेना, नौकररखना, यह सब पर्य्याय शब्द हैं ॥ २९ ॥

अब उपगाताओं का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से अपृथक् कथन करते हैं चतुर्दश अधिकरण से ।

ज्योतिष्टोम याग में सामगाने वाले उद्गाता आदि ऋत्विजों को उपगाता कथन किये हैं वे उक्त अध्वर्यु आदि से भिन्न है

पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । उपेति । उपागातारस्तु क्लृप्ता एवर्त्विजो नान्ये लिङ्गदर्शनाद् नाध्वर्युरुपगायेदिति लिङ्ग दर्शनात् । यद्यन्ये तर्हि अध्वर्यावत्यन्ताप्राप्त्यानिषेधो व्यर्थः स्यादिति भावः ॥ ३० ॥

सोम विक्रेतुः पृथक्त्वम् । अधि. १५ ॥

विक्रयीत्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥ ३२ ॥

अस्ति सोम विक्रयी । स तेशामन्यतम उतान्य इति

किंवा अभिन्न इस संशय के होने पर नाम का भेद होने से उपगाता भिन्न हैं ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। उपेति। (च) और (उपगाः) उपगाता भी अङ्गीकृत ऋत्विज ही होने चाहिये भिन्न नहीं, क्योंकि (लिङ्ग-दर्शनात्) अध्वर्यु उपगान न करे, इस वाक्य से जो अध्वर्यु के उपगान का निषेध किया है वह उपगाताओं के अपृथक् होने में लिङ्ग है। यदि भिन्न हों तो अध्वर्यु में उपगान की अत्यन्त अप्राप्ति होने से निषेध व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि निषेध प्राप्त का ही होता है अप्राप्त का नहीं यह भाव है ॥ ३० ॥

अब सोम विक्रेता को उक्त ऋत्विजों से भिन्न कथन करते हैं पञ्चदश अधिकरण से। सोम विक्रेता ज्योतिष्टोम में होता है। उक्त विक्रेता उक्त ऋत्विजों में से कोई एक हैं किंवा उनों से भिन्न हैं पूर्वाधिकरण की भांति वरण का अभाव होने से उनों

संशये पूर्ववद्वरणाभावात्तेषामन्यतम इति पूर्व पक्षे । सोम विक्रयीत्वन्यः स्यादिति सिद्धान्तमाह । विक्रयीति । कर्मणः । अचोदितत्वात् विक्रयस्याविहितत्वात् । क्रय एव विहितः " गवा सोमं क्रीणाति " इति, तदन्यथाऽनुपपत्त्या सिद्धो

में से कोई एक होना चाहिये इस पूर्वपक्ष के होने पर । सोम विक्रयी तो ऋत्विजों से भिन्न है इस सिद्धान्त को कहते हैं । विक्रयीति । (विक्रयी) सोमका बेचने वाला (अन्य) अध्वर्यु आदि से भिन्न है, क्योंकि (कर्मणः) उसके कर्म सोमविक्रय का (अचोदितत्वात्) विधान नहीं किया गया । ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में " गो द्रव्य से सोम को मूल्यले " इत्यादि वाक्यों से सोमका मूल्य लेना विधान किया है, परन्तु जबतक कोई सोमका विक्रेता=बेचने वाला नहीं है तबतक उसका मूल्य लेना नहीं होसक्ता, बेचने वाला तथा विक्रयी यह दोनों और विक्रय तथा बेचना यह दोनों पर्य्याय पद हैं, इस प्रकार क्रीणाति विधानान्यथानुपपति से विक्रय का आर्थिक लाभ होने पर भी किसी विधि वाक्य से वह प्राप्त नहीं हैं । और अध्वर्यु आदि ऋत्विज उसी कर्म को करसक्ते हैं जो याग के प्रकरण में विधान किया गया है, क्योंकि वे याग करने के लिये वरे गये हैं, याग बाह्य कर्म करने के लिये नहीं, और विहित न होने से सोम विक्रय रूप कर्म याग बाह्य है यागान्तर्गत नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में उपयुक्त सोमका

विक्रयः । ऋत्विजां विहित कर्मकरत्वादन्य एव स इति भावः ॥ ३१ ॥

ऋत्विक् पदस्य योग रूढ्या सप्तदशमात्रगामित्वम् । अधि.१६।

कर्म कार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥

ज्योतिष्टोमे सप्तदशाध्वर्य्वादयश्चमसाध्वर्यवश्च दश विहिताः । तेषु सर्वेषु ऋत्विक्त्वमस्ति न वेति संशये पूर्व पक्षमाह कर्मेति । सर्वेषामृत्विक्त्वं कर्मणो विहित कर्मणः कार्यादनुष्ठानाद्धेतोराविशेषादिमे ऋत्विजो नेम इति व्यावर्तयितुमशक्यत्वात् ॥ ३२ ॥

विक्रयी अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न है उनके अन्तर्गत कोई एक नहीं यह भाव है ॥ ३१ ॥

अब ऋत्विक् नाम की योग रूढिसे सप्त दशमात्र में प्रवृत्ति कथन करते हैं षोडश अधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग में सत्तरह अध्वर्यु आदि और दश चमसाध्वर्यु विधान किये गये हैं । उन सब में ऋत्विक्त्व है किंवा केवल अध्वर्यु आदि में ही है इस संशयके होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । कर्म इत्यदि से । (सर्वेषां) याग में जितने कर्मकर पुरुष हैं सब (ऋत्विक्त्वं) ऋत्विक् हैं क्योंकी (कर्मणः) विहित कर्मों के (कार्यात्) अनुष्ठाता हैं, और (अविशेषात्) ये ऋत्विज हैं ये ऋत्विज नहीं ऐसा भिन्न करने को शक्य नहीं ॥ ३२ ॥

न वा परिसंख्यानात् ॥ ३३ ॥

सिद्धान्तमाह । नेति न चमसाध्वर्यव ऋत्विजः तस्मात्सोम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विज इति परिसंख्यानात् सप्तदशाधिके ऋत्विक्त्वं नास्तीति परिसंख्यानात् ॥३३॥

पक्षेणेतिचेत् ॥ ३४ ॥

परिसंख्यायां स्वार्थहानं परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्चेति दोष त्रयात् पक्षेनुवाद इति शङ्कते । पक्षेणेति । पक्षेण पाक्षिकतया प्राप्तमनूद्यते, अर्थादृत्विजो वृणीत इति बहुवचनेन

अब सिद्धान्त को कहते हैं । नेति (न) चमासाध्वर्युओं का नाम ऋत्विज नहीं होसक्ता क्यों की ज्योतिष्टोम यग के सत्तरह ऋत्विक् होते हैं „ इस वाक्यमें (परि संख्यानात्) सप्तदश से अधिक मे ऋत्विक्त्व नहीं हैं ऐसानिषेध किया गया हैं ॥३३॥

परि संख्या विधि में स्वार्थत्याग परार्थ स्वीकार और प्राप्त काबाध इस प्रकार तीन दोष होने का कारण पक्ष में प्राप्त का अनुवाद मानना चाहिये ऐसी शङ्का करते हैं । पक्षेणेति (पक्षेण) पाक्षिकत्वेन प्राप्त का अवयुति से अनुवाद किया हैं अर्थात् " ऋत्विजों को वरे " इस वाक्य में बहुवचन से त्रित्वादिक्रम से पक्षमें चमसाध्वर्यु के साथ सप्तविंशतित्व भी प्राप्त है उसका " सत्पदश ऋत्विज इस वाक्य मे एक देश के ग्रहण से अनुवाद किया गया हैं । एक देश के ग्रहण पूर्वक समुदाय के अनुवाद

सप्तविंशतित्वं चमसाध्वर्युभिः प्राप्तमवयुत्यानूद्यते । एक देशग्रहणपूर्वकसमुदायानुवादो नाम अवयुत्यानुवादः । यथा एक पक्ष ग्रहणेन पक्षिणो ग्रहणं भवति यथावा वस्त्रैक देश ग्रहणेन पटस्य ग्रहणं तथैवात्रैकदेश ग्रहणं न वस्तुतः ज्योतिष्टोमे सप्तदशैवार्त्विज इति बोधनार्थम् । अतो ज्योतिष्टोमे यावत्कर्मकराः तेषां सर्वेषां संज्ञा ऋत्विक् ॥ ३४ ॥

न सर्वेषामनधिकारात् ॥ ३५ ॥

इमं पक्षं दूषयति । नेति । सर्वेषां सप्तविंशानामनधिकाराद् अश्रवणात् । यथा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे

का नाम " अवयुत्यानुवाद है । अर्थात् जैसे एक पक्ष के ग्रहण से सम्पूर्ण पक्षी का ग्रहण होजाता हैं अथवा जैसे पठके एक देश के ग्रहण से सम्पूर्ण वस्त्र का ग्रहण समझा जाता है वैसे ही यहां एक देश का ग्रहण है वस्तुतः ज्योतिष्टोम याग में केवल सप्तदश ही ऋत्विक् हैं इसके बोधनार्थ नहीं । इसलिये ज्योतिष्टोम में जितने कर्म कर रहे हैं उन सब की संज्ञा ऋत्विक् है ॥ ३४ ॥

इस पक्ष को दूषित करते हैं । नेति । (न) अवयुत्यानुवाद कहना समीचीन नहीं क्योंकि (सर्वेषां) सत्ताईस पुरुषों का (अनधिकारात्) कथन नहीं पाया जाता । यदि " सौम्यस्य " वाक्य से भिन्न वाक्य में ऋत्विजों की संख्या सत्रह से अधिक सत्ताईस संख्या कथन की जाती तो उक्त वाक्य में सप्तदश का ग्रहण अवयुत्यानुवाद के अभिप्राय से माना जाता । जैसे "वैश्वानरं"

जाते इति अवधिभूतद्वादशसंख्यायाः श्रुतत्वादष्टाकपालो भवतीत्यादिरवयुत्यानुवादः नेह तथेति भावः ॥ ३५ ॥

दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानां ब्रह्मादीनामेव सप्तदशर्त्विक्त्वम् । अधि० १७ ।

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३६ ॥

एवमृत्विजः सप्तदशेति सिद्धौ ते के किमध्वर्य्वादय उततेभ्योऽन्य इत्यकाङ्क्षायां सिद्धान्तमाह । नियम इति । नियमः अग्नीध्रादिष्वेवर्त्विक्त्वमिति नियमः । दक्षिणाभिः

आदि वाक्य में अवधिभूत द्वादश संख्या का कथन पाये जाने से "अष्टकपालो" आदि वाक्यों में द्वादश का एकदेश अष्टाकपाल का ग्रहण अवयुत्यनुवाद के अभिप्राय से माना जाता है स्तुति के लिये इस वाक्य में वैसा नहीं है यह भाव है ॥ ३५ ॥

अब दीक्षा तथा दक्षिणा वाक्यों में उक्त ब्रह्मादियों में ही सप्तदश ऋत्विक्त्व कथन करते हैं सप्तदश अधिकरण से । इस प्रकार ऋत्विज सप्तदश हैं ऐसा सिद्ध होने पर वह सप्तदश कौन हैं क्या अध्वर्यु आदि हैं किंवा उनसे कोई भिन्न हैं इस आकाङ्क्षा के होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । नियम इत्यादि से उक्त सप्तदश ऋत्विक्त्व आग्नीध्र आदिओं में ही है अन्य में नहीं यह नियम (दक्षिणाभिः) दक्षिणा वाक्य से पाया जाता है, क्योंकि (श्रुति संयोगात्) दक्षिणा वाक्य में तत् २ नाम रूप श्रुति सम्बन्ध स्पष्ट है । ऋत्विजों को दक्षिणा दे, इस

(श्रुति संयोगात्) तत्तन्नामश्रुतिसंयोगात् । " ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददातीति, उक्त्वा अग्नीधे प्रथमं ददाति ततो ब्रह्मणे ततोऽध्वर्यवे इत्यादि तत्तन्नाम योगात्। येषां दक्षिणा वाक्ये नामसंकीर्तनम् ते सप्तदशर्त्विजः प्रकृते विवक्षिताः इति भावः ॥ ३६ ॥

उक्त्वा यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥ ३७ ॥

उक्त नियमे साधकान्तरमाह । उक्त्वेति । सत्रे ये ऋत्विजः ते यजमाना इति वचनेन ऋत्विक्षु यजमानत्वमुक्त्वा अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयतीति तेषां षोडशा-

---

वाक्य से ऋत्विजों के प्रति दक्षिणा दान का विधान करके "पश्चात्" सबसे प्रथम अग्नीध्र को दक्षिणा दे, तदनन्तर ब्रह्मा को तत्पश्चात् अध्वर्यु को दे, इत्यादि वाक्यों में एक२ ऋत्विक् के नाम सम्बन्ध पूर्वक दक्षिणा का विधान किया है दक्षिणा वाक्य में जिन्होंके नाम का संकीर्तन किया है वे ही सप्तदश ऋत्विज प्रकृत में विवक्षित हैं चमसाध्वर्यु नहीं यह भाव है ॥ ३६ ॥

उक्त नियम में और साधक कहते हैं । उक्त्वेति । "सत्र" में सब ऋत्विज यजमान होते हैं, इस वाक्य से ऋत्विजों को यजमान कथन करके पश्चात् " अध्वर्यु गृहपति यजमान को दीक्षा देकर ब्रह्मा को दीक्षा दे " इस दीक्षा वाक्य में यजमान

नामेव दीक्षा विधानात्। यदि चमसाध्वर्युषु ऋत्विक्त्वं तर्हि तत्रापि यजमानधर्मस्य दीक्षाया अतिदेशः स्यादिति भावः ॥ ३७ ॥

ऋत्विजां स्वामि सप्तदशत्वम् । अधि. १८ ।

स्वामिसप्तदशाः कर्म सामान्यात् ॥ ३८ ॥

ज्योतिष्टोमे सप्तदश ऋत्विज इत्युक्तं किमेषां सदस्य सप्तदशः उतगृहपतिरिति संशये कस्यांचिच्छाखायां सदस्य वरणस्याम्नानात्तस्यैव सप्तदशर्त्विक्त्वमिति पूर्वपक्षे साप्तदश्यं

के सदृश उक्त षोडश ऋत्विजों को दीक्षा का विधान किया है। यदि चमसाध्वर्यु भी ऋत्विज होते तो उक्त दीक्षा वाक्य से अध्वर्यु आदि की भांति उन्हों में भी यजमान धर्म दीक्षा का विधान किया जाता परन्तु नहीं किया इसलिये सिद्ध है कि अध्वर्यु आदि ही ऋत्विज है चमसाध्वर्यु नहीं यह भाव है ॥ ३७ ॥

ज्योतिष्टोम याग में सप्तदश ऋत्विज कथन किये हैं क्या उन्हों में सत्तरहवां सदस्य है किंवा यजमान है इस संशय के होने पर किसी शाखा में सदस्य के वरण का विधान पाया जाता है इसलिये उसको ही सत्तरहवां ऋत्विज होना चाहिये इस पूर्व पक्ष के होने पर सप्तदशत्व यजमान से पूर्ण करना चाहिये सदस्य से नहीं इस सिद्धान्त को कहते हैं। स्वामीति। (स्वामि सप्तदशाः)

स्वामिना पूरणीयं न सदस्येनेति सिद्धान्तमाह । स्वामीति। स्वामिसप्तदशाः स्वाम्येषां सप्तदशः स्यात् । कुतः । कर्म-सामान्यात् कर्म करत्वेन सादृश्यात् । उभयोरपि विहितकर्म कर्तृत्वादिति भावः ॥ ३८ ॥

आध्वर्यवादिषु अध्वर्य्यादीनां कर्तृत्व नियमः । अधि. १९ ।

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्चस्वकालत्वात् ॥ ३९ ॥

ज्योतिष्टोमे ये अध्वर्य्वाद्यृत्विजः ते सर्वार्थाः उत क्वाचिद्व्यवस्था अर्थादेषां कर्म अनियतंनियतंवेति संशये ये ऋत्विज पद वाच्याः ते सर्वार्था स्वस्वेच्छया सर्व क्रिया

उक्त सत्तरह ऋत्विजों में सत्तरहवां यजमान है । क्योंकि (कर्म-सामान्यात्) विहित कर्म का कर्ता होने से उन्हों के सदृश हैं । सोलह ऋत्विज सत्रहवां यजमान इन दोनों में ही विहित कर्म कर्तृत्व है सदस्य में नहीं । और वरन का विधान अदृष्टार्थ है कर्मार्थ नहीं यह भाव है ॥ ३८ ॥

अब आध्वर्यव आदि समाख्यावाले कर्मों में अध्वर्यु आदियों के कर्तृत्व का नियम कथन करते हैं एकोनविंशाधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग में जो अध्वर्यु आदि ऋत्विज हैं वे सब के सब यागान्तर्गत सम्पूर्ण कर्मों के लिये हैं किंवा कोई व्यवस्था है अर्थात् इनों के कर्म अनियत हैं अथवा नियत हैं इस संशय के होने पर जो ऋत्विज पद के अर्थ हैं (ते सर्वार्थाः) वे अपनीर

कर्तारः प्रयुक्तत्वाद् भृत्या नियोजितत्वात् । एवमग्नयः गार्हपत्यादयः सर्वे क्रत्वर्था स्वकालत्वात् स्वतन्त्रत्वात् अनारभ्याधीतत्वादिति यावत् । एवं पूर्वः पक्षः ॥ ३९ ॥

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् ॥ ४० ॥

अग्नीनां सर्वार्थत्वं स्वीकृत्य कर्मकर्तुर्नियममाह । सिद्धान्ती । तदिति । तत्संयोगाद् आध्वर्यवं हौत्रमितिसमाख्यासंयोगात् कर्मणः कर्तृत्वे व्यवस्था स्यात् । न स्वेच्छया ॥ ४० ॥

इच्छा से सब क्रियाओं के कर्ता है, क्योंकि (प्रयुक्तत्वात्) दक्षिणा दान से यावत् कर्मों के लिये नियुक्त किये गये हैं । इसी प्रकार (अग्नयः) गार्हपत्यादि अग्नियें सब यागों के लिये हैं, क्योंकि (स्वकालत्वात्) स्वतन्त्र हैं अर्थात् अनारभ्याधीत हैं । इस प्रकार पूर्व पक्ष है ॥ ३९ ॥

अब अग्नियों को सर्व कर्मार्थ स्वीकार के कर्म के कर्ता का नियम सिद्धान्ती कहता है । तदिति । (तत्संयोगात्) उक्त कर्मों के साथ आध्वर्यव, होत्र आदि समाख्या का सम्बन्ध पाये जाने से (कर्मणः) कर्म के कर्ता में (व्यवस्था) नियम (स्यात्) है । इसलिये अपनी अपनी इच्छा से कर्म नहीं कर सक्ते अर्थात् आध्वर्यव नाम वाले कर्म को अध्वर्यु करे अन्य नहीं इत्यादि नियम है अनियम नही ॥ ४० ॥

संयोगस्यार्थवत्वात् ॥ ४१ ॥

ननु प्रकरणेनर्त्विजो गृहीताः समाख्यया दुर्बलया कथं बाधस्तत्राह । समिति । संयोगस्य समाख्यानयोगस्यार्थवत्वात् फलवत्त्वादन्यथा समाख्या व्यर्थैव स्यात् । आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति भावः ॥ ४१ ॥

समाख्याप्राप्तकर्तृत्वस्य क्वचिद्बाधः । अधि. २० ।

तस्योपदेश समाख्यानेन निर्देशः ॥ ४२ ॥

ननु, प्रकरण से सब कर्मों के लिये ऋत्विज गृहीत हैं तब प्रकरण से दुर्बल समाख्या रूप प्रमाण से नियम रूप बाध कैसे हो सक्ता है इस पर कहते हैं । समिति । (संयोगस्य) उसके साथ समाख्या का योग (अर्थवत्त्वात्) व्यवस्थारुप फलवाला होता है व्यवस्था न मानने पर " अर्ध्वर्योः इदं कर्म इति आध्वर्यवम् " यह समाख्या निरर्थक हो जायगी । " आनर्थक्य प्रतिहतानां विपरीत बलाबलम् " इस न्याय से प्रकरण अन्यत्र चरितार्थ है और अचरितार्थ प्रकरण से समाख्या का बाध होता है इसलिये कर्म की अव्यवस्था नहीं कि जो जिसको चाहे उसको करे किन्तु समाख्या के बल से प्रत्येक कर्म प्रत्येक ऋत्विक का नियत है यह भाव है ॥ ४१ ॥

मैत्रावरुण कर्तृक प्रैषादीनां हौत्रमिति समाख्यया होतृकर्तृकत्वमुतनेति संशये हौत्रमिति समाख्यया होतृ कर्तृकत्वमिति बहिः पूर्व पक्षे सिद्धान्तमाह। तस्येति। तस्य उक्तस्य उपदेशसहितेन "मैत्रावरुणाख्यो हेतुरनन्तर

मैत्रा वरुण कर्तृक प्रैषादि कहे गये हैं वे "आध्वर्यवाः प्रैषाः" प्रैषका कर्ता अध्वर्यु है, "अनुवचनानि हौत्राणि" अनुवचन का कर्ता होता है; इत्यादि याज्ञिकों की समाख्या है इस समाक्या से प्रैष का कर्ता अध्वर्यु और अनुवचन का कर्ता होता को होना चाहिये किंवा मैत्रावरुण नामक ऋत्विक को होना चाहिये इस संशय के होने पर "आध्वर्यवाः" तथा "होत्राणि', इत्यादि समाक्या से अध्वर्यु तथा होता कर्ता होना चाहिये मैत्रा वरुण नहीं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं तस्य इत्यादि से। (तस्य) उक्त प्रैषोच्चारणादि मैत्रावरुण नामक ऋत्विक का कर्तव्य हैं होता आदि का नहीं ऐसी (निर्देशः) व्यवस्था है क्योंकि (उपदेश समाख्यानेन) "मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् प्रैष का उच्चारण तथा अनुवाक का पाठ करे इस वाक्य विशेष के सहित "होत्रं" इत्यादि समाक्या है। यह भाव है कि यद्यपि समाक्या के बल से प्रैषोच्चारण तथा अनुवचन पाठ अध्वर्यु आदि का कर्तव्य है तथापि उक्त वाक्य विशेष के साथ विरोध होने से वह उनका कर्तव्य नहीं हो सकते, क्योंकि प्रबल

ऋत्विक् प्रैषमपि कुर्यात् अनुवचनमपि पठेत् " इत्युपदेश सांहतेन हौत्रमिति समाख्यानेन मैत्रावरुण कर्तृकत्व निर्देशः व्यवस्था ॥ ४२ ॥

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ ५३ ॥

ननु समाख्याया नियामकत्वमसिद्धं, हौत्रमित्यादिः समाख्या तस्मिन्कर्मणि पक्षे प्राप्तमनुवदतीत्याशङ्कायां समाख्याया नियामकत्वे लिङ्गं दर्शयति तद्वदिति । तद्वत प्रकर-

---

होने के कारण वाक्य से समाख्या का बाध हो जाता है और बाधित अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं, इसलिये प्रैषोच्चारणादि मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् का कतव्य सिद्ध होता है और जहां कोई वाक्य विशेष उपलब्ध नहीं होता वहां समाख्या के अनुसार हौत्रादि कर्तृकत्व ही मानना चाहिये । आज्ञावाची "यज" तथा "अनुब्रूहि" आदि पद वाले वाक्यों का नाम प्रैष तथा देवता के स्तावक मन्त्रों का नाम "अनुवचन" है । ४२ ।

ननु, समाख्या को नियामकत्व असिद्ध हैं "हौत्रं" इत्यादि समाख्या है उक्त समाख्या वाले अनुवचनादि कर्म में प्राप्त होता का अनुवाद करता है इस आशङ्का के होने पर समाख्या के नियामकत्व में लिङ्ग को देखाते हैं । तद्वदिति । (तद्वत) प्रकारणादि के समान समाख्या के नियामकत्व में लिङ्ग का दर्शन है

णादिवद् नियामकस्य लिङ्गस्य दर्शनं होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपशृणुयादिति समाख्यया प्राप्तं प्रातरनुवाकपाठकर्तृत्व नित्यतयाऽनुवदति ॥ ४३ ॥

समुच्चितयोरनुवचनप्रैषयोर्मैत्रावरुणकर्तृकत्वम् । अधि. २१।

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥ ४४ ॥

अनेन पूर्वोक्तवचनेन मैत्रावरुणः प्रेष्यतीत्यनेन सर्वा

प्रातरनुवाक के अनुवचन कर्ता होता से श्रवण करे यह वाक्य समाख्या से होता को प्रातरनुवाक पाठ कर्तृत्व नियम से प्राप्त है उसका अनुवाद करता है वह अनुवाद समाख्या के नियामक होने में लिङ्ग है, वेदमन्त्र प्रातः पढ़े जाते हैं उनका नाम "प्रातरनुवाक" है, यदि अनुवचन पाठ समाख्या से 'होता' को नियम से प्राप्त न होता तो उक्त लिङ्ग वाक्य में उसका अनुवादन किया जाता, अनुवाद करने से उस की नियम से प्राप्ति स्पष्ट है। और समाख्या द्वारा प्राप्त का वाक्य विशेष से बाध होना उचित है, क्योंकि प्रबल से निर्बल का बाध सर्व सम्मत है । इसलिये वह समाख्या से " होता " आदि को प्राप्त होने पर भी उक्त वाक्य विशेष से मैत्रावरुण को ही कर्तव्य है अन्य को नहीं ॥ ४३ ॥

अब समस्त अनुवचन तथा प्रैष को मैत्रावरुण कर्तव्य कथन करते हैं एकविंशाधिकरण से ।

नुवचनेषु सर्वप्रैषेषु तत्कर्तृत्वं विधीयत उत यत्रानुवचनएव प्रैषस्तत्कर्तृत्वमिति संशये पूर्वपक्षमाह । प्रैषेति । प्रैषानुवचन मात्रं मैत्रावरुणस्य उपदेशादुक्तवचनात् ॥ ४४ ॥

पुरोनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥ ४५ ॥

" मैत्रावरुणः प्रेष्यति " इस पूर्वोक्त वाक्य से समस्त व्यस्त सम्पूर्ण अनुवचन और प्रैषोंमें मैत्रावरुण कर्तृकत्व का विधान किया जाता किंवा जिस अनुवचन में ही प्रैष है अर्थात् समस्त प्रैषानुवचन हैं उन्हों में उक्त कर्तृकत्व का विधान है इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । प्रैषेति । (प्रैषानुवचनं) समस्त तथा व्यस्त सब प्रैष और अनुवचन (मैत्रावरुणस्य) मैत्रावरुण को कर्तव्य हैं, क्योंकि (उपदेशात्) वाक्य विशेष से ऐसा ही पाया जाता है । उक्त वाक्य में इस प्रैषानुवचन में मैत्रावरुण होना चाहिये इस में नहीं इस प्रकार किसी विशेष का विधान नहीं पाये जाने से सर्वानुवचनों में तथा सर्व प्रैषों में मैत्रावरुण होना चाहिये यह भाव है । प्रैष भिन्न तथा अनुवचन भिन्न हो तो " व्यस्त " और एक वाक्य में ही दोनों हो तो " समस्त " कहलाते हैं । समस्त, मिले हुए तथा समुच्चित यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं ॥ ४४ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । पुरोनुवेति । पुरोऽनुवाक्या-धिकारः) प्रैषरूप पुरोऽनुवाक्या में ही मैत्रावरुण का अधिकार है

सिद्धान्तमाह । पुरोइति । पुरोनुवाक्यायां प्रैषरूपायां च अधिकारो मैत्रावरुणस्य प्रैषसन्निधानात् । अनु चाहेत्यस्य प्रैषसन्निधानात् । अयं भावः । प्रेष्यति चानु चाहेति चकार सहितेनाख्यातान्तद्वयेन प्रैषसहितानुवचन लक्षयित्वा तत्र मैत्रावरुणकर्तृकत्वं विधीयते, केवलं प्रैषे केवलानुवचने न । तथा सति विधेयभेदे वाक्यभेदप्रसङ्गादिति भावः ॥ ४५ ॥

प्रातरनुवाके होतृदर्शनात् ॥ ४६ ॥

साधकान्तरमाह । प्रातरिति । अनवचनरूप प्रातरनुवाके

सब प्रैषानुवचन में नहीं, क्योंकि (प्रैषसन्निधानात्) उक्त वाक्य में प्रैष की सान्निधि में अनुवचन का विधान किया गया है । यह भाव है कि प्रेष्यति चानुचाह इस वाक्य में चकार सहित आख्यातान्त द्वय से प्रैष सहित अनुवचन को लक्षित करके उसमें मैत्रावरुण के कर्तृत्व का विधान है, केवल प्रैष में और केवल अनुवचन में मैत्रावरुण के कर्तव्यता का विधान नहीं । क्योंकि भिन्न २ में विधान मानने पर विधेय के भेद से वाक्य का भेद हो जायगा यह भाव है । पुरोनुवाक्या नाम प्रैषान्त अनुवचन का है ॥ ४५ ॥

अब उक्त अर्थ में अन्य साधक युक्ति को कहते हैं । प्रातरिति । (प्रातरनुवाके) अनुवचन रूप प्रातः पठित अनुवचन में (होतृदर्शनात्) होता का कर्तृकत्वरूप सम्बन्ध को सिद्धरूप

होतृकर्तृकत्वस्य सिद्धतया कथनस्य पूर्वाधिकरणेदर्शित-त्वात् ॥ ४६ ॥

चमसहोमेऽध्वर्योः कर्तृत्वम् । अधि. २२ ।

चमसाश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥ ४७ ॥

चमसाञ् चमसाध्वर्यवो जुहुयुरुताध्वर्युरिति संशये पूर्वपक्ष माह । चमसानिति । चमसाञ् चमसाध्वर्यवो जुहुयुः । कुतः, चमसाध्वर्यव इति तेषां समाख्यानात् ॥ ४७ ॥

अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥ ४८ ॥

से कथन पूर्वाधिकरण में देखाया जा चुका है इसलिये सर्वानुवचन में मैत्रावरुण कर्ता नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अब अध्वर्यु को चमस होमों का कर्ता कथन करते हैं द्वाविंशाधिकरण से । चमस पात्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम "चमस होम" है, उक्त चमस होमों का चमसाध्वर्यु करें किंवा अध्वर्यु अर्थात् चमस होमों का कर्ता चमसाध्वर्यु है अथवा अध्वर्यु इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । चमसानिति । (चमसान्) चमस होमों को (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु करे । क्योंकि (समाख्यानात्) चमसाध्वर्यु यह उनों का नाम पाया जाता है । यदि चमस होमो के कर्ता चमसाध्वर्यु न होते तो उनका नाम चमसाध्वर्यु ही न होता, चमसाध्वर्यु नाम से सिद्ध है कि ये चमस होम के कर्ता है ॥४७॥

सिद्धान्तमाह । अध्वर्युरिति । अध्वर्युरेव जुहुयात् । अध्वर्योः आध्वर्यवसमाख्यया इतरकर्मप्राप्तिः येन तन्न्यायत्वाच् चमसाध्वर्युसमाख्यामुपजीव्य प्रपर्यते अतः तस्य बाधने असमर्थमिति भावः ॥ ४८ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । अध्वर्युरिति । (अध्वर्युर्वा) चमस होमों का कर्ता अध्वर्यु ही है चमसाध्वर्यु नहीं, क्योंकि जिस आध्वर्यव समाख्या रूप न्याय से अध्वर्यु की अन्न कर्मों में प्राप्ति है उसी न्याय से चमस होमों में भी प्राप्ति है । अर्थात् जितने होम हैं उन सबकी समाख्या " आध्वर्यव " है जिससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि अध्वर्यु के बिना अन्य किसी को कोई होम कर्तव्य नहीं, यदि चमस होम का कर्ता अध्वर्यु को न मानकर केवल चमसाध्वर्यव समाख्या के बल से चमसाध्वर्युओं कर्ता माना जाय तो अन्याय हो जाता है, क्योंकि इसमें यावद् होमों के प्रतिकर्ता रूप से प्राप्त अध्वर्यु का परित्याग किया गया है । यद्यपि यावद् होमों को कर्ता अध्वर्यु तथा चमस होमों के कर्ता चमसाध्वर्यु दोनों आध्वर्यव तथा चमसाध्वर्यव समाख्या से ही पाप्त है तथापि चमस होमों के कर्ता चमसाध्वर्यु नहीं हो सकते, क्योंकि चमसाध्वर्यु समाख्या अध्वर्यु समाख्या को आश्रय करके प्रवृत्त हैं इसलिये उसके बाधन में असमर्थ हैं यह भाव हैं । अध्वर्यु नाम के बिना चमसाध्वर्यु नाम नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ४९ ॥

उक्तार्थे लिङ्गमप्याह । चमसे चमसहोमे अन्यस्य चमसाध्वर्योरन्यस्य दर्शनं लिङ्गम् । चमसाश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति तान् स वषट्कर्त्रे हरतीति, यः प्रयच्छति स होम कर्तेति ज्ञायते ॥ ४९ ॥

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥ ५० ॥

चमसाध्वर्योरपि होमकर्तृत्वं क्वचिदस्तीत्याह । अशक्ताविति । अशक्तौ शुक्रामन्थिग्रहप्रचारे व्यापृतत्वाच्च-

---

अब उक्त अर्थ में लिङ्ग भी कहते हैं (च) और (चमसे) चमस होम में (अन्यस्य) चमसाध्वर्यु से भिन्न का (दर्शनात्) कथन उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है। "चमस पात्रों को चमसाध्वर्यु को दे और चमसाध्वर्यु चमस पात्रों को वषट्कर्ता के लिये ले जाता है" इस वाक्य से जो देनेवाला है वह होम का कर्ता लेनेवाले चमसाध्वर्यु से भिन्न ज्ञात होता है और जो भिन्न है वह "आध्वर्यव" समाख्या से "अध्वर्यु" है, इसलिये सार यह निकला कि चमस होम का कर्ता अध्वर्यु है चमसाध्वर्यु नहीं ॥ ४९ ॥

अब चमसाध्वर्यु भी होम के कर्ता कहीं होते हैं ऐसा कहते हैं। अशक्ताविति। (अशक्तौ) शुक्रामन्थिग्रह के अनुष्ठान में व्यापार वाला होने से चमस होम में अध्वर्यु के असमर्थ होने पर

मसहोमे अशक्तौ ते चमसाध्वर्यवः होमे प्रतीयेरन् ॥ ५० ॥

श्येनवाजपेययोरध्वर्य्वादिसर्वगणकर्तृकत्वम् । अधि. २३ ।

वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे तथोपदेशं स्युः ॥ ५१ ॥

श्येनयागः सामवेदे पठितो ऽस्ति तत्रोद्गातृगणस्य कर्तृत्वमुतषोडशानामपीति संशये पूर्वपक्षमाह । वेदेति । वेदे सामवेदे उपदेशात् पाठात् सामवेदस्यौद्गात्रमिति समाख्यानात् पूर्ववत् पूर्वाधिकरणे आध्वर्यवसमाख्यया चमस होमादावध्वर्युकर्तृकत्ववद् वेदान्यत्वे अन्यवेदे ऽपि यथोपदेशं

(ते) चमसाध्वर्यु होम में (प्रतीयेरन्) कर्ता होते हैं । यह भाव है कि उक्त समाख्या की प्रवृत्ति का हेतु अध्वर्यु के असमर्थ काल में होनेवाला कादाचित्क चमस होम है नियत होम नहीं ॥ ५० ॥

अब श्येनयाग तथा वाजपेय याग मे अध्वर्यु आदि सब गण के कर्तृत्व को कहते है त्रयोविंशाधिकरण से । श्येनेना ऽभिचरन् न यजेत " षड्वि० ब्रा० ३। ८ इस वाक्य से श्येन याग सोम वेद मे विहित हैं उक्त याग मे उद्गातृगण को कर्तृत्व है किंवा षोडश ऋत्विजों को भी है इस संशय के होने पर पूर्व पक्ष को कहते हैं । वेदेति । (वेदे) सामवेद में (उपदेशात्) विधान अर्थात् सामवेद की औद्गात्र ऐसी समाख्या होने से (पूर्ववत्) पूर्वाधिकरण में आध्वर्यव समाख्या से चमस होमादियों में अध्वर्यु कर्तृकत्व की भांति (वेदान्यत्वे) अन्य वेदे में भी (यथोपदेशं)

यथा समाख्या तथैव स्युः। उद्गातृगणकर्तृक एव श्येनयाग इति पूर्वपक्षनिष्कर्षः ॥ ५१ ॥

तद्ग्रहणाद्वा सधर्मा स्यादधिकारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥ ५२ ॥

सिद्धान्तमाह। तदिति। अङ्गैः स्वाङ्गैः सह प्रकृतौ दीक्षणीयाद्यङ्गेषु अध्वर्य्यादिकर्तृकत्वादिरूपाणि यान्यङ्गानि तैः सह श्येने अङ्गानां दीक्षणीयादीनामनुष्ठानम्। अधिक्रियतेऽनेनेत्यधिकारः चोदकशास्त्रं तस्य सामर्थ्यात्। ननु

जैसी समाख्या है वैसा ही (स्युः) होना चाहिये। उद्गात्रगण ही श्येन याग का कर्ता होना चाहिये यह पूर्वपक्ष का निष्कर्ष है ॥ ५१ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। तदिति। (अङ्गैः) प्राकृत अङ्गों के (सह) साथ अर्थात् प्रकृति याग मे दीक्षणीया आदि अङ्ग याग होते हैं उनों मे अध्वर्यु आदि कर्तृकत्वादि रूप जो अङ्ग हैं उन अङ्गों के साथ (सधर्मा) श्येन याग समान धर्मवाला (स्यात) हैं अर्थात् श्येन याग में दीक्षणीयादि अंग यागों का अनुष्ठान होता है। अधिकार = प्राप्त किया जाद जिससे उसका नाम अधिकार अर्थात् चोदक शास्त्र है उसके सामर्थ्य से। ननु, "प्रकृति वद् विकृतिः कर्तव्या" चोदक शास्त्र की श्येन याग में प्रवृत्ति न हो इस पर कहते हैं। (तद्ग्रहणात्) प्राकृत दीक्षणीया

चोदकशास्त्रस्य श्येने प्रवृत्तिर्मास्त्वत आह । तद्ग्रहणाद् दीक्षणीयातिथ्यादीनां ग्रहणात् तदर्थं चोदकशास्त्रस्य प्रवृत्तौ तेन प्रवृत्तो दीक्षादिकर्मभिः सह तत्तत्कर्तृकत्वानामपि प्रवेशः शेषे चोदकशास्त्रादप्राप्तकर्मणि यथा श्येने कण्टकैर्वितुदन्तीति, तत्र चोदकशास्त्राप्रवृत्तौ अव्यक्तः समाख्या प्रवर्तताम् ॥५२॥

इति जैमिनिसूत्रवृत्तौ तृतीयस्य सप्तमः पाद ।

तथा आतिथ्या आदि इष्टियों का श्येन याग में ग्रहण होता है उनके लिये चोदक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है इसलिये दीक्षादि कर्मों के साथ उन २ कर्तृकत्व का भी प्रवेश होता है अर्थात् प्राकृत धर्म के ग्रहण से श्येन याग चोदक शास्त्र के सामर्थ्य से ज्योतिष्टोम के समान नाना कर्तृक होना चाहिये। परन्तु समाख्या से उद्गातृगण ही श्येन याग का कर्ता होना चाहिये ऐसा कहा गया है उसका समाधान देना चाहिये इस पर कहते हैं । (शेष) प्राकृत अंगो से भिन्नो मे समाख्या नियामक होती है अर्थात् चोदकशास्त्र से अप्राप्त कर्म में जैसे "श्येनेकण्टकैर्वितुदन्ति" इस वाक्य विहित कण्टक वितोदनादि कर्म है उनों चोदकशास्त्र की अवृत्ति होने पर (अव्यक्तः) समाख्या प्रवृत्त होना चाहिये । ५२ ।

ब्रम्हचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के सप्तमपाद के जैमिनिसूत्र वृत्तिका अनुवाद समाप्त ॥

परिक्रयस्य स्वामि कर्मत्वम् । अधि. १ ।

स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

किं परिक्रय आध्वर्यवादिष्वाम्नानात्तत्समाख्यातेन पुरुषेण कर्तव्य उत स्वामिनेति संशये । ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा दानादिरूप परिक्रयः, अध्वर्यु कर्तृकः यजुर्वेदपठितत्वादिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । स्वामीति । परिक्रयः स्वामि कर्म कर्मणः फलार्थत्वात् । अयं भावः। येन परिक्रीतो यत्कर्म करोति तत्फल परिक्रेतुरिति लोके गृहनिर्माणादौ दृष्टं

अब ऋत्विजों के परिक्रय को यजमान का कर्तव्य कथन करते हैं प्रथम अधिकरण से । परिक्रय का आध्वर्यव वेद में विधान पाये जाने से क्या परिक्रय उक्त आध्वर्यव समाख्या वाले अध्वर्यु पुरुष से कर्तव्य है किंवा यजमान से इस संशय के होने पर। ऋत्विजों के लिये दक्षिणादानादि रूप परिक्रय, अध्वर्यु कर्तृक होना चाहिये क्योंकि उक्त समाख्यावाले यजुर्वेद में विधान पाया जाता है ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। स्वामि इत्यादि से (परिक्रयः) ऋत्विजों का परिक्रय (स्वामिकर्म) यजमान का कर्तव्य है क्योंकि (कर्मणः) याग (तदर्थत्वात्) फल के लिये होता है । यह भाव है कि जिस से परिक्रीत होकर जिस कर्म को करता है उसका फल परिक्रेता को होता है ऐसा लोक में गृह निर्माणादि कर्म में देखा गया है उसी भांति यहां

तद्वदिहापि फल प्राप्त्यै यजमानेनैव कर्तव्यमिति ॥ १ ॥

वचनादितरेषां स्यात् ॥ २ ॥

" अनड्वान् होत्रादेयः " " य एतामिष्टकामुपदध्यात्सत्रीन् वरान्दद्यात् " तै० सं० ५।२।८।२ = यः एतां यजुष्कृतां संज्ञिकामिष्टकामुपदध्यात् स अध्वर्युः गोत्रयं यस्मै कस्मै चित् दद्यादित्यर्थः । गौर्वरोऽतिवरोऽन्यो धेनुवरोऽतिवरोऽन्योऽनड्वान्वरोऽतिवरोऽन्यः इत्यापस्तम्बाचार्योक्तो वर शब्दार्थो द्रष्टव्यः । इत्यत्र वचनादित्याह । वचनादिति । यत्र वेद वचनं वर्तते तत्र तत्सामर्थ्यादृत्विजामृत्वि-

---

भी फल प्राप्ति के लिये यजमान को ही करना चाहिये ॥ १ ॥

" होता किसी ऋत्विज के लिये अनड्वान् को दे " (यः) जो (एतां) यजुष्कृत नामवाली इष्टका का उपधान करता है (सः) अध्वर्यु तीन गौओं को जिस किसी ऋत्विज के लिये दे (इत्यत्र) होता कर्तृक दान तथा अध्वर्यु कर्तृक दान (वचनात्) वाक्य के बल से होता है ऐसा कहते हैं । वचनादिति । जहां वेद वचन है वहां वचन सामर्थ्य से (इतरेषां) ऋत्विजों को ऋत्विज परिक्रय (स्यात्) कर सक्ते हैं यह सूत्रार्थ है । " गौ, धेनु तथा अनड्वान् वर हैं इन से भिन्न अतिवर हैं " इस आपस्तम्ब आचार्य उक्त वाक्य से वर शब्द का अर्थ समझना चाहिये । परिक्रय, वरणी, भृति तथा नौकरी यह चारों पर्य्याय

ग्भिः परिक्रयः कर्तुं शक्यते, इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

वपनादि संस्काराणां याजमानत्वम् । अधि. २ ।

संस्कारास्तु पुरुष सामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्
व्यवतिष्ठेरन् ॥ ३ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते केशश्मश्रूवपते, दतोधावते, नखानि निकृन्तत, स्नाति, इति केशश्मश्रुवपनमञ्जनाभ्यञ्जनादि अध्वर्योर्यजमानस्यवेति संशये पूर्वपक्षमाह । संस्कारा इति । संस्कारा दर्शिताः कर्मवत् स्तोत्रशस्त्रादिवत् । यथावेदं

शब्द हैं ॥ २ ॥

अब वपनादि संस्कारों को याजमानता कथन करते हैं द्वितीयाधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "केश तथा दाढी मुडावे," तै० सं० ६।१।१।२ "दातन करे," नखून कटाये स्नान करे, इत्यादि वाक्यों से जो वपन = मुंडाना तथा अञ्जनाभ्यञ्जनादि संस्कार विधान किये हैं वे अध्वर्यु को कर्तव्य हैं किंवा यजमान को अर्थात् उक्त संस्कार अध्वर्यु के होने चाहिये अथवा यजमान के इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं । संस्कारा इति । (संस्काराः) दर्शित = विधान किये गये वपनादि संस्कार अध्वर्यु आदि के होने चाहिये जैसे स्तोत्र शस्त्रादि कर्म आध्वर्यव, औद्गात्रादि समाख्या से अध्वर्यु आदि का कर्तव्य है वैसे ही । (यथावेदं) जिस वेद में जो समाख्या है उस समाख्या

यस्मिन् वेदे या समाख्या तया व्यवतिष्ठेरन्नियम्येरन्। ननु ऋत्विक्षु संस्कारो निष्फलस्तत्राह। पुरुषसामर्थ्य इति ते पुरुषस्य ऋत्विजः सामर्थ्ये अनुष्ठान योग्यता जनने उपयुज्यन्त इति शेषः ॥ ३ ॥

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत् ॥ ४ ॥

सिद्धान्तमाह। याजमाना इति। याजमानाः यजमान

से (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्था = नियम होना चाहिये। परन्तु ऋत्विजों में संस्कार होना निष्फल है इस पर कहते हैं। पुरुष सामर्थ्य इति। उक्त संस्कार कर्म (पुरुषस्य) ऋत्विज को (सामर्थ्ये) अनुष्ठान योग्यता के जनन में उपयुक्त होते हैं यह शेष है। तात्पर्य्य यह है कि जैसे स्तोत्र शस्त्रादि कर्म आध्वर्यव, औद्गात्रादि समाख्या से अध्वर्यु आदि को कर्तव्य है वैसे ही केशश्मश्रुवपनादि संस्कार कर्म भी आध्वर्यव समाख्या के अनुसार अध्वर्यु को ही होना ठीक है क्योंकि ऐसा होने से वह यथा वेद सिद्ध होते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का यथा वेद होना सर्वथा प्रशंसनीय है इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो केशश्मश्रुवपनादि संस्कार कर्म विधान किये गये हैं वह अध्वर्यु को कर्तव्य है यजमान को नहीं ॥ ३ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। याजमाना इति। (याजमानाः) यजमान सम्बन्धी का नाम "याजमान" है अर्थात् जिसको

सम्बन्धिनः ते संस्काराः तत्प्रधानत्वात् संस्काराणाम्भोक्तृत्वप्रधानत्वात् तज्जनकत्वादिति यावत् । कर्मवद् यथा प्रधानभूतस्त्यागः यजमाने तद्वत् । अयं भावः ऋत्विङ्निष्ठकर्मकर्तृत्वसंपादनस्य लोकसिद्धतया न कथम्भावाकांक्षा, यजमाननिष्ठस्वर्गभोक्तृत्वं कथं संपादयेदित्यलौकिकत्वादस्त्याकाङ्क्षाऽतस्तदर्था एते, संस्कारसंस्कृतआत्मनि सति भोक्तृत्वमिति ॥ ४ ॥

व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

" तमभ्यनक्ति " " शरेषीकयाऽभ्यनक्ति " इति

यजमान करे उसको याजमान कहते हैं, उक्त वपनादि संस्कार कर्म भी याजमान हैं क्योंकि (तत्प्रधानत्वात) 'तत्' संस्कारों को फल भोक्तृत्व का 'प्रधानत्वात्' जनकत्व है । (कर्मवद्) जैसे प्रधान भूत याग यजमान को कर्तव्य होने से याजमान है वैसे ही । यह भाव है कि ऋत्विजों में कर्म कर्तृत्व के संपादन को लोक सिद्ध होने से कर्म कर्तृत्व कैसे संपादन करना ऐसी कथम्भावाकांक्षा नहीं होती, यजमान में स्वर्ग भोक्तृत्व को अलौकिक होने से कैसे संपादन करना ऐसी आकांक्षा होती है इसलिये भोक्तृत्व के लिये उक्त संस्कार से संस्कृत आत्मा के होने पर भोक्तृत्व आता है ॥ ४ ॥

" यजमान का अभ्यञ्जन=तैलादि से मर्दन करे " इत्यादि वाक्यों मे परस्मैपद का (व्यपदेशात्) कथन पाये जाने से

परस्मैपदस्य व्यपदेशाद् निर्देशादध्वर्युकर्तृकाऽभ्यञ्जनं यज-मान कर्मकमिति स्पष्टं गम्यते, अभ्यञ्जनञ्चवपनाऽनन्तरं तत्पश्चाच्च स्नानादि कर्मेति लोके प्रसिद्धमतः ज्योतिष्टोमे ये वपनादयः संस्काराः विहिताः ते यजमानस्यनाध्वर्योः॥५॥

गुणत्वे तस्यनिर्देशः ॥ ६ ॥

कर्म द्विविधं गुण रूपं प्रधान रूपं च तल्लक्षणानि द्वितीयाध्याये पठितानि। तयोर्मध्ये प्रधान कर्मण्येव समा-ख्यया व्यवस्था इहतु पुरुषं प्रति गुणत्वेन निर्देशः। अतो

अध्वर्यु कर्तृक अभ्यञ्जन यजमान कर्मक स्पष्ट प्रतीत होता है और अभ्यञ्ज वपन के अनन्तर किया जाता है और तत्पश्चात् स्नान आदि कर्म किये जाते है यह लोक में प्रसिद्ध है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो वपनादि संस्कार कर्म विधान किये गये हैं वे यजमान के हैं वध्वर्यु के नहीं ॥ ५ ॥

कर्म दो प्रकार के हैं गौणरूप और प्रधान रूप उक्त कर्मों के लक्षण द्वितियाध्याय में पढे गये हैं उक्त दोनों के मध्य प्रधान कर्म में ही समाख्या से व्यवस्था होती है संस्कार कर्म में तो पुरुष के प्रति गौणरूप से कथन है। इसलिये भी यजमान को संस्कार कर्म कर्तव्य है अध्वर्यु को नहीं ऐसा कहते हैं। गुणेति (तस्य) वपनादी संस्कार का (निर्देशः) विधानं (गुणत्वे) यजमान के धर्म होने परही "पर्यवस्यति" बनसक्ता है। और "तमभ्यनक्ति" वाक्यमें जो यजमान का साक्षात् उपादान करके

ऽपि यजमानस्य नाध्वर्योरित्याह। गुणेति। तस्य संस्कारस्य निर्देशः गुणत्वं पर्यवस्यति ॥ ६ ॥

चोदनाप्रतिभावाच्च ॥ ७ ॥

चोदनायाः स्वर्गकामो यजेतेतिचोदनागम्यापूर्वस्य प्रतिभावाद् यजमानस्य, सन्निकृष्टत्वाच्च। यत्रापूर्वं तत्र संस्कार इत्यपूर्वसन्निकर्षोयजमाने चेद्भवतीति भावः ॥ ७ ॥

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥ ८ ॥

अभ्यञ्जनादि का विधान किया है वह वपनादि को यजमान का धर्म माने विना उपपन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि जिसका वपन उसी का अभ्यंग लोक प्रसिद्ध है। यदि क्षौर कर्म ऋत्विजों का और अभ्यंग यजमान का हो तो वैयधिकरण्य होजाने से लोक प्रसिद्धि का बाध होजाता है। और ब्राह्मण वाक्य भी असम्बद्ध हो जाता है। इसलिये क्षौरादि को यजमान का मानना ठीक है ॥ ६ ॥

(चोदनाय:) स्वर्ग की कामनावाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करें, इत्यादि विधि वाक्य गम्य अपूर्व का (प्रतिभावात्) यजमान में सम्बन्ध होने से भी यजमान का ही संस्कार होने चाहिये। जिसमें अपूर्व हो उसी में संस्कार होने चाहिये। इस नियम के अनुसार यदि अपूर्व का सम्बन्ध यजमान में है तो क्षौरादि संस्कार भी उसी में होना चाहिये यह भाव है ॥ ७ ॥

ननूक्तयुक्त्या यजमानस्य, समाख्यया ऽध्वर्योरिति द्वयोः किं न स्यात्तत्राह । अतुल्यत्वादिति । संस्काराः ऋत्विग्यजमानयोः तुल्यविधाना न स्युः । अतुल्यत्वाद् ऋत्विक्षु भोक्तृत्वाभावेनातुल्यत्वात् ॥ ८ ॥

ननु, उक्तन्याय से यजमान को और समाख्या से अध्वर्यु को उक्त संस्कार कर्तव्य हैं ऐसा क्यो न मानाजाय इस पर कहते है अतुल्यत्वादिति । (असमानविधानाः स्युः) उक्त संस्कार ऋत्विक् तथा यजमान दोनों के लिये समान रूपसे विधान किये गये नहीं हो सक्ते, क्योंकि (अतुल्यत्वात्) ऋत्विजोंमें भोक्तृत्वका अभाव होने से उक्त दोनों परस्पर समान नही हैं । यद्यपि आध्वर्यव समाख्या से उक्त संस्कार कर्म अध्वर्यु सम्बन्धी प्रतीत होते हैं तथापि वे संस्कार अध्वर्युको कर्तव्य नहीं माने जासक्ते । क्योंकि स्थान प्रमाण से वे यजमान का कर्तव्य सिद्ध हैं और स्थान की अपेक्षा निर्बल होने से उक्त समाख्या का स्थान से बाध होना आवश्यक है और जिसका बाध होजाता है वह पुनः विनियोजक नहीं होसक्ता, अतएव समाख्या बलसे उक्त संस्कार अध्वर्युको कर्तव्यसिद्ध नहीं होसक्ते । और स्थान प्रमाण से तथा पूर्वोक्त युक्तियों से वे यजमान को कर्तव्य सिद्ध है अतः उनका दोनों के प्रति समानरूप से विधान नहीं होसक्ता यह भाव है ॥ ८ ॥

तपसो याजमानत्वम् : अधि. ३ ।

तपश्च फल सिद्धित्वाल्लोकवत् ॥ ९ ॥

ज्योतिष्टोमे " द्व्यहंनाश्नाति " त्र्यहंनाश्नातीत्य नशन रूपं तपः श्रूयते । इदं तपो याजमानमार्त्विजंवेति संशये, आध्वर्यव समाख्यानादार्त्विजं तपः, इति पूर्वपक्षे सिद्धान्त माह । तपश्चेति । तपोऽपि याजमानं यजमान पापक्षय द्वारा फल भोक्तृत्व सिद्धिर्यस्मात्तत्स्यात्, लोकवत् । लोके कृच्छ्राद्यनुष्ठाने प्रथमं दुःख पश्चात्सुखं तद्वत् ॥ ९ ॥

अत्र तप को याजमान कर्म कथन करते हैं तृतीयाधिकरण से ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में " दो दिन अथवा तीन दिन अन्न न खाय, इत्यादि वाक्यों से जो दुग्धादि के सेवन पूर्वक दो अथवा तीन दिन पर्य्यन्त अन्न का न खाना रूप तप विधान किया है वह यजमान का कर्म है किंवा ऋत्विजों का अर्थात् उक्त तप यजमान को कर्तव्य है अथवा ऋत्विजों को इस संशय के होने पर आध्वर्यव समाख्या होने से ऋत्विजों का है इस पूर्व पक्ष के होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । तपश्चेति । (च) और (तपः) क्षौरादि की भांति तप भी यजमान का कर्म है क्योंकि (फल सिद्धित्वात्) यजमान के पापक्षय द्वारा फल भोक्तृत्व के सिद्धि का हेतु है (लोकवत्) जैसे लोक में कृच्छ्रचान्द्रायणादि के अनुष्ठान में प्रथम दुःख पश्चात् सुख होता है वैसे ही ॥ ९ ॥

वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥ १० ॥

उक्तार्थसंमतिमाह । वाक्येति । उक्त विधिरूप वाक्य शेषोऽर्थवादः, यदा वै पुरुषे न किंचनान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषो नश्यति, अथ मेध्यतम इति । तद्वत् उक्तमेवार्थमाह ॥ १० ॥

वचनादितरेषां स्यात् ॥ ११ ॥

अब वाक्य शेष से उक्त अर्थ में संमति कथन करते हैं । वाक्येति । " जब पुरुष के भीतर अन्न अनशन के कारण यत्किञ्चित् भी नहीं रहता, और जब इसके पलकों में लीन कृष्ण तारे नहीं दीखते तब वह पवित्रतम हो जाता है " इत्यादि जो उक्त विधि वाक्य का शेष अर्थवाद है वह भी (तद्वत्) उक्त अर्थ ही को कहता है, अर्थात् वाक्य शेष भी उक्त प्रकार का तप यजमान का ही कर्म सिद्ध करता है, क्योंकि यदि वह यजमान का कर्म न होता तो उक्त वाक्य शेष में तप के प्रभाव से यजमान का पवित्र होना कथन न किया जाता किन्तु यजमान से भिन्न ऋत्विजों का पवित्र होना कथन किया जाता, परन्तु उसमें उक्त तपसे यजमान का ही पवित्र होना कथन किया है । इस से सिद्ध है कि वह यजमान का कर्म है ऋत्विजों का नहीं ॥ १० ॥

" जो इस इष्टका का उपधान करे वह तीनवरों को दे "

" य एतामिष्टकामुपदध्यात्सत्रीन्वरान्दद्यात् " इति वचनाद्यथा वरदानमाध्वर्यं तथा प्रकृतेऽपि यत्र " ऋत्विजः एतारात्रिमुपवसन्तीति " वचनं तत्र ऋत्विजामित्याह। वचनादिति। वचनाद्वाक्य शेषादितरेषां क्वचित् ऋत्विजां कर्माऽपि स्यात् ॥ ११ ॥

लोहितोष्णीषतादीनां सर्व ऋत्विग्धर्मत्वम्। अधि. ४।

गुणत्वाच्च वेदेन व्यवस्था स्यात् ॥ १२ ॥

श्येने " लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीति श्रूयते। वाजपेये श्रूयते " हिरण्यमालिन प्रचरान्ति, इति। ते समाख्यया तत्तत्पुरुषैः कार्या उत सर्वर्त्विग्भिरिति संशये, इदं

इस वचन के बलसे जैसे वरदान अध्वर्यु का कर्म है वैसा ही प्रकृत में भी जिस कर्म में " सब ऋत्विज इस रात्रिसत्र नामक याग में उपवास करें " यह वाक्य शेष है उस कर्म में ऋत्विजों का कर्तव्य तप है ऐसा कहते हैं। वचनादिति (वचनात्) वाक्य शेष के बलसे (इतरेषां) क्वचित ऋत्विजों का कर्म भी (स्यात्) उक्त तप होता है ॥ ११ ॥

लोहित उष्णीषता आदियों को सब ऋत्विजों का धर्म कथन करते हैं चतुर्थ अधिकरण से। श्येनयाग के प्रकरण में " लाल पगड़ी वाले ऋत्विज कर्म का अनुष्ठान करें " तथा वाजपेय याग के प्रकरण में हिरण्य निर्मित मालावाले ऋत्विज

सामवेदे पठितत्वात् समाख्ययोद्गातृगणानामेवेति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । गुणत्वादिति । गुणत्वादृत्विजां संस्कार रूप त्वाद् वेदे सामवेदे स्थितस्यापि समाख्यया व्यवस्था ऋत्विक् पद संकोचो न स्यात् । प्रति प्रधानं मङ्गावृत्तिन्यायस्यैव प्रवृत्तिरिति भावः ॥ १२ ॥

वृष्टि कामनाया याजमानता । अधि. ५ ।

तथा कामोऽर्थ संयोगात् ॥ १३ ॥

ज्योतिष्टोमे यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यादिति

कर्म का अनुष्ठान करें " इत्यादि वाक्यों में विहित लोहित उष्णीषादि समाख्या से उद्गतृगण तथा अध्वर्यु गण को कर्तव्य हैं किंवा सब ऋत्विजों को इस संशय के होने पर । लोहितो ष्णीषादिकों का यजुर्वेद तथा समावेद में विधान पाया जाताहै, अतः समाख्या से अध्वर्युगण तथा उद्गातृगणों को ही कर्तव्य हैं सब ऋत्विजों को नहीं इस पूर्वपक्ष के होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। गुणत्वादिति । (गुणत्वात्) ऋत्विजों का संस्कार रुप गौण कर्म होने से (वेदे) यजुर्वेद तथा समावेद में उष्णी- षादिओं का विधान होने पर भी आध्वर्यवादि समाख्या से (व्यवस्था) ऋत्विक् पदका संकोच (न) नहीं (स्यात्) कियाजासक्ता । प्रतिप्रधान अङ्गों की आवृत्ति होती है इस न्याय का ही प्रवृत्ति है यह भाव है ॥ १२ ॥

नीचैः सदामिनुयादितिश्रुता कामनाऽध्वर्योर्यजमानस्य वेति संशये आध्वर्यव समाख्ययाऽध्वर्योरिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । तथेति । तथातपोवत् । कामः यजमानस्य अर्थेन साङ्ग याग फलेन सम्बन्धात् सर्वं फलं यजमानस्यैव ॥ १३ ॥

अब वृष्टिरूप फल कामना को यजमान का कर्म कथन करते हैं पञ्चम अधिकरण से । ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "यदि यह इच्छा हो कि वृष्टि करने वाले मेघ शीघ्र ही आकाश मण्डल में उमुड आयें तो जो पूर्व तथा पश्चिम भाग में "हविर्धान" तथा "प्राचीन वंश" नामक दो मण्डप उंचे बनाये गये हैं उनका मध्यवर्ती "सदः" नामक मण्डप उनकी अपेक्षा नीचा बनाया जाय, इत्यादि वाक्यों से वृष्टि आदि रूप फल की कामना कथन की है वह यजमान का कर्म है किंवा ऋत्विजों का अर्थात् उक्त कामना का कर्ता यजमान है अथवा ऋत्विज इस संशय के होने पर वृष्टि कामना की आध्वर्यव समाख्या होने से अध्वर्यु का कर्म होना चाहिये ऐसा सूत्र से बाहर पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । तथेति । (तथा) जैसे "तप" यजमान का कर्म है, वैसे ही (कामः) वृष्टिरूप फल की इच्छा भी यजमान को कर्तव्य है, क्योंकि (अर्थेन) साङ्ग याग के फल के साथ यजमान का (संयोगात) सम्बन्ध है । सर्व फल भोक्तृत्व को ही है । इच्छा, कामना तथा काम यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं ॥ १३ ॥

व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥ १४ ॥

यत्र क्वचिदुद्गाताऽऽत्मेने यजमानाय वा यं कामं कामयेत्तमागायतीति व्यपदेशः निर्देशः तत्रेतरेषामृत्विजाम् । १४

आयुर्दादिमन्त्रपाठस्य याजमानत्वम् । अधि. ६ ।

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥ १५ ॥

" आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मेदेहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो

"यत्र क्वचित्"=जैसा कि उद्गीथोपासना के प्रकरण में उद्गाता अपने और यजमान के लिये जिस फल की इच्छा करे उसके उद्देश में देवता की स्तुति का सामगान करे, इस वाक्य में उद्गाता अपने लिये भी गान करे ऐसा (व्यपदेशात्) कथन होने से उक्त उपासना में (इतरेषां) ऋत्विजों को भी फल काम कर्तृत्व हैं । अतः सर्वत्र यजमान को फल कामना का कर्ता होने पर भी क्वचित् वाक्य विशेष के बल से ऋत्विज भी उक्त कामना के कर्ता होते हैं यह सिद्धान्त है ॥ १४ ॥

अब आयुर्दा आदि मन्त्रों का पाठ यजमान को कर्तव्य कथन करते हैं षष्ठाधिकरण से । हे अग्नि आप आयु को तथा तेज को देनेवाले हैं मेरे लिये आयु तथा प्रकाश को दे " तै० सं० १।५।५।४। इत्यादि (अकर्मणाः) अनुष्ठान करने योग्य कर्म

मे देहीत्यादयोऽकर्मकरणाः क्रियाविशेषस्याऽनुष्ठेयस्याऽस्मारकाः, तेऽध्वर्युणा यजमानेन वा पठितव्याः, इति संशये, समाख्यया ऽध्वर्युणा पठितव्याः, इति पूर्वपक्षे ते तद्वत् इच्छावद्याजमाना इति सिद्धान्तः ॥ १५ ॥

विप्रयोगे च दर्शनात् ॥ १६ ॥

साधकान्तरमाह । वीति । विप्रयोगे प्रवासे दर्शनात् ।

विशेष रूप अर्थ का स्मरण न कराने वाले मन्त्र अग्नि देवता से आयु आदि गुणों की प्रार्थना के लिये यज्ञ में पढे जाते हैं । उनका पाठ अध्वर्यु को कर्तव्य है किंवा यजमान को अर्थात् उक्त मन्त्रों द्वारा अग्नि देवता से आयु आदि गुणों की प्रार्थना अध्वर्यु करे अथवा यजमान इस संशय के होने पर आध्वर्यव उक्त मन्त्रों की समाख्या होने से अध्वर्यु को पाठ करना चाहिये ऐसा पूर्वपक्ष होने पर । (मन्त्राः) उक्त मन्त्रों का पाठ फल कामना की भांति यजमान को कर्तव्य हैं क्योंकि " आयुर्मेदेहि " इस वाक्य से फल का अपने लिये सम्बन्ध प्रतीत होता है । और वह सम्बन्ध यजमान का होना युक्त है अध्वर्यु का नहीं क्योंकि अध्वर्यु यजमान से परिक्रीत होने के कारण अपने लिये उक्त गुणों की प्रार्थना नहीं कर सकता यह सिद्धान्त है ॥ १५ ॥

अब उक्त अर्थ में अन्य साधक युक्ति देते हैं । वीति ।

प्रवासे इहैव सन् तत्र सन्तं त्वा ऽग्ने इति प्रवासे लिङ्गेन विनियोगः श्रूयते । न हि प्रवासे ऽध्वरस्ति । अतः यजमानस्यैवेति सिद्धौ तन्न्यायेन ईदृशा मन्त्राः सर्वेऽपि यजमानेनैव पाठ्या नाध्वर्युणेति सिद्धम् ॥ १६ ॥

द्व्याम्नातस्यो भय प्रयोज्यत्वम् । अधि. ७ ।

द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थवत्त्वात् ॥ १७ ॥

(च) और (विप्रयोगे) प्रवास में (दर्शनात) प्रार्थना विधान मिलने से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है । " हे प्रकाश स्वरूप अग्निदेव यहां प्रवास में रहा हुआ भी आप से उक्त गुणों की प्रार्थना करता हूं, इस वाक्य में जो प्रवास में स्थित की प्रार्थना का अनुवाद किया है वह यजमान को ऐसे मन्त्र पढना चाहिये इसमें हेतु है । प्रवास में स्थित पुरुष का नाम अध्वर्यु नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म करते हुए का ही अध्वर्यु शब्द वाचक होता है । यजमान का तो द्रव्य का त्याग से यजमान शब्द वाचक हो सकता है । इसलिये यजमान को ही उक्त मन्त्र पाठ करना इसके सिद्ध होने पर उसी न्याय से इस प्रकार के सब भी मन्त्र यजमान को ही कर्तव्य है अध्वर्यु आदि ऋत्विजों को नहीं यह सिद्ध हो गया ॥ १६ ॥

दो बार पठित मन्त्रों को उभय प्रयोज्यत्व कथन करते हैं

दर्शपूर्णमासयोः स्रुग्व्यूहन मन्त्रः " स्रुचौ व्यूहति " वाजस्य मा प्रसवेनेत्यादि तै० सं० १,१।१३।१। तथा आज्यग्रहणमन्त्रः " आज्यं यै गृह्यते " " पञ्चानांत्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि " तै० सं० १।६।१।२ इत्यादिः आध्वर्यव काण्डे याजमान काण्डे च द्विबारमाम्नातः ते किं यजमाने नैवाध्वर्युणैव वा प्रयोक्तव्याः, उतोभाभ्या-मपीति संशये, एकेन प्रयोक्तव्ये सति मन्त्राणां चरितार्थ

सप्तमाधिकरण से । दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "स्रुवा में पदार्थों का संचय करे" (वाजस्य) अन्न की (प्रसवेन) उत्पत्ति से (मा) मेरे को (उदग्रभीत्) अनुगृहीत करो " तै. सं. १।१। १३।१ इत्यादि स्रुग्व्यूहन का मन्त्रों का तथा " आज्य जिनों के द्वारा ग्रहण किया जाता है " शरीर के मध्य वर्तमान प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान रूप पाञ्च वायु हैं उनों को (यन्त्राय) अपने २ व्यापारों में नियमन के लिये (धर्त्राय) जगत् विधारण के कुशलता के लिये हे आज्य आपको ग्रहण करता हूं तै. सं. १।६।१।२। इत्यादि आज्य ग्रहण मन्त्रों का पाठ विधान किया है, औंर उनका याजमान काण्ड में एक बारे पाठ करके दुवारा आध्वर्यव काण्ड में पाठ किया है, उक्त मन्त्रों का यजमान से ही अथवा अध्वर्यु से ही पाठ होना चाहिदे किंवा दोनों से इस संशय के होने पर, एक के पाठ करने पर मन्त्र चरितार्थ हो जाते हैं दूसरे को पाठ नहीं करना चाहिये इस पूर्वपक्ष के होने

त्वादितरेण तेन प्रयोक्तव्याः, इति पूर्वपक्षे, अध्वर्यु यजमानाभ्यां पठनीयाः, इति सिद्धान्तमाह। द्वयाम्नातेष्विति द्वयाम्नातेषु द्विवारमाम्नातेषु उभौ पाठ कर्तारौ द्विवारमाम्नानस्य सार्थकत्वात् , तयोः पठतोराशय भेदोऽस्ति। अनेन मन्त्रेण प्रकाशितमर्थमनुष्ठास्यामि, इत्यध्वर्युमनुते। अत्र न प्रमादिष्यामि, इति यजमानः ॥ १७ ॥

ज्ञातस्यैव वाचायितव्यत्वम्। अधि. ८।

ज्ञाते च वाचनं न ग्रह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥ १८ ॥

वाजपेयेश्रूयते "क्लृप्तीर्यजमानं वाचयतीति"

पर, अध्वर्यु तथा यजमानों को मन्त्र पाठ करना चाहिये इस सिद्धान्त को कहते हैं। द्वयाम्नातेष्विति। (द्वयाम्नातेषु) दो बार जिन मन्त्रों का पाठ किया गया है उनके पाठ के कर्ता (उभौ) दोनों को होना चाहिये। क्योंकि (द्वयाम्नानस्य) ऐसा मानने से दुबारा पाठ (अर्थवत्वात्) सार्थक होता है। पाठ करने वालों के आशय का भेद है। इस मन्त्र से प्रकाशित अर्थ का अनुष्ठान करूंगा ऐसा अध्वर्यु मानता है। इसमें प्रमाद नहीं करूंगा ऐसा यजमान मानता है ॥ १७ ॥

अब मन्त्र तथा तदर्थवेत्ता यजमान को ही मन्त्रों का पाठ कराना कथन करते हैं अष्टम अधिकरण से। वाजपेय याग के प्रकरण में "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" तै. सं. ४।७।१०।२ (यज्ञेन)

तत्र किं ज्ञश्चाज्ञश्च द्वावपि वाचयितव्यौ उत ज्ञ एवाथवाऽज्ञ एवेति संशये । अत्राज्ञाते वाचनं सफलमतः एतदज्ञानी यजमानोऽत्रग्राह्य इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । ज्ञात इति । अविद्वान् यजमानः न विहितोऽस्ति अतः ज्ञातस्याप्यदृष्टार्थवाचनमिति भावः ॥ १८ ॥

द्वादशानां द्वन्द्वानामाध्वर्यवत्वम् । अधि. ९ ।

इस वाजपेय यज्ञ के फल से हमारी (आयुः) आयु (कल्पताम्) वृद्धि को प्राप्त हो। "इन क्लृप्त्यर्थक शब्द युक्त मन्त्रों का पाठ यजमान से कराये ऐसा विधान किया है उक्त मन्त्रों का पाठ मन्त्रार्थाभिज्ञ तथाऽनभिज्ञ दोनों से कराना चाहिये किंवा ज्ञाता से ही अथवा अज्ञाता से ही इस संशय के होने पर । मन्त्रार्थ का अज्ञाता यजमान से उक्त मन्त्रों का पाठ कराना सार्थक होता है इसलिये इन मन्त्रों का न जानने वाला यजमान पाठ कराने में लेना चाहिये ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । ज्ञात इति । (ज्ञाते) उक्त मन्त्रों के अर्थ का जानने वाले यजमान से (च) ही (वाचनं) उक्त याग में पठनीय मन्त्रों का पाठ कराये (हि) क्योंकि (अविद्वान्) मन्त्रार्थानभिज्ञ यजमान (विहितः) कहीं भी विधान किया गया (न अस्ति) उपलब्ध नहीं होता । इसलिये जाननेवाले यजमान से अदृष्टार्थ पाठ कराना चाहिये यह भाव है ॥ १८ ॥

यजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः ॥ १९ ॥

दर्शपूर्णमासयोराध्वर्यवकाण्डे वत्समुपावसृजत्युखाम धिश्रयति व्रीहीनवहन्तीत्यादिभिः प्रत्येकं कर्माणि सामान्य रूपेण विहितानि पुनश्च दर्शपूर्णमासे याजमानकाण्डे श्रूयते, वत्सं चोपाव सृजत्युखांचाधिश्रयतीत्याद्यनुकीर्त्य एतानि वैद्वादश द्वन्द्वानि दर्शपूर्णमासयोस्तानि संपाद्य यजेतेति त. सं. १।६।९।३।४। किमेतान्यध्वर्योः कर्माणि, उत यजमानस्येति संशये. याजमान काण्डे श्रुतत्वादिमानि यजमान कर्तृकाणीति पूर्वपक्षमाह । याजमान इति । कर्माणि

अब द्वादश द्वन्द्व कर्मों का कर्ता आध्वर्यु का कथन करने के लिये नवम अधिकरण की रचना करते हैं । दर्श पूर्ण मास के आध्वर्युव काण्ड में " गौ को दुहने के लिये अध्वर्यु वत्स को बन्धन से मुक्त करे । दुहे हुये दुग्ध को पकाने के लिये गार्ह पत्य अग्नि के उपर उखा पात्र का स्थापन करे । व्रीहियों को कूटे " इत्यादि वाक्यों से प्रत्येक कर्मों का सामान्य रूप से विधान किया है और पुनः दर्श पूर्ण मास के यजमान काण्ड में " वत्स का खोले, उखा को स्थापन करे, इत्यादि वाक्यों से उक्त कर्मों का अनुवाद करके द्वादश द्वन्द्वों का दर्श पूर्ण मास में सम्पादन करके याग करें ऐसा विधान किया हैं । क्या ये कर्म अध्वर्यु के हैं किंवा यजमान के अर्थात् इन कर्मों को अध्वर्यु करें अथवा यजमान इस संशय के होने पर । यजमान काण्ड में उनों

याजमानं याजमानानि स्युः याजमाने समाख्यानात् ॥१९॥
अध्वर्युर्वा तदर्थे हि न्याय पूर्वं समाख्यानम् ॥ २० ॥

सिद्धान्तमाह । अध्वर्युर्वेति । एतान्यध्वर्युः कुर्यात् । हि यतः तदर्थे उक्तपदार्थानुष्ठानार्थे, क्रीत इति शेषः । ननु अध्वर्यु समाख्या व्यापिका यजमानसमाख्या व्याप्या तया निरवकाशत्वाद् आध्वर्यवसमाख्याप्राप्तमेष्वध्वर्युकर्तृकत्वं बाध्यते इत्यत्राह । न्यायपूर्वं न्यायाविरुद्धं समाख्यानं वस्तूनि प्रापयति । इह तु अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यादिति

का विधान पाये जाने से ये कर्म यजमान कर्तृक हैं इस पूर्व पक्ष को कहते हैं । याजमान इति । द्वादश द्वन्द्व नामक कर्म (याजमानं) यजमानको (स्युः) कर्तव्य हैं क्योंकि (याजमाने) याजमान काण्ड में (समाख्यानात्) कथन पायाजाता है ॥ १९ ॥

अत्र सिद्धान्तको कहते हैं। अध्वर्युवेति। (अध्वर्युः) अध्वर्यु को उक्त द्वादश द्वन्द्वकर्म कर्तव्य हैं (हि) क्योंकि (तदर्थे) उक्त पदार्थों के अनुष्ठान के लिये अध्वर्यु का परिक्रयकिया गया है । ननु, आध्वर्यव समाख्या व्यापक है तथा याजमान समाख्या व्याप्य है और व्यापक आध्वर्यव समाख्या से प्राप्त इन कर्मोंमें अध्वर्यु कर्तृकत्वका उक्त व्याप्य समाख्या से बाध होना उचित है अन्यथा उक्त समाख्यानिरवकाश होजायगी इसपर कहते हैं । (न्यायपूर्वं) न्यायसे अविरुद्ध (समाख्यानं) जो कथन होता है वह वस्तुको प्राप्त करता है । यहां तो अंग के गुण के साथ

न्यायविरोधः । तथा हि एषां पदार्थानामाध्वर्यवकाण्डे पठितत्वात् पदार्थेष्वध्वर्युकर्तृकत्वं प्राप्तम् । यजमानकाण्डे द्वादश द्वन्द्वानि य एवं संपाद्य यजतइति द्वन्द्वतासंपादनं तत्काण्डपाठाद् यजमानकर्तृकम् । द्वन्द्वतासंपादनं द्वयोर्द्वयो रव्यवहितत्वसंपादनम् न हि एकेन क्रियाद्वयानुष्ठानमन्येना व्यवधानसंपादनं संभवत्यतः उभयमप्येककर्तृकं संपाद्यम् । तत्र पदार्थाः प्रधानभूताः तत्कर्तृत्वं प्रधान धर्मः । अव्यव-धानं पदार्थधर्मः तत्कर्तृत्वमङ्गधर्मः । अन्यतरकर्तृत्वबाधे

प्रधान गुणका विरोध होने पर प्रधान गुणका ग्रहणही न्याय है क्योंकि अंगोंको प्रधानार्थत्व है इस न्यायके साथ विरोध है । तथाहि इनवत्सोपमोचनादि पदार्थों का आध्वर्यव काण्ड में पाठ होने से उक्त पदार्थों का कर्तृत्व अध्वर्युको प्राप्त है । और याजमान काण्ड में " द्वादश द्वन्द्वानि य एवं संप्राद्ययजते " इस वाक्य से द्वन्द्वतासंपादन का उक्त काण्ड में विधान होने से यजमान कर्तृक प्राप्त है । दो दो का अव्यवहितत्व संपादनका नाम द्वन्द्वतासंपान है । एक से कर्म द्वयका अनुष्ठान और दूसरे से दो २ कर्मों का अव्यवधान प्राप्त करना संभव नहीं इसलिये दो को एक कर्तृक होना चाहिये । तहां वत्सवि मो कादिरूप पदार्थ प्रधान भूत हैं और उनों का कर्ता अध्वर्यु प्रधान का गुण है । अव्यवधान पदार्थों का धर्म है उसका कर्ता यजमान अंग का गुण है। अन्य-तर कर्ता का बाध प्राप्त होनेपर अंग का गुण होने से यजमान

प्राप्ते अङ्गगुणत्वाद्यजमानकर्तृत्वस्यैव बाधः स्यात् यदि विपरीतं तदा न्यायविरोधः स्यादिति भावः ॥ २० ॥

होतुराध्वर्यवकरणमन्त्रानुष्ठातृत्वम् । अधि. १० ।

विप्रतिषेधे करणं समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात् ॥ २१ ॥

कुण्डपायिनामयने यो होता सोऽध्वर्युरिति होतर्येव अध्वर्युकार्यकारित्वं विहितम् । प्रकृतौ यूपपरिव्याणसमये

रूप कर्ता का ही बाध होना उचित है यदि विपरीत हो तो न्याय विरोध आता है यह भाव है ॥ २० ॥

अब अध्वर्यु कर्तृक करण मन्त्रों का अनुष्ठान " होता " को कर्तव्य कथन करते हैं दशम अधिकरण से । कुण्डपायिनामयन नामक सत्रविशेष में " जो होता है वही अध्वर्यु है " तां० ब्रा० २५।४।४ इस वाक्य से " होता को ही अध्वर्यु के कार्य की कर्तव्यता विधान किया है । प्रकृतियागमें यूपके परिवेष्टन काल में " युवासुवासाः परिवीत आगात् " तै० ब्रा० ३।६।१।३। = जैसे लोक में (सुवासाः) शोभन वस्त्रविष्ट (युवा) यौवन युक्त पुरुष आगे आता है वैसाही यह यूप (परिवीतः) रज्जु से चारों ओर से वेष्टित हुआ (आगात्) इस कर्म में आता है " यह " होता को पठनीय मन्त्र है । " हे यूप तुम (परिवीः) रज्जु से चारों

युवा सुवासा इति होत्रा पठनीयो मन्त्रः परिविरसीत्यध्वर्यु णा पठ्यमानो मन्त्रः। उभौ चात्रातिदेशेन प्राप्तौ। अत्र कर्तुरशक्त्या युगपन्मन्त्रद्वयपाठासमवाध्दोत्रा को वा मन्त्रः पठनीय इति संशये परिधौपशु नियुञ्जतेत्यत्र परिधिधर्मान् स्वीयान् सत्वकृत्वादीन् रक्षितु मागन्तुकाष्टा श्रीकरणलो पन्यायेन होत्रा स्वीयमन्त्रः युवा सुवासाइत्येव पठितव्यो, नागन्तुकः परिवीरसीति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह।

ओर से वेष्टित (असि) हो " तै. सं० १।३।६।२ यह अध्वर्यु को पठनीय मन्त्र है। ये दोनों मन्त्र उक्त विकृति याग में " प्रकृति वद् विकृतिः कर्तव्या " इस अतिदेशवाक्य से प्राप्त हैं। दोनों मन्त्रों के प्रयोग में एक होता रूप कर्ता की अशक्ति होने से मन्त्र द्वयका युगपत्पाठ का असम्भव होने से होता को कौन मन्त्र पढना चाहिये इस संशय के होने पर " परिधिमें परिधित्वको संरक्षण करके उसमें पशुका नियोजनकरे " इस वाक्यघटक परिधिमें स्वकीय परिधिधर्म सत्वकत्वादियों को रक्षा करने के लिये आगन्तुक अष्ट कोण करने का अभाव किया गया है उसी न्याय से होता को अपना मन्त्र " युवा सुवासाः " येही पढना चाहिये आगन्तुक " परिवीरसि " यह मन्त्र नहीं पढना चाहिये ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्तको कहते है। विप्रतिषेध इति। (विप्रतिषेधे) एका की " होता " चोदकवाक्य से प्राप्त अध्वर्यु कर्तृक

विप्रतिषेधइति । विप्रतिषेधे उक्तरीत्या विरोधे करणमध्वर्यु-मन्त्रं ब्रूयात् । समवाये प्रत्यक्षेण यो होतेतिवचनविधेयत्व रूपसंबन्धे विशेषात् । आनुमानिकचोदकशास्त्रसंबन्धा-त्प्राबल्यरूपविशेषात् तथाऽपि आनुमानिकशास्त्रस्यापि नात्यन्तं बाध इत्याह । इतरं चोदकशास्त्रप्राप्तमन्यः होतृ-गणसंबन्धी मैत्रावरुण एव पठेत् । यतः हेतोः मैत्रावरुणे अच्छावाकादिभ्यः विशेषः होतृसामीप्यं गणे द्वितीयत्वा-त्स्यादतः ॥ २१ ॥

तथा स्वकर्तृक दोनों मन्त्रों को युगपद् पाठ नहीं कर सक्ता इस उक्त रीति से विरोध होने पर (करणं) अध्वर्यु के मंत्र को होता को पाठ करना चाहिये । (समवाये) " जो होता है वही अध्वर्यु है " इस प्रत्यक्ष वाक्य से होता का अध्वर्यु के कार्य में विधान है और विधान होने से होता में विधेयत्व रूप संम्बन्ध है उसमें (विशेषात्) आनुमानिक वाक्य से होतृकार्य में होता निष्ठविधेयत्वरूप सम्बन्ध से प्राबल्यरूपविशेष है । तो भी आनुमा-निकशास्त्र का भी अत्यन्तबाध नहीं ऐसा कहते हैं । (इतरं) चोद क शास्त्र प्राप्त मन्त्र का (तेषां) होता सम्बन्धी ऋत्विजों के मध्य (अन्यः) होता से भिन्न "मैत्रावरुण" नामक ऋत्विक्को पाठ कर्तव्य है (यतः) क्योंकि मैत्रावरुण में अच्छावाकादिओं से (विशेष) गणमें द्वितीयत्वहोने से होता के सन्निहित है ॥ २१

प्रैषप्रैषार्थयोः पृथक्कर्तृकत्वम् । अधि० ११ ।

प्रैषेच पराधिकारात् ॥ २२ ॥

दर्शपूर्णमासे प्रोक्षणीरासादय इध्माबर्हिरूपसादय स्रुवंच स्रुश्च संमृड्ढि "पत्नीं संनह्याऽऽज्येनोदेहीति प्रैषाः समाम्नाताः । तै. ब्रा. ३।२।९।१४ । प्रैषवाक्योच्चारणस्य

प्रैष तथा प्रैषार्थके भिन्न २ कर्ता कथन करते हैं एकादश अधिकरण से । दर्शपूर्णमास याग के प्रकरणमें " हे अग्नित् यागीय पात्रस्थ हविके प्रोक्षण क्रिया के लिये जलोंको आहवनीय के उत्तर देशमें स्थापन कर " " काष्ठखण्ड और वर्हिको स्थापनकर " स्रुव तथा स्रुचको सम्मार्जन कर " पत्नीसंनहनकरके आज्य से उत्पवन कर " ये प्रैष पढेगये हैं । प्रैष वाक्यके उच्चारण का तथा प्रैषार्थका एकही कर्ता अध्वर्यु है किंवा प्रैषार्थका कर्ता भिन्न है इस संशय के होने पर, प्रैषवाक्य के उच्चारण का और प्रैषार्थ का एकही कर्ता अध्वर्यु होनाचाहिये समाख्या वाले यजुर्वेद में पाठ पाया जाता है इसपूर्वपक्ष के होनेपर सिद्धान्त को कहते हैं । प्रैषइति । (प्रैषे) प्रैषका कर्ता प्रैषार्थ कर्ता से अन्य होना चाहिये क्योंकि (पराधिकारात्) " आसादय " आदि मध्यम पुरुष से युक्त होने के कारण प्रैष को अन्य विषयकहोना स्वतः सिद्ध है । तात्पर्य यह है कि मध्यम पुरुष " आसादय " पदोंका प्रयोगकिया है वह भेद

प्रैषार्थस्य चैक एव कर्त्ताऽध्वर्यु रुतअन्यः, इति संशये, प्रेषवाक्योच्चारणस्य प्रैषार्थस्यचाध्वर्युः कर्ता एक एवस्यात् उभयोरेकसमाख्या पाठादिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह प्रैष इति प्रैषे कर्ता तदर्थकर्तुः अन्यः पराधिकारात् परविषयत्वस्य मध्यमपुरुषघटितत्वेन स्वभावसिद्धत्वात् (१) ॥ २२ ॥

प्रैषप्रैषार्थयोः यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीध्रत्वम् । अधि० १२ ।

अध्वर्युस्तथालिङ्गदर्शनात् ॥ २३ ॥

पक्ष में ही उपपन्न होसक्ता है अभेद पक्षमें नही, क्योंकि आपही अपनी आज्ञा का विषय होना लोक तथा शास्त्र किसी से भी सिद्ध नहीं । आज्ञावाची पद घटित वाक्य विशेष का नाम पैष तथा उनके उच्चारण कर्त्ता प्रेरक ऋत्विक का नाम ' प्रैषकर्त्ता ' और उक्त वाक्य से सम्बोधन विभक्ति के द्वारा जिस को कार्य विशेष के कर्तव्यार्थ आज्ञा दी जाय उस प्रेर्य्य ऋत्विक का नाम " प्रैषार्थकर्त्ता " है, प्रैषार्थकारी तथा प्रैषार्थकर्ता यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं । प्रेरक, आज्ञाता तथा आज्ञाकरने वाला यह तीनों और प्रेर्य्य, आज्ञाप्य तथा आज्ञाकिया गया यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं ॥ २२ ॥

अब यथाक्रम प्रैष तथा पैषार्थ का अध्वर्यु और अग्नीध्र को कर्ता कथन करते हैं द्वादश अधिकरण से । उक्त प्रकार से प्रैष

एवं प्रैषतदर्थयोः कर्तृभेदे सिद्धे, इदं संदिह्यते किमध्वर्यु रग्नीध्रंप्रेष्येदुताग्नीदध्वर्युमिति । अनियमोऽविशेषादिति प्राप्ते अध्वर्युः प्रैषार्थकर्तेति पूर्वपक्षमाह । अध्वर्युरिति । अध्वर्युः प्रैषार्थकर्तास्यात् । तथालिङ्गदर्शनात् प्रैषोच्चारण समये, "वज्रोवैस्फ्यःयदन्वञ्चं धारयेत् ।" वज्रेणाऽध्वर्युंक्षिण्वीतेति. सं ३।२.१० । १ तिशाखान्तरे यस्य हस्तेस्फ्यः स प्रैषकर्तेति ज्ञातव्य । इदंलिङ्गम् ॥ २३ ॥

तथा प्रैषार्थ के कर्ता का भेद सिद्ध होने पर, यह सन्देह होता है कि क्या अध्वर्यु अग्नीध्रको प्रैषदेता है किंवा अग्नीध्र अध्वर्युको । इसमें नियम नहीं क्योंकि कोई विशेष नहीं है ऐसा प्राप्त होने पर । अध्वर्यु प्रैषार्थका कर्ता है इस पूर्व पक्षको कहते हैं । अध्वर्यु रिति । (अध्वर्युः) उक्त प्रैषके अर्थका कर्ता अध्वर्यु होना चाहिये क्योंकि (तथालिंग दर्शनात) वह स्फ्यवज्रके समान होता है जो नीचे की ओर झुका हुआ धारण किया जाता है, और प्रैषकर्ता उक्त वज्र द्वारा अध्वर्यु का हनन करता है, इस शाखान्तर वाक्य में जो प्रैषके उच्चारण समय नीचे की ओर झुका धारण खडग को वज्र समान कथन करके पुनः उससे अध्वर्य का हनन कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि प्रैष कर्ता अग्नीध्र और प्रैषार्थ कर्ता अध्वर्यु है अर्थात् जिसके हाथ में स्फ्य है वह प्रैषका कर्ता है ऐसा ज्ञात होता है यह लिंग है ॥ २३ ॥

गौणो वा कर्मसामान्यात् ॥ २४ ॥

सिद्धान्तमाह । गौण इति । आग्नीध्र प्रैषार्थकर्तरि अध्वर्युशब्दो गौणः यजुर्वेद विहितप्रैषार्थकर्तृत्वेन अध्वर्योः साक्षात्परंपरासाधारणकर्तृत्वेन प्रैषे साक्षात् कर्तृत्वं प्रैषेण प्रेरिताग्नीध्रकृते प्रैषार्थे प्रयोजककर्तृत्वमिति आध्वर्यवमिति· समाख्याप्राप्तं कर्मसामान्यकर्तृत्वमबाधितमतः कर्मसामान्यात् कर्मसामान्यकर्तृत्वोपपत्तेः आग्नीध्र प्रैषार्थकर्ता आग्नीध्रेणान्वञ्चधारणे अध्वर्युक्षयलिङ्गमध्वर्युप्रैषेऽपि न विरुध्यतइतिभावः ॥ २४ ॥

अत्र सिद्धांत को कहते हैं । गौण इति । (गौणः) उक्त वाक्य में जो "अध्वर्यु" शब्द है वह प्रैषार्थकर्ताआग्नीध्र में गौण है अर्थात् उक्त वाक्य में अध्वर्यु शब्द गुणवृत्ति से अग्नीध्र का वाचक है । आध्वर्य व समाख्यावाले यजुर्वेद में विधान किया गया जो प्रैषार्थ है उसका कर्ता होने से अग्नीध्र अध्वर्यु कहा जाता है यह तात्पर्य है । प्रैष में अध्वर्यु को साक्षात कर्तृत्व है तथा अध्वर्यु से प्रैष द्वारा प्रेरित अग्नीध्र कृत प्रैषार्थ में प्रयोजक कर्तृत्व है, इसलिये साक्षात् तथा परंपरा साधारण संबंध से कर्त्ता होने से आध्वर्य व इस समाख्या से प्राप्त कर्म सामान्य कर्तृत्व अध्वर्यु में अबाधित है इसलिये (कर्मसामान्यात्) कर्म सामान्य के कर्तृत्व की सिद्धी होने के कारण आग्नीध्र प्रैषार्थ और अध्वर्यु प्रैष का कर्ता है । अब अग्नीध्र से "स्फ्य" के तिरछा

करणमन्त्रेषु स्वामी फलस्याशासितव्यत्वम् । अधि. । १३

ऋत्विक फलं करणेष्वर्थवत्वात् ॥ २५ ॥

"ममाग्नेवर्चोविहवेष्वस्तु" तै० सं० ४।७।१४।१। =हेऽग्ने विहवेषुयज्ञेषुयद्वर्चः फलं तन्ममास्तु इत्यर्थः। इत्यादिभिः करणमन्त्रैः प्रार्थ्यमानं फलमध्वर्योः यजमानस्य

धारण में जो आध्वर्यु के क्षय का सामर्थ्यरूप लिङ्ग है वह अध्वर्यु को प्रैष का कर्ता होने पर भी विरुद्ध नहीं होता यह भाव है ॥ २४ ॥

अब " करण " मन्त्रों में यजमान के फल की प्रार्थना कथन करते हैं त्रयोदश अधिकरण से। हे प्रकाश स्वरूप अग्नि देव (विहवेषु) साङ्गो पाङ्ग अनुष्ठित यज्ञों में जो फल होते हैं वह सब मेरे को प्राप्त हों यह अर्थ है। इत्यादि करण नाम वाले मन्त्रों द्वारा जो यज्ञ फल की प्रार्थना की है वह उक्त मन्त्रों के पाठ कर्ता अध्वर्यु के लिये की है किंवा यजमान के लिये अर्थात् अध्वर्यु उक्त मन्त्रों से यज्ञ फल प्राप्ती की प्रार्थना अपने यजमान के लिये करें किंवा अपने लिये इस संशय के होनेपर पूर्वपक्ष को कहते हैं। ऋत्विगिति। (करणेषु) करण नामवाले मन्त्रों में (ऋत्विक्फलं) अध्वर्यु ऋत्विक् के लिये फल की प्रार्थना होनी उचित है, यजमान के लिये नहीं, क्योंकि (अर्थवत्त्वात्) ऐसा मानने से " मम " पद सार्थक होता है। पूर्वपक्षी का

वेति संशये पूर्वपक्षमाह । ऋत्विगिति । करणेषु करण संज्ञकेषु मन्त्रेष ऋत्विक् फलमृत्विजः अध्वर्योः फलं अर्थवत्वात् ममेत्यस्यशक्त्याऽर्थ संभवादन्यथा लक्षणास्यादतः ऋत्विक्फलमाशासित व्यमिति भावः ॥ २५ ॥

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ २६ ॥

सिद्धान्तमाह । स्वामिन इति । स्वामिनः यजमानार्थं फलमाशासितव्यम् । तदर्थत्वात् साङ्गफलस्य यजमानार्थ-

---

भाव यह कि यदि उक्त मन्त्रों में पाठ कर्ता अध्वर्यु अपने लिये याग फल प्राप्ति की प्रार्थना करता है ऐसा माने तो उक्त मन्त्रों में " जो मम अस्तु " पद आये हैं वे सार्थक हो सक्ते हैं, क्योंकि मम इस पद का शक्ति वृत्ति से अर्थ होता है कि मेरे को यज्ञ फल प्राप्त हो "अन्यथा" = यदि अध्वर्यु की ओर से यजमानार्थ याग फल प्राप्ति की प्रार्थना मानी जाय तो मम पद निरर्थक होता है और वेद म एक पद भी निरर्थक नहीं इसलिये लक्षणा माननी होगी इसलिये पाठ कर्ता ऋत्विक अपने लिये फल प्राप्ति की प्रार्थना करता है ऐसा मानना ठीक है ॥ २५ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं । स्वामिन इति । (स्वामिनः) उक्त मन्त्रों में यजमान के लिये यागफल प्राप्ति की प्रार्थना की गई है, क्योंकि (तदर्थत्वात्) साङ्गोपाङ्ग याग फल यजमान के लिये होता है । " यजेत " इस आत्मने पद के श्रवण से सांग

त्वात्। " दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत् " इत्यात्मने पद श्रुत्यासाङ्गप्रधान फलस्य भोक्तृत्व यजमानस्य प्रतीयते। न च परिक्रीतस्याध्वर्योर्दक्षिणातिरिक्त फल भोक्तृत्वं न्याय्यः। तस्मात् श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं ताल्लिङ्गं यजमानपरत्वेनोपचरणीयम्। 'मदीय यजमानस्य तद्वर्चोऽस्तु' इति ह्युपचारः। तस्मात् यजमानेन पाठ्येषु " आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मेदेहि " इत्यादिष्वकरण प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याजमानम्, तथैवाऽध्वर्युणा पाठ्येषुकरणमन्त्रेषु श्रुतमपि फलं याजमानमेवेति भावः॥ २६॥

प्रधान याग के फल का भोक्ता यजमान प्रतीत होता है। और परिक्रीत अध्वर्यु को दक्षिणा से भिन्न फल का भोक्तृत्व होना न्याय नहीं। इसलिये श्रुति तथा न्याय से विरुद्ध उक्त लिंग यजमान परत्वेन उपचार करना चाहिये। मेरे यजमान को उक्त फल प्राप्त हो ऐसा उपचार करना चाहिये। इसलिये यजमान के पढने योग्य " आयुर्दा " आदि अकरण प्रत्यक् आशीर्मन्त्रों में विहित फल जैसे यजमान का होता है, वैसे ही अध्वर्यु के पढने योग्य मन्त्रों में फल विहित हैं तो भी यजमान का होना चाहिये यह भाव है। स्वात्मानिफल प्रार्थना रूपामन्त्राः प्रत्यगाशीर्मन्त्राः। अपनेलिये फल प्राप्ति के प्रार्थना रूप मन्त्रों का नाम प्रत्यक् आशीर्मन्त्र है॥ २६॥

लिङ्ग दर्शनाच्च ॥ २७ ॥

उक्तार्थे लिङ्गमपि दर्शयति । लिङ्गदर्शनादिति । " यां कांचन यज्ञे ऋत्विजः आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा " इति लिङ्गदर्शनात् यजमानफलमाशासितव्यम् ॥ २७ ॥

करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मत्वम् । अधि. १४ ।

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥ २८ ॥

अत्र उक्त अर्थ में लिङ्ग भी कथन करते हैं । लिंग दर्शनादिति । (च) और (लिङ्गदर्शनात्) अध्वर्यु आदि ऋत्विज जो आशीर्वाद देवता से मांगते हैं वह यजमान का जानना चाहिये, इस वाक्य में जो ऋत्विजों की ओर से यजमान के लिये आशीर्वाद की प्रार्थना कथन किया है वह यजमान के लिये फल प्राप्ति की प्रार्थना करनी चाहिये इस उक्त अर्थ में लिङ्ग है । वांछितार्थ के आविष्कार का " नाम " आशीः तथा उसकी प्रार्थना का नाम वाद है, जिस पदार्थ की इच्छा की जाय उसको वाञ्छित तथा प्रकट करने को " आविष्कार " कहते हैं ॥ २७ ॥

अब करण मन्त्रों में कर्म अर्थ फल को ऋत्विजों का धर्म कथन करते हैं चतुर्दश अधिकरण से । कहीं करण मन्त्रों में ऋत्विजों की भी फल प्राप्ति की प्रार्थना यजमान के ओर से की गई है ऐसा सिद्धान्त से ही कहते हैं । कर्मार्थमिति । हे अग्नि देव तथा

क्वचिदृत्विजामपि फलं यजमान इच्छतीत्याह सिद्धान्त त्वेनैव । कर्मार्थमिति । अग्नाविष्णूमावामवक्रमिषं विजिहाथां मामासंतासमिति । अत्र संतापाभावरूपं तेषां फलं कर्मार्थं यजमानकर्मसिद्ध्यर्थमसंतप्तो ऽध्वर्युः कर्म कर्तुं योग्यो ऽतः स्वामिनं प्रत्यपि परम्परया ऽर्थवत्त्वात् । तस्मादृत्विजामपि क्वचित्फलम् ॥ २८ ॥

व्यपदेशाच्च ॥ २९ ॥

क्वचिद् व्यपदेशाद् निर्देशाद् ऋत्विजां फलम् । यथा

विष्णुदेव ऐसी कृता करें कि जिससे मैं अध्वर्यु (मावामवक्रमिषं) आप दोनों की आज्ञा का कदापि उल्लङ्घन न करूं (विजिहाथां) और न कदाचित् आप दोनों मेरे वियुक्त = अलग हों, आप मेरे को रोग आदि दुःखो से बचायें " तै० सं० १।१।१२।१। इस वाक्य में आरोगता रूप (तेषां) ऋत्विजों के (फलं) फल प्राप्ति की प्रार्थना की गई है वह (कर्मार्थं) यजमान कर्म की समृद्धि के लिये है क्योंकि असंतप्त हुआ अध्वर्यु कर्म करने के योग्य होता हैं " अतोऽध्वर्यु गत भी संतापाभाव (स्वामिनं) प्रति यजमान का ही परम्परा से (अर्थवत्वात्) फल है । इसलिये ऋत्विजों की भी फल प्राप्ति की प्रार्थना यजमान के ओर से क्वचित् वाक्यों में की गई है ॥ २८ ॥

(च) और (व्यपदेशात्) क्वचित् वाक्य विशेष से फल प्रार्थना

उपरवेषु यजमानाध्वर्य्यो बाहुप्रवेशवेलायां किमत्र भद्र तन्ना सहेति निर्देशादध्वर्योरपि फलम् ॥ २९ ॥

द्रव्यसंस्कारस्याङ्ग प्रधानार्थत्वम् । अधि. १५ ।
द्रव्यसंस्काराः प्रकरणाविशेषात् सर्व कर्मणाम् ॥ ३० ॥

होना ऋत्विजों के लिये पाया जाता है । जैसे ' उपरवेषु = गढों में यजमान तथा अध्वर्यु ये दोनों अपने २ दक्षिण हस्त का प्रवेश करते हैं उस काल मे किमत्र भद्रं तन्नौ सह " तै०सं० १।३।२।१ = हे अध्वर्यो अत्रोपरवेष्वस्मदुपयुक्त किमस्तीति यजमान प्रश्नः । भद्रं सोमा भिषव द्वारेण भजनीय सर्व मस्ती त्यध्वर्यु रुत्तरम् । तन्दूद्र भावयोः सह भवेदिति यजमानोक्तिः । हे अध्वर्यु (अत्र) उपरवो में अपने उपयोगी कौन फल होगा यह यजमान का प्रश्न है । (भद्रं) सोम के अभिषव द्वारा सेवनी सब फल होगा यह अध्वर्यु का उत्तर है । (तन्नोसह) वह फल हम दोनों को समान हो, यह यजमान की पुनः प्रार्थना है, इस प्रश्नोत्तर रूप मन्त्र पाठ से अध्वर्यु को भी यजमान के ओर से फल प्राप्ति की प्रार्थना पाई जाती है । २९ ।

अब द्रव्य संस्कारों को प्रकृति तथा विकृति सब कर्मों के लिए कथन करते हैं पंचदश अधिकरण से । द्रव्येति । (द्रव्यस्य) यागोपयोगी वेदि तथा बर्हि के जो (संस्काराः) संस्कार विधान किये गये हैं वह (सर्व कर्मणां) प्रकृति तथा विकृति सब कर्मों के

द्रव्येति । (द्रव्यस्य) वैद्याः बर्हिषश्च संस्काराः साङ्ग प्रधानार्थाः प्रकरणाविशेषात् । इदं पूर्वं सिद्धमपि उत्तराधिकरणोत्थित्यर्थं पुनरुक्तम् ॥ ३० ॥

अपूर्वे प्राकृतधर्माणां विकृतावसम्बन्धः । अधिः १६ ।

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्यानधिकारः । ३१ ।

ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो "योदीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते" तै० सं० ६।१।११।६ इति । तत्र·

लिए हैं क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण से उनका सत्र के साथ सम्बन्ध सामान्य से पाया जाता है । "इदं"=साङ्गप्रधानार्थत्व "पूर्वं"=गत सप्तमपाद के प्रथम अधिकरण में "सिद्धमपि" कथन किया गया है तो भी उत्तराधिकरण के उत्थिति के लिये फिर कहा गया है । ३० ।

अब प्रकृति में विहित धर्मों का विकृति में अपूर्व पदार्थों में असंबन्ध कथन करते हैं षोडश अधिकरण से । ज्योतिष्टोमयाग में जो "योदीक्षितः" आदि वाक्यों से । अग्नीषोमीय पशु नामक याग विधान किया है । उसके प्रकरण में "यूप के अवट में बर्हि बिछावे" "घृत से यूप को चोपडे" इत्यादि वाक्यों से बर्हि तथा आज्य द्वारा यूपावटास्तरण और यूपाञ्जन का विधान किया है, और उक्त याग की प्रकृति दर्शपूर्ण मास याग में बर्हि आदि के लवनादि धर्म विधान किये गये हैं उनका संबन्ध उक्त

श्रूयते “ बर्हिषायूपावटम वस्तृणाति ” श. ब्रा. ३।५।४।७ “ आज्येन यूपमनक्ति ” इत्यादि वाक्यैः बर्हिषा ऽऽ ज्येनच यूपावटास्तरणं यूपाञ्जनञ्च विहितं, यागस्यप्रकृति दर्शपूर्णमास यागे बर्हिषादेः उक्त लवनादि धर्मःविहिताः तेषांसम्बन्धाः, उक्त विकृतियागे सन्तिनवेति संशये बर्हिःशब्देन निर्देशादस्ति धर्मप्राप्तिरिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। निर्देशादिति ।निर्देशात् प्रकृतौ बर्हिषः

विकृति याग में होता है किंवा नहीं इस संशय के होने पर बर्हि शब्द से यूपावट में बर्हि विछाने का विधान किया है इसलिये बर्हि आदि के धर्मों की प्राप्ति होनी चाहिये ऐसा वाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं। निर्देशादिति। (निर्देशात्) अग्नीषोमीय पशु नामक विकृति याग की प्रकृति दर्श पूर्ण मास में “ वेदि में बर्हि बिछावे ” इस वाक्य से बर्हि का कार्यस्तरण का विधान पाये जाने से (विकृतावपूर्वस्य) प्रकृति में यूपावट के आस्तरण के साधन बर्हि के कार्यस्तरण का अभाव है इसलिये (नाधिकारः) लवनादि विधेय की उद्देश्यता यूपावटस्तरण साधन बर्हि में नहीं क्योंकि प्रकृति से बर्हि के कार्य द्वारा ही धर्मों की प्राप्ती होती है यह भाव है। अर्थात् यद्यपि उक्त विकृति याग में यूपावट का आस्तरण तथा घृत से यूप का अञ्जन विधान किया है और उसके लिये बर्हि आदि के धर्म

कार्यस्य बर्हिषा वेदिंस्तृणातीति स्तरणस्यनिर्देशाद् विकृतावपूर्वस्य प्रकृति कार्यशून्यस्य यूपावटस्तरण साधनस्य नाधिकारः नोद्देश्यत्वम् । प्रकृतितः धर्माणां स्वकार्य द्वारैव प्राप्तेरितिभावः ॥ ३१ ॥

विधृतिषत्रयोः परिभोजनीय बर्हिषा कर्तव्यत्वम् । अधि० १७ ।

विरोधेच श्रुतिविरोधादव्यक्तः शेषः ॥ ३२ ॥

भी अपेक्षित हैं क्योंकि बर्हि लवन विना स्तरण और वत्सापाकरण तथा गोदोहन आदि के बिना घृत से अञ्जन होना असम्भव है तथापि दर्शपूर्णमास याग में पशु को न होने से यूप गाढा नहीं जाता और उसके गाढे न जाने से आस्तरण तथा अञ्जन भी नहीं होता और प्रकृति याग में न होने से उक्त विकृति याग में उनका अतिदेश भी नहीं हो सकता और बर्हि आदि के कार्य आस्तरण आदि का अतिदेश न होने से तदपेक्षित लवन आदि धर्मों का अतिदेश होना भी असम्भव है । इसलिये उक्त विकृति याग में बर्हि आदि से यूपावटस्तरण आदि का विधान होने पर भी विकृति याग में विहित लवन आदि बर्हि के तथा वत्सापाकरण गोदोहन आदि आज्य के धर्मों का "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" चोदक वाक्य के अनुसार सम्बन्ध नहीं होता । अतिदेश चोदक वाक्य से प्राप्ति तथा सम्बन्ध यह तीनों और कार्य, प्रयोजन तथा फल यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं ॥ ३१ ॥

दर्शपूर्णमास योरामनन्ति, " समावप्रच्छिन्नाग्रौदर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रंकरोति । तथा," अरत्निमात्रे विधृती करोति" इति । तेऽसंस्कृत बर्हिषा कर्तव्ये संस्कृत बर्हिषा वेतिसंशये संस्कृत बर्हिषा कर्तव्ये " बर्हिर्लुनातीत्यादि विधिषु स्तरणार्थत्व विशेषा श्रवणादितिपूर्व पक्षे सिद्धान्तमाह। विरोध

अब विधृति तथा पवित्र दोनों का परिभोजनीय नामक बर्हि से बनाना कथन करते हैं सप्तदश अधिकरण से । दर्श पूर्ण मास याग के प्रकरण में " जिनका अग्र भाग छेदन नहीं किया गया और विशालता में समान हैं ऐसे प्रादेश परिमाण वाले दों २ दर्भों के दो " पवित्र बनाये " अरत्नि परिमाण के दो " विधृति " बनाये " इत्यादि वाक्यों से जो दो २ विधृति तथा पवित्र विधान किये हैं वे असंस्कृत बर्हि से बनाने चाहिये किंवा संस्कृत बर्हि से अर्थात् जिसका यथा विधि लवन नहीं हुआ ऐसी परिभोजनीय नामक बर्हि से उक्त दोनों बनाने चाहिये किंवा जो बर्हि वेदि में आस्तरण के लिये यथा विधि काटी गई है उससे इस संशय के होने पर संस्कृत बर्हि उक्त दोनों कर्तव्य हैं क्योंकि " बर्हिर्लुनाति " इत्यादि विधिवा वाक्यों में स्तरणार्थत्वरूप विशेष का अश्रवण पायाजाता है ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । विरोध इत्यादि ग्रन्थ से । विरोधे कुश के लव-

इति। (विरोधे) कुशसंस्कार संस्कृतस्य स्तरणाद न्यत्रविनियोगे निषेधे (शेषः) विधृत्यादिः (अव्यक्तः) धर्मरहितः संस्कृतस्य विधृत्यादौविनि योगे " बर्हिषा वेदिं स्तृणाती " तिस्तरणे विनियोग श्रुतिविरोधात् ॥ ३२ ॥

न रूप संस्कार से संस्कृत बर्हि का स्तरण से भिन्न में विनियोग निषेध होने पर अर्थात् उक्त विधि वाक्य से वेदिके आस्तरण में चरितार्थं हुई संस्कृत बर्हि अन्यत्र विनियुक्त नहीं हो सक्ती। (शेषः) विधृति का " आदिः = " कारण बर्हि (अव्यक्तः) धर्म = संस्कार से रहित है क्योकि (श्रुतिविरोधात्) संस्कृत बर्हि का विधृति आदि में विनियोग होने पर बर्हि बिछाये " इस वाक्य से संस्कृत बर्हि का केवल वेदि के स्तरण मे जो विनियोग विधान किया है उसका विरोध आता है। और उदाहृत वाक्यों मे भी केवल बर्हि से उनका बनाना मात्र विधान किया है, इसलिये वह परिभोजनीय नामक दर्भ विशेष से बनाने चाहिये संस्कृत से नहीं स्रुवा आदि का आधार भूत दर्भ मुष्टी विशेष रूप प्रस्तर जिन दो जुडे हुये दर्भों पर रखा जाता है उस का नाम " विधृति " तथा नखों से जिसको तोडा नहीं गया और आगे से जो काटी नहीं गई ऐसी प्रादेश मात्र = तर्जनिसहित विस्तृत अंगूठे के परिमाण दो दर्भ विशेष का अंगूठी सी बनाई जाती है उसका नाम ' पवित्र है, दर्भ, बर्हि तथा कुशा यह पर्य्याय शब्द हैं ॥ ३२ ॥

प्राकृतपुरोडाशादीनां विधानम् । अधि. १८ ।

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमान संयोगात् ॥ ३३ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, पुरोडाशस्य शकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधातीति । अयं पुरोडाशः सवनीयः स्यादन्यो वेति संशये विधृतिवत्संस्कृतादन्य इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्त-

---

अब प्राकृत पुरोडाश के शकल का ऐन्द्रवायव पात्र में रखना कथन करते हैं अष्टादश अधिकरण से। ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में " ऐन्द्रवायवग्रह के क्षण के अनन्तर अप्रक्षालित उक्त ग्रह में ही याग के उपयुक्त सवनीय पुरोडाश के खण्ड को रखे " आप० श्रौ० १२।२५।६ इस वाक्य में जो ऐन्द्रवायव नामक पात्र में पुरोडाश के एकदेश का रखना विधान किया है। यह एकदेश प्राकृत सवनीय पुरोडाश का होना चाहिये किंवा किसी अन्य पुरोडाश का अर्थात् उक्त प्रकृति याग में आहुति देने के लिये जो " सवनीय " नामक पुरोडाश बनाया गया है उसका एकदेश उक्त पात्र में रखे अथवा इसके अतिरिक्त कोई दूसरा पुरोडाश बनाकर उसका एकदेश उक्त पात्र में रखे इस संशय के होने पर " विधृति " की भांति संस्कृत पुरोडाश के खण्ड से भिन्न नूतन पुरोडाश बनाकर उसके खण्ड का ऐन्द्रवायव पात्र में प्रक्षेप रूप क्रिया कर्तव्य हैं ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने

माह। अपनय इति। सवनीयपुरोडाशस्य एकदेशस्य ऐन्द्रवायवे ऽपनयः विद्यमानस्य क्लृप्तस्य संयोगाद् विधि संयोगात्। अयं भावः पुरोडाशशकलमिति द्वितीयाश्रुत्या शेषपुरोडाशसंस्कारप्रतीते क्लृप्तस्यैवेति॥ ३३॥

काम्येष्टिषु उपांशुत्वस्य प्रधानार्थत्वम्। अधि. १९।

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत्॥ ३४॥

पर सिद्धान्त को कहते हैं। अपनय इति। (एकदेशस्य) प्राकृत सवनीय पुरोडाश के एकदेश का (तु) ही (अपनयः) ऐन्द्रवायव नामक पात्र में अपनयन होना चाहिये क्योंकि (विद्यमान संयोगात्) विद्यमान = क्लृप्त अर्थात् सिद्ध पुरोडाश का उक्त विधि वाक्य से उक्त पात्र के साथ सम्बन्ध स्पष्ट पाया जाता है। और वह तभी हो सकता है जब प्रकृति सवनीय पुरोडाश के शकल उक्त पात्र में रखना माना जाय। यह भाव है कि "पुरोडाश शकलम्" इस द्वितीय विभक्ति से शेष पुरोडाश का प्रतिपत्ति रूप संस्कार की प्रतीति होने से निश्चित पुरोडाश का ही उक्त पात्र के साथ सम्बन्ध होना चाहिये॥ ३३॥

अब काम्य इष्टियों में उपांशुत्व धर्म का प्रधनार्थत्व कथन करते हैं एकोनविंशाधिकरण से। प्रधान काम्येष्टि प्रकरण में अथर्ववेद में जो काम्येष्टियें विधान की गई है उनका अनुष्टान

अथर्वणा वै काम्या इष्टयस्ता उपांशु यष्टव्या इति। अत्रोपांशुत्वं साङ्गप्रधानस्य उत प्रधानस्यैवेति संशये पूर्व पक्षमाह। विकृताविति। शेषः विकृतो विहितौ गुणः सर्वार्थः प्रकृतिवद् दर्शपूर्णमासे वेदिवत् ॥ ३४ ॥

मुख्यार्थो वा ऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥ ३५ ॥

सिद्धान्तमाह। मुख्येति। मुख्यार्थः केवलप्रधानार्थः अङ्गस्य विकृतावचोदितत्वात्; अयं भावः वेद्यां हवींषीति

उपांशु करना चाहिये यह वाक्य पढा है, इस वाक्य में जो काम्यों के अनुष्ठान का उपांशुत्वगुण विधान किया है वह अङ्ग तथा प्रधान सब काम्येष्टियों का गुण है किंवा प्रधान काम्येष्टियों का ही अर्थात् अङ्ग तथा प्रधान भेद से काम्येष्टियें दो प्रकार की है उन सबका अनुष्ठान उपांशु होना चाहिये अथवा केवल प्रधान काम्येष्टियों का ही इस संशय के होने पर पूर्वपक्ष को कहते हैं। विकृताविति। (प्रकृतिवत्) जैसे दर्शपूर्णमास रूप प्रकृति याग में विधान की गई वेदि अङ्ग तथा प्रधान सब के लिये है वैसे ही (विकृतौ) काम्येष्टिरूप विकृति याग में (शेषः) विधान किया उपांशुत्व रूप गुण भी (सर्वार्थः) अङ्ग तथा प्रधान सब इष्टियों के लिये होना चाहिये ॥ ३४ ॥

अब सिद्धान्त को कहते हैं। मुख्येति। (मुख्यार्थः) उपांशुत्व धर्म का विधान केवल प्रधान के लिये है क्योंकि (अङ्गस्य)

हविर्मात्रमाह । अत्र ता इति सर्वनाम्ना काम्येष्टयः परामृश्यन्ते तत्सन्निधौ नाङ्गपाठः अतो नाङ्गपरामर्शः तत्रैवोपांशुत्वमिति ॥ ३५ ॥

श्येनाङ्गानां नवनीताज्यत्वम् । अधि. २० ।

सन्निधानविशेषादसंभवे तदङ्गानाम् ॥ ३६ ॥

श्येने श्रूयते, दृतिनवनीतमाज्यं भवतीति । दृतौ चर्म

अङ्ग का (अचोदितत्वात्) वह धर्म विधान नहीं किया गया । यह भाव है कि प्रकृति में " वेद्यां हवींषि " यह वाक्य यावत् हवियों का विधान करता है इसलिये वेदि अंग तथा प्रधान सब हवि के लिये है । विकृति में " ता " इस सर्वनाम से काम्येष्टिया का परामर्श होता है और उक्त सर्व के समीप में अंग इष्टियों का पाठ नहीं इसलिये अंग इष्टियों का परामर्श नहीं होता । इसलिये जिसका परामर्श होता है उसी का उपांशु अनुष्ठान होना चाहिये ॥ ३५ ॥

अब " श्येन " नामक याग के अंगभूत दीक्षणीयादि इष्टियों का धर्म नवनीताज्य को कथन करते हैं । श्येन याग के प्रकरण मे " दृत्तौ " = चर्म के पात्र विशेष में संग्रह किये नवनीत = माखन का आज्य = घृत श्येन याग में होता है यह वाक्य पढा है । इसमें जो " नवनीताज्य " कथन किया है वह प्रधान श्येन याग का धर्म है किंवा श्येनयाग का अंगभूत

पुटके निहितं नवनीतं यस्याज्यस्येति तदर्थः। अत्र प्रकरणेन प्रधानग्रहणादतिदेशेन प्राप्तं सोमद्रव्यं बाधित्वा दृतिनवनीतं विधीयत इति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह। सन्निधानेति असम्भवे दृति नवनीतत्वरूपगुणविशिष्टाज्यविधाने गौरवाद तिदेशप्राप्ताज्यानुवादेनोक्तगुणमात्रविधानस्य सिद्धौ प्रधाने

दीक्षणीयादि इष्टियों का अर्थात् उक्त आज्य से प्रधान याग करना अथवा उसका अंग याग करना इस संशय के होने पर "दृति नवनीत माज्यं भवति" इस वाक्य में प्रकरण से प्रधान श्येनयाग का ग्रहण होने के कारण अतिदेश से प्राप्त सोम द्रव्य को बाध करके दृति नवनीत का विधान किया है इसलिये उक्त आज्य से प्रधान श्येन याग करना चाहिये अंग याग नही ऐसा बाहर से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धांत को कहते हैं। सन्निधानेति। (असंभवे) श्येनयाग में दृति नवनीतत्व रूप गुण विशिष्ट आज्य का विधान मानने पर गौरव आता है अतः ज्योतिष्टोम रूप प्रकृति याग से "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस अतिदेशवाक्य द्वारा आज्य रूप द्रव्य प्राप्त है उसका अनुवाद करके उक्त गुण मात्र के विधान को सिद्ध होने पर और प्रधान श्येन याग में विधि से तथा अतिदेश से आज्य नहीं इसलिये आज्य का अनुवाद करके दृति अथवा नवनीत रूप गुण का विधान असम्भव है इसलिये (तदंगानाम्) प्रधान श्येनयाग के अंग दीक्षणीयादिइष्टियों

आज्याभावेन गुणस्यासंभवादङ्गानामाज्ये स्यात् । आज्य षदसन्निधानविशेषात् ॥ ३६ ॥

आधाने ऽपि तथेति चेत् ॥ ३७ ॥

आधानेऽपि दतिनवनीतं स्यादग्निद्वारा तदङ्गत्वादित्याशङ्कते । आधान इति ॥ ३७ ॥

नाप्रकरणत्वादङ्गस्यातन्निमित्तत्वात् ॥ ३८ ॥

के आज्य में गुण का विधान होना चाहिये क्योंकि आज्य पद का सन्निधान विशेष है ॥ ३६ ॥

आधान में भी दति नवनीताज्य धर्म होना चाहिए क्योंकि अग्निद्वारा श्येनयाग का अंग होसक्ता है इस शङ्का को कहते हैं। आधान इति । (तथा) यथा नवनीताज्यं तदंगानामङ्ग तथा आधानेऽपि अंगस्यादिति चेन्न अस्याऽग्रिमसूत्रेण सम्बन्धः ॥ (तथा) जैसे नवनीताज्य श्येनयाग के अंगों का धर्म है वैसे ही (आधाने) अग्न्याधानका (अपि) भी धर्म होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ॥ ३७ ॥

अब उक्त शंका का समाधान करते हैं। नेति ! (न) आधान तथा पवमान इष्टियों का उक्त नवनीताज्य अंग नहीं हो

दूषयति। नेति आधाने पवमानेष्ट्यां वा नोक्तमाज्यं। अप्रकरणत्वदसन्निहितत्वात् । अङ्गस्याधानपवमानयोः अतन्निमित्तत्वात् । श्येनोद्देश्यकत्वाभावात् ॥ ३८ ॥

सर्वेषामेव श्येनाङ्गानां नवनीताज्यत्वम् । अधि० २१ ।

तत्काले लिङ्गदर्शनात् ॥ ३९ ॥

इतिनवनीतं श्येनाङ्गेष्विति सिद्धं तत्रापि दीक्षणीयादियावदङ्गपुसुत्यादिनएव वेति संशये पूर्वपक्षमाह तत्काल

सक्ता क्योंकि (अप्रकरणत्वात्) श्येनयाग के सन्निधि में अग्न्याधान तथा पवमान इष्टियों का विधान नहीं है । और (अंगस्य) आधान तथा पवमान इष्टियों का (अतन्निमित्तत्वात्) श्येनयाग को उद्देश करके विधान का अभाव है । यह भाव है कि प्रकरण तथा उद्देश्य अंग के प्रयोजक हैं और वह दोनों अग्न्याधान तथा पवमान इष्टियों में नहीं, क्योंकि उक्त आधान तथा पवमान इष्टियें श्येन याग के प्रकरण में नपठित हैं और न उसके उद्देश से उक्त दानों का विधान किया गया है इसलिये श्येनयाग का अंग नहीं हो सक्ते और उक्त याग के अंग न होने से उक्त नवनीताज्य उन दोनों का धर्म नहीं ॥ ३८ ॥

अनुष्ठान काल के भेद से अंग दो प्रकार के हैं एक सुत्यादिन में होने वाले तथा दूसरे उसके अनन्तर कालान्तर में होने

इति । तत्काल सुत्याकाले । लिङ्गदर्शनात् । अनुमानसम्भवात् । तथा हि श्येनविकृतिधर्माः सुत्याकालसम्बन्धिनः सोमविकृतिविशेषधर्मत्वात् साद्यस्के सह पशूनालभेतेतिवत्॥३९

वाले, जिस दिन सोम कूटा जाता है उसका नाम सुत्यादिन। और उक्त दिनमें पुरोडाश आदि का निर्वाप होता है उनका नाम "सुत्याकालीनाऽङ्ग" तथा उसक अनन्तर कालान्तर में जो इष्टियें की जाती हैं उनका नाम दीक्षणीयादि है। पूर्वाधिकरण में जो "दतिनवनीताज्य श्येनयाग के अंगों का धर्म है ऐसा सिद्ध किया जा चुका है उसमें भी" दीक्षणीयादि यावत् अंगों का धर्म है अथवा सुत्याकालीन अंगों का ही धर्म है इस संशय के होनेपर पूर्वपक्ष को कहते हैं। तत्कालइति। (तत्काले) उक्त आज्य सुत्यादिन में होनेवाली इष्टियों का अंग है। क्योंकि (लिंगदर्शनात) अनुमान का सम्भव होने से ऐसा ही पाया जाता है। तथाहि =: देखाते हैं श्येनयाग के अंग के जो धर्म हैं वह सुत्यादिन में होनेवाली इष्टियों के सम्बन्धी होना चाहिये क्योंकि सोमांग विशेष का धर्मत्व है "साद्यस्के" श्येनयाग में "सह पशुनालभेत" इस के समान अर्थात् जैसे "सहपशुनालभेत" इस वाक्य से विधान किया गया पशुसाहित्य श्येनयाग में ही विशेष रूप से कहा गया है वह सुत्यादिन में ही होनेवाले सवनीय पशु का अंग है वैसे ही नवनीत भी है। ॥ ३९ ॥

सर्वेषां वा ऽविशेषात् ॥ ४० ॥

सिद्धान्तमाह । सर्वेषामिति । सर्वेषामविशेषाद् विशेष शास्त्राभावात् । आज्यपदस्य श्रूयमाणस्य सुत्याकालीनाज्य मिति संकोच मानाभावादिति भावः ॥ ४० ॥

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥ ४१ ॥

ननु मानत्वेन अनुमानं दर्शितमत्राह । न्यायोक्तइति ।

अब उक्त पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं । सर्वेषां इत्यादि ग्रंथ से । (सर्वेषां) उक्त ' आज्य , श्येन याग के सम्पूण अंगों का धर्म है । क्योंकि (अविशेषात्) विशेषशास्त्र नहीं पाया जाता । श्रूयमाण आज्य पद का आज्यरूप अर्थ सुत्या दिन में होने वाली इष्टियों का अंग है ऐसा संकोच में कोई प्रमाण नहीं यह भाव है ॥ ४० ॥

ननु, पूर्व पक्ष सूत्र में प्रमाण रूप से अनुमान दिखाया गया है उसका क्या समाधान इस पर कहते हैं । न्यायोक्त इति । (न्यायेन) प्रकरण सहकृत नवनीत वाक्य से (उक्ते) उक्त आज्य को सम्पूर्ण अंगों की धर्मता प्राप्त होने पर (लिङ्गदर्शनम्) उस अर्थ से विरुद्ध लिङ्ग दर्शन अप्रमाण = अकिञ्चित्कर हो जाता है यह शेष है । भाव यह कि प्रकरण तथा वाक्य दोनों मिल जाने से लिङ्ग अकिञ्चिकर तथा उसके अकिञ्चित्कर हो जाने से वाक्य द्वारा शीघ्र ही उक्त आज्य तथा सम्पूर्ण अंगों का

न्यायेन वाक्येन उक्तेऽर्थे तद्विरुद्धं लिङ्ग दर्शनमप्रमाण मिति शेषः ॥ ४१ ॥

सवनीयानां मांसमयत्वम् । अधि० २२

मांसं तु सवनीयानां चोदना विशेषात् ॥ ४२ ॥

शाक्या नामयनं षट्त्रिंशत्संवत्सरसाध्यं तत्र संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति स तत्र यान्मृगानहन्ति

परस्पर धर्म धर्मि भाव सम्बन्ध हो जाता है जिस का पुनर्बाध नहीं हो सक्ता। अप्रमाण, असमर्थ तथा कुछ न कर सकने वाला और अकिञ्चित्कर यह चारों पर्य्याय शब्द हैं। और जो स्वयं अकिञ्चित्कर है उस के सहारे उक्त आज्य को सुत्या का लीन अंगों का धर्म मानना ठीक नहीं। इसलिये उक्त आज्य श्येन याग के दीक्षणीयादि सम्पूर्ण अंगों का धर्म केवल सुत्या कालीन का ही नहीं ॥ ४१ ॥

अब सवनीय पुरोडाशों का मांस कार्यत्व कथन करते हैं द्वाविंशाधिकरण से शाक्यों का अयनछत्तीस संवत्सर साध्य होता है उक्त अयन के प्रकरण में प्रतिदिन उसदिन के कार्य को समाप्त करके गृहपति आखेट को जाकर तहां मारे हुये मृगों को लाकर उनों के मांसों से दूसरे दिन प्राप्त होने पर सवनीय पुरोडाशों को करके उक्त पुरोडाशों से याग करे" आप० श्रौ० २३। ११। १२। १३ यह वाक्य श्रुत है। सब पुरोडाशों को

तेषां तरसाः पुरोडाशाः सवनीयां भवन्तीति। अत्र सवनीयाः पुरोडशा इति विशेष्य विशेषण भावापन्नं पदद्वयमुद्देश्यवाचकम् । तयोर्विशेष्य विशेषणभावापन्नयोरुद्देश्यत्वे विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदः स्यादतो ऽन्यतरस्य वक्तव्ये केवलं सवनीयानामित्यस्योद्देश्यत्वे सवनीयाः कइत्याकाङ्क्षापरिपूर्त्यां पुरोडाशपदमुद्देश्यसमर्पकं सवनीयपदमवयुत्यानुवादरूपम्। तथा च पुरोडाश सामान्यं मांस मयमिति वहिः पूर्वपक्षे

मांसका बनाना चाहिये किंवा सवनीय पुरोडाशों को ही इस संशय के होने पर । उक्त वाक्यमें " सवनीयः पुरोडाशः यह दोनों पद विशेष्य तथा विशेषण भाव रुप सम्बन्ध विशिष्ट सवनीय पुरोडाशरूप उद्देश्य के वाचक हैं इसलिये सवनीय पुरोडाश मांस का होना चाहिये । परन्तु विशेष्य विशेषण भाव रूप सम्बन्ध विशिष्ट उक्त दोनों को उद्देश्यत्व होने पर अथवा अविशिष्ट दोनों को उद्देश्यत्व होने पर वाक्य भेद आता है अर्थात् विशेष्य विशेषण भाव में कामाचार रहता है पुरोडाश से अभिन्न सवनीय तथा सवनीय से अभिन्न पुरोडाश और सवनीय तथा पुरोडाश इन दोनों को भिन्न २ उद्देश्यत्व होनेपर वाक्य दो हो जायेंगे । इसलिये " सवनीयाः तथा पुरोडाशाः इन दोनों में से एक को उद्देश्यत्व कहना होगा केवल सवनीयों को उद्देश्यत्व होने पर सवनीयाः के " = सवनीय कौन ऐसी आकाङ्क्षा प्राप्त होती है और उसकी परिपूर्ति न होने से पुरोडाश पद उद्देश्य

सिद्धान्तमाह । मांसमिति । मांसमिति श्रुतिस्थतरसव्याख्यानम् । मांसं मृगयानीतमांसं, सवनीयानां सवनीयसंबन्धिधानाकरम्भादिसर्वेषां । सवनीयशब्दस्याक्लृप्तार्थत्वान्नोद्देश्यवाचकत्वं सम्भवतीति न शङ्क्यम् । प्रकृतौ प्रातर्यावभ्यो देवेभ्योऽनुब्रूहि ब्रह्मन्वाचं यच्छ प्रति प्रस्थातः सवनीयान्निर्वपेदित्यत्र सवनीयशब्दस्य निर्वापयोग्यवस्त्वभिधायकत्वस्य क्लृप्तत्वा दित्याह । चोदनाविशेषात् । उक्तात्वाद्

समर्पक तथा सवनीय पद अवयुत्यानुवाद रूप होना चाहिये । ऐसा होने पर पुरोडाश सामान्य मांस का कार्य होना चाहिये ऐसा बाहर से पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त को कहते हैं । मांसमिति । श्रुतिस्थ तरसपद का सूत्रमें व्याख्यान रूप मांसपद है । (मांसं) मृगया से अनीतों का मांस (सवनीयानाम्) सवनीय पुरोडाश सम्बन्धी धाना, करम्भ, परिवाप, पुरोडाश तथा अमिक्षा इन सबों के स्थान में होता है । परन्तु सवनीय शब्द का कोई अर्थ सिद्ध न होने से उद्देश्य वाचक नहीं होसक्ता ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिये । क्योंकि प्रकृतियाग के प्रकरण में प्रति प्रस्थाता सवनीयान्निर्वपति इस वाक्य में सवनीय शब्द को निर्वाप योग्य वस्तुका अभिधायकत्वसिद्ध है ऐसा कहते हैं । (चोदनाविशेषात्) उक्त वाक्यसे अर्थ सिद्ध हैं । ऐसा होने से सवनीय पद उद्देश्य वाचक है और विषय वाक्य में सान्निहित होने से पुरोडाश येही

अर्थक्लृप्तेः । तथा चोद्देश्यसमर्पकं सवनीयपदं विषयवाक्ये सन्निहितत्वाच्च पुरोडाश इत्येवावयुत्यानुवादः । धानादि स्थाने ऽपि मांसं सिद्धम् ॥ ४२ ॥

भक्तिरसन्निधावन्याय्येतिचेत् ॥ ४३ ॥

इति चेत्पश्यसि, सवनीयेषु पुरोडाश शब्दोऽनुवादो भविष्यतीति । धानादिषुपुरोडाशशब्दो न वर्तते । भक्ति-

---

अवयुत्यानुवाद है । एक देशके ग्रहण पूर्वक समुदाय के अनुवाद का नाम " अवयुत्यानुवाद " है अर्थात् जैसे एक शाखा के ग्रहण से सम्पूर्ण वृक्ष का ग्रहण हो जाता है तथा वस्त्र के एक देश का ग्रहण करने से संपूर्ण वस्त्र का ग्रहण समझा जाता है वैसे ही यहां विषय वाक्य में एक देश पुरोडाश के ग्रहण से हवियों के समुदाय का ग्रहण होता है । अतः धाना आदि सबों के स्थान में मांस सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

सवनीय पुरोडाशों का पुरोडाश शब्द अनुवादक होगा । धाना आदियों में पुरोडाश शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकी । और मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर लक्षणावृत्ति का आश्रयण करना ठीक नहीं " इतिचेत्पश्यति " यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ऐसा भाष्यकार कहते हैं । कोई तो ऐसा कहते हैं कि (असन्निधौ) गुण वृत्तिका अभिव्यञ्जक

श्चान्याय्यामुख्येसंभवति । इतिभाष्यकाराः । केचित्तु । असन्निधौ गुणवृत्त्यभिव्यञ्जकपदान्तर सन्निध्यभावे, भक्ति र्लक्षणा, अन्याय्या न योग्या । यद्यपि मुख्याऽमुख्यवृत्तिभ्यां प्रत्येकशब्दस्याऽर्थद्वयं तथापि मुख्यवृत्तिंपरित्यज्य गुणवृत्तिः तत्रैवाऽऽश्रीयते यस्य समीपेगुणवृत्त्यभि व्यञ्जक श्शब्दान्तरोऽस्ति । यथासिंहोदेवदत्तः, इत्यत्रासिंहशब्दस्य

किसी दूसरे पद का सन्निधान न होने पर (भक्तिः) लक्षणा (अन्याय्या) करना अशक्य है । यद्यपि मुख्यवृत्ति तथा अमुख्य वृत्ति से प्रत्येक पद दो अर्थ का वाचक है तथापि मुख्यवृत्ति को छोडकर गुणवृत्तिका उस शब्द में ही आश्रयण किया जाता है जिस शब्द के समीप उक्त वृत्तिका अभिव्यञ्जक शब्दांतर विद्यमानहै, जैसा कि " सिंहोदेवदत्तः " में सिंह शब्द के समीप देव दत्त शब्द देखा जाता है इसलिये लक्षणावृत्ति से सिंह शब्द की प्रवृत्ति मनुष्य में होती है । और पुरोडाश शब्द के समीप गुण वृत्ति का अभिव्यंजक कोई दूसरा पद नहीं, इसलिये धाना आदियों में पुरोडाश शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सक्ती ॥ ४३ ॥

ज्योतिष्टोम रूप प्रकृति याग में लाक्षाणिक पुरोडाश शब्द का सन्नहित धाना आदिओं में प्रयोग किया गया है । विकृति याग में भी लाक्षणिकही पुरोडाश पद का प्रयोग होना चाहिये । क्योंकि शाक्यों के अयन में पुरोडाश विधायक वाक्य

समीपेदेवदत्तशब्दो दृश्यतेऽतः सिंहशब्दस्य लक्षणा। पुरोडाशशब्दस्य समीपे नगुणवृत्यभिव्यञ्जकशब्दान्तरोभवति, अतोनधानादिषु गुणवृत्यावर्तते इत्याहुः ॥ ४३ ॥

स्यात्प्रकृतिलिङ्गत्वाद्वैराजवत् ॥ ४४ ॥

प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे धानादिष्वयं पुरोडाशशब्दो भाक्तः संनिहितेषु प्रयुक्तः। इहापि भाक्त एव प्रयोक्ष्यते। अत्रापि हि सवनीयशब्देन ते संनिहिताः। प्रकृतौ लिङ्गसमवायाच्छब्द

में भी सवनीय शब्द से उक्त सन्निहितों का ग्रहण होता है। प्रकृति याग में द्रव्य बोधक सवनीय पद के सम्बन्ध से पुरोडाश शब्द की प्रवृत्ति होती है वैसा ही विकृति याग में भी होना चाहिये। जैसाकि "छत्रिणो गच्छान्ति" आदि वाक्यों में "छत्रिण् तथा ध्वजिन् शब्दका लाक्षणिक प्रयोग सन्निहितों में होता है। और जैसे वैरूप तथा वैराज शब्दों को गान विशेष का वाचक होनेपर भी "वैरूपसामां" इत्यादि वाक्यों में प्रकृति भूतमन्त्र के बोधक साम शब्द की समीपता से वैरूप तथा वैराजशब्द "वैरूप पृष्ठ" तथा "वैराजपृष्ठ" नामक स्तोत्रों के वाचक है। इसी प्रकार यहां भी पुरोडाश शब्द भी 'सवनीयाः'

प्रवृत्तिर्विकृतावपि तथैव । यथा, छत्रिणोगच्छन्ति ध्वजिनो गच्छन्तीति । यथा, उक्थ्यो वैरूपसामा, एकविंशः षोडशी वैराजसामा, इति प्रकृतिलिङ्गेन सामशब्देन वैरूपपृष्ठो वैराजपृष्ठ इतिगम्यते । एवमिहापि सवनीयानां मांसमयतेति।

इति श्रीमज्जैमिनिसूत्रवृत्यां तृतीयस्याध्यायस्याष्टमः पादः ४४ । समाप्तश्चतृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

शब्द की समीपता से "पुरोडाश शब्द धाना आदिओं का वाचक होसक्ता है इसलिये सवनीय धाना आदिओं को मांसकार्यता सिद्ध होती है । ४४ ।

ब्रह्मचारी श्री सर्वेश्वरानन्द कृत तृतीयाध्याय के अष्टमपाद के जैमिनि सूत्रवृत्ति का अनुवाद समाप्त ॥ ३ ॥

॥ समाप्त ॥

    

संस्कृत शुद्धाशुद्ध सूची.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	११	शेपाच्चा	शेषाच्चा	६७	४	स्नो	स्तो
१६	३	कल्प प्रसुक्तिः	विकल्प	७१	७	दयेत	येदत
			प्रसक्तिः	७३	३	वत्ति	वत्तृत्ति
१८	७	....	शक्य सम्बन्धः ।	७८	२	पुनरभ्युन्नीतेषु	यह्नहींहोना
			ग्रहत्व जाति	,,	४	पुनरिति ।	पुनरिति ।
			प्रतियोगिकः ।				पुनरभ्युन्नीतेषु
			अविशिष्टम-	८६	७	अग्ना	अग्ने
			विलक्षणम् ।	८९	१	वन्द्र	वैन्द्र
			अयं भावः ।	९४	८	व	त
२०	२	त्तया	त्तथा	९५	८	यान	पान
,,	४	समार्गे	संमार्ग	१००	२	ऋ्वेदः	ऋग्वेदः
२१	२	च्छूय	च्छूय	१०१	६	चतुथ	चतुर्थ
२८	२	श्रयते	श्रूयते	१०४	६	यायात्	पायात्
,,	३	एव	एवं	११६	७	तया	तया क्रिया
३०	३	याग भावेन	यागाऽभावेन	११७	५	र्द्ध	द्ध
,,	७	पवनानेष्टि	पवमानेष्टि	,,	६	विर्द्धयोः	विरुद्धयोः
३९	५	वार्त्रघ्या	वार्त्रघ्न्या	११८	४	श्रूतिं	श्रुतिं
३८	१	तत्राक्ते	तत्रोक्त	१२०	२	हत्व	हत्य
,,	४	कोपलक्षणा	कोपलक्षणार्था	१२१	७	असू	असृ
४१	१	विशषाः	विशेषाः	१२२	२	प्मवः	प्सवः
४२	९	सस्कार	संस्कार	,,	४	शस्त्रादा	शस्त्रादौ
४६	३	हूय	ह्वय	,,	५	थः	र्थः
,,	६	दही	देही	,,	,,	ण	णे
५६	२	ग्रस्त	प्रस्त	१२६	३	ला	जा
६२	१	ख्या	ख्यया	१३०	४	सतृपण्णे	संतृण्णे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३३	४	ग्रणात्	ग्रहणात्
१४८	४	प्रवृीय	प्रवृत्ति
,,	५	वृथो	ज्यो
१९१	६	हीन	हीने
१९४	३	कर्पः	कर्पः
२१०	४	कु	क्तु
२११	५	इर्या	इय
२१२		...	...देश शब्द में शकार को प्रकार समझना
२२०	२	म	न
२२३	५	जन्म	जन्य
२३०	३	कृत्स्न	कृत्स्नस्य
२४४	६	दव	देव
२४५	२	वत्य	वृत्य
२६४	१	मुत्तरे	उत्तरे
२७३	६	अप्र	अप्रा
२७५	१	य	प
२७९	२	भ	त्र
२८०	८	न	ने
,,	,,	दशे	देशे
२८२	५	न	म
,,	,,	य	अ
२८४	३	ना	णा
२८७	४	रण	रेण
३०१	३	चोर	चारे
३१७	५-७	वेक्र	वैक्र
३२०	२	पण	पर्ण
३२२	७	वशे	विशे
३३२	६	सस्कृतेऽमा	संस्कृतेऽमौ
३३४	६	धि	धिः
३३६	५	प्रकर	प्रकरण
३३८	४	प्रिर	परि
३४०	४	कथ	कथं
३४४	५	पिश्वाय	पिधाय
३४९	१	लिङ्गं	लिङ्ग
३६७	४	मद्यो	सद्यो
३७०	२	त्यूर्ग्रै	त्यूर्वै
३७२	२	व्यर्थ	व्यर्थं
,,	८	अगा	अना
३७८	९	र्थ्यः	र्थाः
३९२	५	धान	धाने
४०२	२	माधि	मधि
,,	,,	भा	भो
४०८	६	शत	शतं
४११	३	स	सं
४१३	४	सामिधेनी हवि र्धानयोः	हविर्धानयोः,
४१४	५	अकारकं	अर्थकारकं
४१६	६	म्युत	न्युत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१८	७	त्वतः	स्त्वतः	४७६	७	ज्ञातये	ज्ञायते
४१९	४	यमा	यमो	४७९	३	क्षणा	लक्षणा
४२०	१	या	यो	४८५	३	यागस्य	उक्त यागस्य
४२१	३	प्रथममेव	पृथगेव	,,	४	उक्तलवनादि	लवनादि
४४४	३	मुपजोव्य	ऽध्वर्यु समा-	,,	,,	धर्मः	धर्माः
			ख्यामुपजीव्य	४९०	४	प्रतीते	प्रतीतेः
४५५	४	वाः	याः	४९१	१	अथर्वणा	आथर्वणा
४५९	२	ध्वर्यै	ध्वर्यैवं	,,	३	विकृतो	विकृतौ
,,	३	एता	एतां	,,	,,	विहितौ	विहितो
४६१	१	दा	दो	४९२	२	तत्रैवोपांशुत्वं	अतोयस्य
४६२	२	ऽऽ स्मेनें	ऽऽ स्मने				परामर्शः
४६४	२	अध्वरस्ति	अध्वर्युरस्ति				तत्रैवोपां
४६६	१	तेन	ते–न				शुत्वमिति
,,	८	नगृह्य	नह्य	४९५	२	अङ्क्ष	अङ्ग

हिन्दी का शुद्धि पत्र

१	९	थत्	वात्	१२	१७	शिपिष्टङ्गे	शिष्टपिङ्गे
	१०	घान	घात		,,	स्यां	स्या
१०	११	खड्कार	खड्गाकार	,,	२०	भ्य	श्च
,,	१२	टी	ट्टी	१३	१०	त्तिं	र्त्ति
,,	१३	ष्टा	ष्ठ	,,	१९	ष्टा	ष्टो
११	९	श्रूयमान	श्रूयमाण	१४	१३	ऐकर्म्यात्	ऐककर्म्यात्
१२	११	स्य	स्यै	,,	१४	कय	क्रय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५	१९	होता	होता है	६३	११	क	के
२०	२०	...	ग्रहकास		२१	तद्व	तद्देव
			म्यार्जनकरे, जिसकास	६५	५	याग	योग
			म्यार्नेनकरे वहइत्यादि		६	होताजाय	होता है
२२	१५	ग्रंह	ग्रहं		९	जागया	जायगा
२३	१०	वूर्च	पूर्वं	६६	१४	शास्त्र	शास्त्र
२४	१९		जोयूरहै उस		२०	सन्नि	प्रकृतसन्नि
			में यह वाक्य		२१	सन्नि	असन्नि
२७	१२	द्वाग	द्वारा	६७	६	उसकाका	उसका
	१७	प्रकरेण	प्रकरण	६८	८	क	के
	२१	निवीत	निवीतं		९	क	के
३०	१०	वचन	वचर		२४	विनियोग	प्रथमविनियोग
३२	१६	वाक्य	वाक्या	७८	१५	क्षभ	भक्ष
	२८	वार्तघ्न	वार्तघ्नी	७९	१९	नहा	नहीं
३६	२३	बोध	बोधक	८१	१८	पातस्य	पीतस्य
३८	१४	एत	एता	८५	१८	बाधक	बोधक
४२	२२	ताके	ताक	८८	१३	याग्य	योग्य
४३	१२	निवेचन	निवेशनः	८९	१३	क	के
	१४	अग्निके	गार्हपत्यआग्निके	,,	,,	वाद्दिआ	वादिओं
४५	१७	कसे	कैसे	९३	५	इन्द्रसेके	इन्द्रके
	२०	हाता	होता	,,	,,	उद्देश	उद्देशसे
४६	१०	यागक	यागके	१०५	२०	उद्देश्यना	उद्देश्यता
५२	९	(चाचं)	(वाचं `	११०	८	तासे	तादेखने से
५९	९	(यथार्थ)	(यथार्थे)	११२	१४	यजमान	याजमान
	१९	व्यर्थ व्यर्थ	व्यर्थ	११५	१३	तुकर्तु	तृकर्तृ
६२	९	मिन्द्राग्गि	मिन्द्राग्नी	११६	८	इसाको	इसीको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११६	१२	अखाङ्गि	अङ्गाङ्गि	,,	११	आ	अ
१२२	१४	आ	ओं	२१६	२	पक्ष	पूर्वपक्ष
,,	१३	स	से	२१७	१६	या	ना
१३०	११	घूयते	घूयन्ते	२१९	१२	का	की
१६६	११		पूषदेवताक	,,	१६	म	व
		चरुमें हीं वाक्य से पेषण		,,	१८	य	ये
		का विधान है इसलिए पूष		२२०	१८	भ	म
		देवताक याग में इत्यादि		,,	१९	नवम	वमन
१७०	१८	यनुष्य	मनुष्य	२२१	१४	(लौकिक)	(लौकिके
१७५	१७	दानों	दोनों	,,	,,	लौकिके	लौकिक
१८४	१६	दओं	देओं	२२९	८		वमनकर्ता
,,	२०	प्रणिति	प्रणाति				निर्वाप कर्ताका ऐक्य
१८८	१६	जभ्य	जञ्जभ्य				श्रुत है
,,	१८	आन	आने	२३१	१९	क्रिया	क्रियाकी
१९१	९	हाने	होने	,,	१७	परीणाम	प्रमाण के
,,	१८	अथात्	अर्थात्	२३२	१०	प्रधाण	प्रधान
२००	७	विभात्ति	विभर्त्ति	२३४	१०	कर्य	कार्य
२०१	६	पा	प	,,	१८	हविसे	हविशेषसे
२०४	१३	ण्य	ण्यं	२३५	१४	हवि	हविसे
२०५	१०	आदिके	आदिधारणके	,,	१५	स्विष्ट	स्विष्टकृत्
,,	११	दुर्वर्णोऽभ्रा	दुर्वर्णोभ्रा	२३६	१२	अमर	अपर
,,	२०	द्रव्यके	द्रव्यकाद्रव्यके	२३८	१६	संस्कृत्	सकृत्
२०६	१०	युतो	युक्तो	२५८	१८	नि	ति
,,	१३	गत्	गवत्	२५९	१८	(रेकार्थे)	(अरेकार्थे)
,,	१९	वे	वै	२६५	५	शेन	शेष
२१५	१०	का	की	२६८	१४	भद	भेद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७१	१५	हा	हो	३३३	१७	संस्करर्थ	संस्कारार्थ
२७३	१८		सोमका भक्षण	३४१	१५	इस	इस प्रकार
			होना चाहिये	३४३	१९	एसा	ऐसा
२७६	९	जय	यज	३५६	१६	थर्म	धर्म
२७७	८	भागों	लोगों	३५६	१३	अनुयादक	अनुवादक
२७८	१२	त	तृ	३५९	५	धर्मकिये	धर्मविधानकिये
२८१	१६	वस्तुति	ग्रावस्तुति	३८०	१२	तिनिधि	प्रतिनिधि
२८६	१४	कर्तव्य	कर्तृत्व	३८२	११	विषम	विषय
२८७	१२	नाभारेण	नान्तरेण	३८३	१२	कृति	प्रकृति
,,	१३	असुद्यय	अनुद्ययः	३८६	१४	उक्त	उक्थ्य
२९०	१९	पाया	पाया जाता	,,	१८	थामका	यागकी
२९१	१०	चमरू	चमस	३९०	१५	सर्वास्थ	सर्वार्थावस्थ
,,	१६	साध्वर्यु	चमसाध्वर्यु	३९४	१२	निवेशोप्र	निवेशासे
२९५	१७	संशयेन	संशयेयेन	३९६	१८	योक	योजक
,,	१८	ह्यस्वे	हयस्वे	४०७	१७	ह	है
३०२	६	होतार	होतारं	४११	१५	वेदिकके	वेदिके
३०३	६	कर्तव्य	कर्तृत्व	,,	१६	करते	करके
३०५	१३	होनेपर	निवृत्ति होनेपर	४१९	९	कृय	क्रय
३१२	८	शंत	शतं	४२०	१३	कर्मके	कर्तव्य कर्मके
	१९	कने	करने	४३८	१७	होत्रं	हौत्रं
३१३	१८	विधनि	विधान	४३९	१६	कर्ममें	कर्ममें पक्षमें
३२१	१५	पण	पर्ण	४४४	७	अन्न	अन्य
३२२	१९	सभरह	सत्रह	,,	१२	साध्वर्युओं	साध्वर्युओं को ही
३२५	१२	पूर्वपक्ष	इस पूर्वपक्ष				
३२६	१६	पवमाय	पवमान	४४६	१४	नयजेत	यजेत
३३२	१७	में व	में	,,	,,	सोम	साम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
४५१	१९	का	को	४८२	९	कृता	कृपा
४६१	१९	भोक्तृत्वको	भोक्तृत्वयजमा	४८३	८	युक्त	युक्तं
			न को	४८६	१६	विकृति	प्रकृति
४६२	१५	आयुदा	आयुर्दा	४८७	१६	बर्हि	बर्हिसे
४६५	११	स्रुग्व्यूहनका	स्रुग्व्यूहन	४८९	८	क्षण	भक्षण
,,	१७	वारे	वार	,,	९	यागके	यागमें
४६८	२१	। यजमान	। याजमान	४९०	१२	प्रकृति	प्रकृत
४७१	१६	विष्ठ	विशिष्ठ	,,	१३	शकल	शकलका
,,	१७	मैसाही	वैसाही	४९५	१५	दा	दो
४७४	१४	समाख्यावाले	क्योंकि दोनों	४९६	६	क	के
			का एक आध्वर्यव समाख्या	५००	१२	अनीतों	आनीतों
			वाले				

इस जैमिनि सूत्रवृत्तिका

चतुर्थाऽध्याय यन्त्रस्थ है



3-2